स्वामी भगवदाचार्य

(पञ्चम भाग)

प्रकाशक—

स्वामी भगवदाचार्य

राजनगर सोसायटी

अहमदाबाद ७

मूल्य ४)

मुद्रक—

बालकृष्ण शास्त्री

ज्योतिष प्रकाश प्रेस

कालभैरव मार्ग, वाराणसी।

सिंहावलोकन

पाठक महोदय,

"ईस्ट अफ्रिकामें उपदेश" यह पुस्तक प्रथम गुजरातीभाषामें प्रकाशित हुई थी; क्योंकि स्वामीश्रीभगवदाचार्यजी महाराजके प्रायः सभी प्रवचन वहाँ गुजराती में ही हुए थे। एकाध हिन्दीमें भी हुआ था। वह गुजराती आवृत्ति समाप्त भी हो गयी है और हिन्दी-भाषा-भाषी भाई-बहनोंके समक्ष इन भाषणोंको रखनेकी उत्कट इच्छा भी है। अतः आज उसका राष्ट्रभाषामें अनुवाद करनेका सौभाग्य मुझे प्राप्त हो रहा है।

गुजराती संस्करणमें कितने ही भाषण नहीं छप सके थे; क्योंकि उनका नोट उस समय तक तत्-तत् स्थानोंसे मिल नहीं सका था। आज इस आवृत्तिमें नेरोबीके प्रथम भाषणका संकलन किया जा सका है। यद्यपि पीछेसे नेरोबीमें अन्य चार भाषण विविध विषयोंपर स्वामीजी महाराजके हुए थे; परन्तु उनका संक्षिप्त रूप भी नहीं मिल सका। स्वामीजी महाराजका स्वभाव है कि किसी भाषणकी पूर्व तैयारी नहीं करते और भाषण के पश्चात् भाषणको याद नहीं रखते। अतः वे चार भाषण तो आज अप्राप्य ही हैं। भविष्यकी बात भगवान् जाने।

गुजरातीभाषामें जब यह ग्रन्थ छपा था, उसमें श्रीस्वामीजी-महाराजकी एक प्रस्तावना थी जिसका शीर्षक था "थोडे शब्द"। उसके पश्चात् एक भूमिका थी जिसके लेखक श्रीमान् मावजी भाई डी० जोषी, बी० ए० थे। आज श्री जोषीजी नहीं हैं। परन्तु मेरी इच्छा हुई

कि उनकी भूमिकाका भी अनुवाद रहना इस पुस्तकमें आवश्यक है। उससे कितनीही पूर्वपीठिकाके रूपमें पाठकोंको सामग्री मिल सकती है। अतः मै इस राष्ट्रभाषा-संस्करणमें श्रीस्वामीजीमहाराजकी और उपर्युक्त श्री जोपीजीकी प्रस्तावनाको स्थान देना उचित समझकर उन दोनोंका भी हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

विनीत

श्रीरामरक्षदास "तरुण"

जी० डी० आर्ट

ता० २२-८-६२ ई०

थोड़े शब्द

प्रिय बन्धुओ,

मैं ता० २-६-१९५० के मध्याह्नोत्तर चार बजे अहमदाबादसे ऐरोप्लेनसे उड़कर सायकाल ६ बजे बम्बई उतरा। वहाँसे ता० ७-६-'५० की रात्रिमें विमानसे ही उड़कर ८-६-'५० को साढ़े दस बजे पूर्व-अफ्रिकाकी राजधानी नैरोबीमें उतरा। वहाँका और अभीतक जहाँ-जहाँ इस देशमें भ्रमण कर सका हूं वहाँके धार्मिक और सामाजिक जीवनके सम्बन्धमे तथा ऐतिहासिक और भोगोलिक वर्णन तो पीछे लिखूँगा तब जब कि मेरी यह सम्पूर्ण यात्रा पूरी हो जायगी। अभीतक इस देशमें मैंने ५५ सभाओंमें भाषण दिये हैं। उनमेंसे कितने ही भाषण तत्काल लिखे नहीं गये। परन्तु अधिकाश भाषणोंको तो वहाँके भाई-बहनोंने सभामे ही लिख लिया था। जितने भाषण लिख लिये गये थे उनको पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी साक्षर भाई-बहनोंकी उत्कट इच्छा हुई। उनकी धारणा है कि इन भाषणोंके प्रकाशनसे साक्षर और विवेचक भाई-बहिनोको अवश्य ही विचारकी एक उन्नत और पवित्र दिशा मिलेगी।

श्रीमान् कानजीभाई मेघजीभाई यहाँ एक सज्जन प्रतिष्ठित सद्गृहस्थ हैं। वह लक्ष्मी पैदा करना भी जानते हैं और उसका सदुपयोग भी जानते हैं। वह विद्याप्रेमी, विद्वत्प्रेमी और गुणग्राही हैं। उन्होंने ७० वर्षकी अपनी पूज्य वृद्धा माताजीकी आज्ञासे इस पुस्तकके प्रकाशनका भार सहर्ष स्वीकृत कर लिया है। उनकी ही उदारतासे इस ज्ञानगङ्गाका

अवतरण हो रहा है। इसमें स्नान करनेसे जो मानसिक पवित्रता और विचारसौष्ठव प्रजाको प्राप्त होगा उसके यशके अधिकारी श्रीकानजीभाई और उनकी पूज्य माताजी ही होंगी। मैं जानता हूँ कि हमारे भाइयोंके पास एक ही गज है और उसीसे सब वस्तुओंका वे माप किया करते हैं। आशा है कि उस गजका अन्त करनेके लिये सुज्ञ विचारशील विद्वान् सहायता करेंगे।

मोम्बासा
(ईस्ट अफ्रिका)

स्वामी भगवदाचार्य
२७-९-५० ई०

भूमिका

भारतवर्षकी स्वातन्त्र्यप्राप्तिके पश्चात् पुनः प्रज्वलित अग्निके समान नये स्वरूपमें आर्यसंस्कृति समस्त जगत्के कल्याणके लिये देदीप्यमान होने लग गयी है। यह उसकी प्रगतिका एक शुभ चिह्न है। स्वतन्त्र मानसमें से ही जो मौलिक स्फुरण, विचार, वर्तन और विश्वास उत्पन्न होते हैं वे आज हमको समस्त जगत्की पृथक् पृथक् रङ्गभूमिपर दीख पड़नेवाले आर्यसंस्कारके आन्दोलन रूप ही हैं।

भारतीय तत्त्वज्ञान, संस्कृति और संस्कार केवल भारतके लिये ही नहीं प्रत्युत समस्त मानवताकी सेवाके लिये निर्मित हुए हैं। इसकी प्रतीति आज अधिकाधिक मननशील भारतको हो रही है। इतना ही नहीं, उनके प्रचारके लिये भारत अधिक उत्सुक, जागरित और उत्तरदायी अपनेको समझता है।

विशेषरूपसे, पूर्वअफ्रिकामें संस्कारप्रचारकी दृष्टिसे पूर्वकालमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों और संस्थाओंकी ओरसे अस्थायी प्रयत्न हुए हैं। परन्तु प्रायः अनेक कार्योंमें अनेक उद्देश्य नियत किये जानेके कारण उन प्रयत्नोंका परिणाम भारतीय तथा अन्य जातियोंपर स्थायीरूपमें पड़ा हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। इस दिशामें असाधारण कार्य अवशिष्ट है। स्वयं भारतीय बहन और भाई अपना संस्कृतिरूप धन यदि भारतके ही किनारे छोड आये हों तो उनमेंसे अन्य जातियोंको देनेके लिये उनके पास कुछ भी नहीं रह जाता। एवं च यह स्थिति वस्तुतः शोचनीय है।

आज जाग्रत् दशामें आर्य एवं अन्य प्रजाएँ देख सकी हैं कि भारतके पास अखूट और अपूर्व ज्ञाननिधि है। साथ ही यह भी सबको प्रतीति होने लगी है कि विश्वशान्ति, स्थिरता, सुख और संरक्षण उसीसे प्राप्य हैं।

यह शक्य है कि निकट भविष्यमें आर्यसंस्कृतिके ग्राहक उसका प्रचार व्यवस्थित रीतिसे मन, वचन और कर्मसे करें। परन्तु वह शुभ घड़ी आवे उससे पूर्व ही वैयक्तिक प्रयत्नोंसे भूमिका-सर्जन आवश्यक होनेसे उस दिशामें शक्य त्याग और पुरुषार्थ करना सबके लिए उचित है।

इस उद्देश्यसे पूज्यपाद ब्रह्मनिष्ठ स्वामी श्री भगवदाचार्यजीने मेरी बड़ी बहन पू० सन्तोष बहनकी ओरसे तथा मेरी ओरसे पूर्व अफ्रिकामें पधारनेके लिये भेजे गये सप्रेम आमन्त्रणको कृपापूर्वक स्वीकृत करके पूर्व अफ्रिकाकी यात्राका आरम्भ किया। उन्होंने यहाँ आकर जिस ज्ञानका प्रचार किया है उसके परिणामस्वरुप इस प्रथम पुस्तकको गुजराती भाषामें ही प्रकाशित किया जा रहा है।

इस प्रकाशनमें केवल जनताजनार्दनकी सेवाका ही उद्देश्य होनेसे श्रीमान् रामजीभाई मेघजीभाई तथा श्रीमान् कानजीभाई मेघजीभाईने अपनी स्वाभाविक उदारतासे इस पुस्तकके प्रकाशनका सब भार अपने ऊपर लिया है और अमूल्य ही मुमुक्षु बहनों और भाइयोंमें इसके वितरणरूप सत्पुण्यका वे पात्र बने हैं। परमकृपालु परमात्मा इन्हें ऐसे अनेक सत्कर्मोंमें प्रेरणा दे, ऐसी मेरी हार्दिक अभ्यर्थना है।

श्रीस्वामीजीकी सैकड़ों माइलोंकी यात्रामें अनेक शहर, ग्राम और यहाँके जङ्गलोंके प्रवासमें अनेक प्रश्नोत्तरोंके परिणाममें रात्रिन्दिव सतत मनन-प्रवचनके पश्चात् आवश्यकतानुसार प्रकाशित इस पुस्तकमें मानसिक विकासके लिये विविध सामग्रियाँ आपको प्राप्त होंगी। इस प्रकारके नूतन सर्जनमें विशेषरूपसे मोम्बासा, टांगा, जंजीबार तथा दारेस्सलाममें किये गये प्रवचनोंका समावेश किया गया है। उनमें ज्ञान, भक्ति और कर्मके भिन्न-भिन्न स्वरूपके आलेखमें पूज्यपाद स्वामीजीने सफल प्रयत्न किया है। जिनको जितनी रुचि और शक्ति हो उसके अनुसार इस पौष्टिक सामग्रीमेंसे ग्रहण करें। इसमें कितने तो सुगम उपदेश हैं और कितनेही दुर्गम भी हैं। शक्तिके विकाससे अधिक कठिन विचार ग्राह्य और पाच्य बनेंगे।

इन प्रवचनोंको सुगमतासे समझनेके लिये "वेदान्तका अभ्यास" और "भक्तिशास्त्र" इत्यादि पू० श्री स्वामीजीके ग्रन्थोंको पढ जानेके लिये मेरा आग्रह है। इस पुस्तकमें प्रदर्शित विचार किसी भी मत-मतान्तर अथवा सम्प्रदायके साथ सम्बद्ध न होकर स्वतन्त्ररूपसे प्रदर्शित हुए हैं; क्योंकि उनके मूलमें सत्यकी शोध ही प्रयोजन निहित है।

इस प्रकारके भाषण नूतन दिशाकी सूचना देनेके कारण पूर्व अफ्रिका-के मानवसमाजपर सुन्दर प्रभाव उत्पन्न करेंगे, यह मेरी धारणा है। मुझे विश्वास है कि इस प्रकारकी प्रवृत्तिको स्थिर बनाकर पूज्य स्वामीजी ईस्ट अफ्रिकाके भारतीय तथा अन्य समाजोंके ऊपर महान् उपकारकी परम्परा चालू रखेंगे और आर्यसंस्कृतिका इस देशके साथ सम्बन्ध अधि-काधिक दृढ़ बनावेंगे। ऐसे सेवायज्ञमें सबका सहयोग और शुभेच्छा अवश्य प्रेरणात्मक सिद्ध होगी।

मोम्बासा
(ईस्ट अफ्रिका)
ता० २७-९-१९५१ ई०

मावजीभाई डी० जोषी, बी० ए०

ॐ

परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ पण्डितराज श्रीस्वामी
भगवदाचार्यजी महाराजके

पूर्व अफ्रिकाके प्रवचन

धर्म

शताब्दियोंकी परतन्त्रताके पश्चात् आज भारत स्वतन्त्र है। आज मैं स्वतन्त्र भारतीयके रूपमें आपके समक्ष उपस्थित हूँ। मेरी सरकारने मुझे कहा है, मुझसे लिखा लिया है कि मैं ईस्ट अफ्रिकामें भाषण देने या धर्म-प्रचार करनेके लिये नहीं जा रहा हूँ प्रत्युत यहाँके कुछ भाई-बहनोंसे मिलनेके लिये एवं देश देखनेके लिये जा रहा हूँ। आप सब भारतीय भाई-बहनोंने एरोड्रोमपर मेरा स्वागत किया है। मैं इसके लिये आप सबके प्रेम और सौहार्दका ऋणी हूँ। आप सहस्रों मील दूर भारत से यहाँ आकर बसे हैं। आपको यदि आपके देशका कोई भी भाई या बहन, सन्त-महात्मा यहाँ आकर मिले तो आपके हृदयमें एक अपूर्व भाव जागरित होगा, यह स्वाभाविक है। मैं भारतीय संन्यासी हूँ। आप मुझसे कुछ सुनना चाहें; यह अत्यन्त स्वाभाविक है। आपको ज्ञात ही है कि मुझे इस प्लेटफार्म पर लानेमें आपको कितना श्रम और कष्ट करना पड़ा है। कल से ही आप श्रम कर रहे हैं। मुझे भाषण देनेकी अनुमति आप बहुत कठिनतासे प्राप्त कर सके हैं। श्रीकाका कालेलकर इस देशमें आये हुए हैं परन्तु यहाँ नहीं हैं—बाहर गये हुए हैं। यदि वह यहाँ होते तो संभव है कि थोड़े ही श्रमसे आप मुझे यहाँ इस प्लेटफार्म पर ले आते। काका साहेब साबरमती आश्रमसे मेरे परिचित हैं। जब मैं वहाँ हिन्दी, उर्दू,

फारसी और संस्कृतका अध्यापक था तब वहाँ ही वह पाठशालाके आचार्य थे। अस्तु, मै कभी भी अपनी सरकारके सामनेकी हुई प्रतिज्ञाका भंग करना नहीं चाहता था। परन्तु यहाँके भारतीय प्रतिनिधिके आफिसने ही किसी भी साधु-संन्यासीको यहाँ भाषण देनेका निषेध कराया था और उसी आफिसने स्वयं मुझे भाषण देनेकी अनुमति दी है अतः मैं समझता हूँ कि मे वचनभङ्ग नहीं कर रहा हूँ। मेरी सरकारकी मै अवहेलना भी नहीं कर रहा हूँ।

आप मुझसे धर्मके सम्बन्धमें कुछ सुनना चाहते हैं। मैं सहर्ष आपको सुनानेके लिये ही यहाँ उपस्थित हूँ। धारणाद्धर्मइत्याहुः यह हमारे शास्त्रका कथन है। जिस वस्तुको, जिस कार्यको, जिस आचार और व्यवहारको हम धारण करें वही धर्म है। इसीको बहुत स्पष्ट करनेके लिये मनुने कहा कि—

"धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥"

अर्थात् आपत्कालमे, संकटके समय धैर्य धारण करना, अपने निर्बल और सबल किसी भी अपराधीको क्षमा कर देना, इन्द्रियोंको सदा अपने वशमे रखना, कभी भी किसीकी मार्गमे पडी हुई वस्तुको न लेना, बाह्य और आन्तरिक, कायिक और मानसिक पवित्रताका रक्षण करना, मन आदि आन्तर इन्द्रियोंपर भी प्रभुत्व रखना, लौकिक और अलौकिक विषयोंमे बुद्धिका प्रवाह बढ़ाते रहना, सर्व सच्छास्त्रोंका अध्ययन करना, भूलसे भी कभी असत्य भाषण न करना, किसी भी अवस्थामे किसीपर भी क्रोध न करना, ये दश-धर्मके लक्षण हैं। इनसे ही धर्म पहचाना जाता है। अर्थात् ये दश लक्षण जिनमें हों उन स्त्री-पुरुषोंको धर्मा-धर्मात्मा कहा जाता है।

मनुने ही धर्मका एक दूसरा भी लक्षण किया है। वह यह है—

"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥"

अर्थात् श्रुति = वेद, स्मृति = धर्मशास्त्र, सदाचार, और अपने आत्माका जिससे प्रिय होता हो, श्रेय होता हो, ये चार साक्षात् धर्मके लक्षण हैं—परिचायक हैं । वेद, धर्मशास्त्र और सताम् आचारः = पूर्वजों अथवा वर्तमान सत्पुरुषोंके जो आचार हैं वह धर्मके साक्षात् परिचायक हैं। तात्पर्य यह है कि वेदोऽखिलो धर्ममूलम्के अनुसार वेद ही आर्यजातिके धर्मके मूल हैं। तदनुसारी ही शास्त्र धर्मविषयमें प्रमाण हैं। सत्पुरुषोंके जो आचार-व्यवहार हैं वे भी धर्मके परिचायक हैं। पूर्वजोंने जो और जैसा आचरण किया है वह और वैसा ही आचरण धर्म है। तीन लक्षणोंके पश्चात् चतुर्थ लक्षण बहुत ही विचित्र है। स्वस्य च प्रियमात्मनः। देश, काल, स्थितिके अनुसार धर्मकी रचना होती रहती है और होती-रहनी चाहिये । तात्पर्य यह है कि जीवनको पवित्रता और लोककल्याणकी दृष्टिसे चलाने या निभानेका ही नाम धर्म है। इन्हीं सब भावोंको सम्मुख रखकर दार्शनिक पद्धतिसे कहा गया—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः जिससे सांसारिक और पारलौकिक कल्याणकी सिद्धि हो वह धर्म है। अथातो धर्मजिज्ञासा इस मीमांसादर्शनके प्राथमिक सूत्रमें भी आया हुआ धर्मशब्द लगभग इसी प्रकारका अर्थ कहता है। यह बात उसके दूसरे ही सूत्रसे स्पष्ट होती है। जैसा कि—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। चोदना-लक्षण-शब्दके विद्वानोंने दो अर्थ किये हैं। प्रथम अर्थ है चोदनैव लक्षणं प्रमाणं यस्य और द्वितीय अर्थ है चोदना लक्षणमेव यस्य। प्रथम विग्रहका अर्थ है कि चोदनाही जिसमें प्रमाण है, वह धर्म है। द्वितीय विग्रहका अर्थ है कि लक्षण ही जिसका चोदना है। इन दोनों अर्थोंका तात्पर्य यह है कि प्रथम लक्षणार्थसे तो यह सिद्ध होता है कि चोदनाके अतिरिक्त प्रत्यक्षादिको धर्ममें प्रामाण्य नहीं है। द्वितीय लक्षणसे यह सिद्ध होता है कि चोदनाके विषयमें कभी अप्रामाण्यशङ्का

करनी ही नहीं चाहिये। चोदना शब्दका अर्थ शबर स्वामीने लिखा है—
क्रियायाः प्रवर्तकं वचनम्। जिस वचनसे क्रियामें प्रवृत्ति होती है
उस प्रवर्तक वचनको चोदना कहते हैं। श्लोकवार्त्तिकमें ऐसा ही कहा
गया है—

किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ।
तेन प्रवर्तकं वाक्यं शास्त्रेऽस्मिंश्चोदनोच्यते॥

क्या करना (साध्य), किससे करना (साधन) और किस प्रकारसे करना (इति कर्तव्यता) इन तीन अंशोंसे पूर्ण, सम्बद्धार्थक लिङादिप्रत्यय, पुरुषप्रवृत्तिमें समर्थ होते हैं। अतः प्रवर्तक वाक्य ही मीमांसाशास्त्रमें चोदना कहा जाता है। ये सब भिन्न-भिन्न शास्त्रोंक्त वचन और सिद्धान्त हैं। संक्षेपमें तात्पर्य इतना ही है कि जिस कार्यसे अपना और अन्योंका भी कल्याण हो, अथवा जिस कार्यसे अपना कल्याण हो और अन्योंको सन्ताप न हो, दुःख न हो, पीडा न हो, उसे धर्म कहते हैं। इस धर्मका पालन करना ही मानवधर्म है। यही मानवजीवनका उद्देश्य है।

भाइयो और बहनो, अन्य विधि करनेमें समय बहुत व्यतीत हुआ, धर्मोपदेशके लिये समय थोड़ा रहा। मैं यहीं ही समाप्त करूँगा। समाप्त करता हुआ मैं पुनः स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि अपने स्वार्थकी सिद्धिसे अन्योंको दुःख नहीं पहुँचाया जा सकता। तब वह अधर्म हो जायगा। मानवमात्रके साथ सद्व्यवहारपूर्वक अपने कल्याणके मार्गमें जाना ही धर्म है। इतना ही लक्षण यदि आपके मनमें स्थान बना लेगा तो अवश्य ही आपके लिये मार्गदर्शक आप स्वयं बनेंगे।

(नैरोबीमें प्रथम भाषण)

कर्मत्यागका रहस्य

कल मैंने कहा था कि जिस प्रकार अशुभकर्म अथवा असत्कर्मका त्याग किया जाता है उसी प्रकार शुभ कर्म अर्थात् सत्कर्मका भी त्याग होना चाहिये। क्योंकि शुभकर्म और अशुभकर्म दोनों कर्म बन्धनके कारण हैं। बन्धन अर्थात् जन्म और मरण। जिस प्रकार अशुभकर्मसे जन्म होता है उसी प्रकार शुभकर्मसे भी जन्म होता है। कर्मनाश जन्मका मारण है। अंतर इतनाही है कि अशुभकर्म जीवको पतनकी ओर ले जाता है और शुभकर्म उत्थानकी ओर। पतनका अर्थ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मनुष्य मृत्युके उपरान्त अशुभकर्मके परिणामसे पशु-पक्षी, कुत्ता, बिल्लीकी योनियोंमें जाता है। यह कभी नहीं हो सकता। जप, तप, दया, दान, ज्ञान, आदिसे सम्पन्न जीव एक या दस पापोंके परिणामसे कुत्ता नहीं बन सकता। उसके जो अशुभकर्म होंगे वे तो मानव योनिमें भी अशुभफल दे सकते हैं। अंधा होना, बहरा होना, दरिद्र होना, मूर्ख होना, चोर होना, जुआरी होना, झूठा होना आदि अशुभ कर्मोंके ही फल हैं। एक मनुष्य अधिकसे अधिक कौन-सा अशुभ कर्म कर सकता है उसकी कल्पना हम करें। एक क्रूर मनुष्य दस दिनके एक बालकको उसकी माँकी गोदमेंसे छीनकर उसकी हत्या करता है, पहले कान काटता है, फिर आँख फोड़ता है, फिर पेट फाड़ता है, इसके बाद अंतमें गला काट डालता है। मैं समझता हूँ कि इससे अधिक क्रूरताकी आशा मनुष्यकी ओरसे नहीं की जा सकती। इस क्रूरताका फल हम मनुष्ययोनिमें ही देख सकते हैं। एक मनुष्य दरिद्र घरमें जन्म लेता है, थोड़े समयमें वह अंधा बनता है, कुछ समय बाद उसके सभी सगे मर जाते हैं, उसके बाद उसके शरीरमें कोढ़ होता है, यह जो आपत्तियोंका पहाड़ उसके ऊपर आकर पड़ा है, इससे अधिक

आपत्ति अथवा कष्टकी हम कल्पना नहीं कर सकते। तब ऐसा क्यों न मान लिया जाय कि उसके पूर्वजन्मकी पशुके समान क्रूरताके ही यह सब फल हैं। अत एव इस विषयमें आप निडर हो जायँ, मेरी यह इच्छा है। मनुष्य मरकर पशु-पक्षी नहीं बनता, किन्तु निश्चय ही मनुष्य ही बनता है।

अब हम मुख्य विषय पर आवें। सत्कर्मके त्यागकी बातपर विचार करें। सत्कर्मसे स्वर्ग भी मिल सकता है और "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" इस सिद्धान्तके अनुसार स्वर्गप्राप्त जीव पुण्यका क्षय होने पर इसी पृथ्वीपर जन्म लेता है, और यहींसे उसका मोक्ष होता है। इससे यह समझा जा सकेगा कि सत्कर्म भी असत्कर्मकी भाँति मोक्षका साधन नहीं है। वह तो केवल स्वर्ग आदिका ही साधन है। अशुभकर्म जिस प्रकार बन्धनरूप हैं उसी प्रकार शुभकर्म भी बन्धनके ही कारण हैं। क्योंकि उनसे जन्म तो होता ही है। जन्ममरणका चिट्ठा फटता नहीं। बेड़ी लोहे की हो या सोनेकी हो, बन्धनकारक तो है ही। इसी प्रकार असत्कर्मका बन्धन हो अथवा सत्कर्मका बन्धन हो, बन्धन तो दोनों ही हैं। अत एव सत्कर्मका भी त्याग करना वेदान्तमतमें आवश्यक है।

आपलोगों को यह नयी वस्तु सुनकर आश्चर्य होगा कि असत्कर्म—पापकर्मका त्याग तो हो सकता है और होना चाहिये, पर सत्कर्मके त्यागका औचित्य किस प्रकार माना या मनाया जा सकता है। अब हम इसीका विचार करें। पहले यह जान लेना चाहिये कि शुभकर्म और अशुभकर्म का कोई विशिष्ट लक्षण नहीं है। अमुक कर्मको ही शुभ और अमुक कर्मको ही अशुभ कहा जाय, माना जाय ऐसा कोई प्रबल नियम नहीं हो सकता। जो क्रिया कल शुभ मानी जाती थी वही आज अशुभ मानी जाती है। आज जो शुभ मानी जाती है वह कल अशुभरूप हो सकती है। समाज जिस कार्यको शुभ माने वह कार्य उस समाजके नियमको माननेवालेके लिये शुभ है—धर्म है। और वह

समाज जिसे अशुभ मानले वह कार्य उस समाजके अनुयायीके लिये अशुभ है—अधर्म है। पूर्व युगमें गोमेध या अश्वमेध सत्कर्ममें गिना जाता था। आज वह असत्कर्ममें ही गिना जाता है। हिमालयके गढ़वाल जिलेमें ब्राह्मणी विधवाको पुनर्विवाह (पुनर्लग्न) करने में कोई बाधा नहीं है, निन्दा नहीं है, अनाचार नहीं है। वहां सामान्य नियम है कि कोई ब्राह्मणी विधवा हो जाय तो वह भी अन्य वर्गोंकी विधवाओं की भांति पुनर्लग्न कर सकती है। न करे तो यह उसकी इच्छाकी बात है। करे तो वह अनाचार अथवा दुराचार नहीं गिना जाता। वह उस प्रदेशका एक नियम है। इसके अनुसार में वहां दोष नहीं माना जाता। किन्तु उत्तरप्रान्त, बिहार, बंगाल, गुजरात आदि प्रदेशों में विधवाब्राह्मणी लग्न करे तो वह अयोग्य और असत्कर्म गिना जाता है; क्योंकि वहांके समाजोंने ऐसा कोई नियम नहीं बनाया है कि जिसका आश्रय लेकर कोई ब्राह्मणी, कोई क्षत्रिया, या कोई वैश्या पुनर्विवाह कर सके। इसलिये समाजका नियम ही धर्म है, उसका उल्लङ्घन असत्कर्म कहा जाता है। अब हम सत्कर्मके त्यागका विचार करें, आप लोगोंको तो सत्कर्मके त्यागकी बात आश्चर्यमें ही डालेगी। मनुमहाराजने भी मनुस्मृतिमें कहा है—

वेदाभ्यासः तपो दानं इन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥

वेदका अभ्यास, उसका पठन-पाठन और वेदकी आज्ञाके अनुकूल आचरण।

ऋतंतपः, सत्यंतपः आदि वचनोंके प्रमाणसे ऋत और सत्य तप कहलाते हैं। ऋत अर्थात् परम सत्य। परम सत्य अर्थात् परमात्मा। उसकी प्राप्तिके लिये उपाय भी ऋत कहे जाते हैं। सामान्य व्यवहारमें प्रामाणिकता सत्य कही जाती है। उपवासादि भी तपमें ही गिने जाते हैं।

सत्पात्रोंको दान, इन्द्रियोंका दमन, अहिंसा, गुरुसेवा यह सभी कल्याणके साधन हैं। किसी जीवका वंधन करना ही अहिंसा नहीं परन्तु मानसिक और वाचिक हिंसाका भी निरोध अहिंसा ही है। यदि ऐसी वाणी वोली जाय कि जिससे किसीका अपमान हो, हृदयको आघात लगे, दुःख हो, रोने लगे, तो वाचिक हिंसा है। अहिंसा पालन करने वालेको ऐसी वाणीका त्याग करना चाहिये। एक मनुष्य मनसे विचार करता है कि अमुककी हिंसा करना है, अमुकका घर जला डालना है, अमुकको विष देना है, अपने इन विचारोंके अनुसार वह वर्ताव कर सकता है या नहीं यह अलग वस्तु है। किन्तु उस बुरे विचारसे होनेवाला पाप तो उसे लगेगा ही। ऐसे हीन विचार करनेसे जो मनमे मलिनता उत्पन्न होती है वही पाप है। प्रायः सभी क्रियाओंके दो फल होते हैं; एक फल कर्त्ताके भागमें जाता है, दूसरा जिसके लिये क्रिया की जाती है, उसके भागमें जाता है। यदि 'क', 'ख' को मारने का विचार करे तो कर्त्ता होनेके कारण 'क' का मन मलिन होगा ही, मानसिक दोष होगा ही, क्योंकि जबतक 'क' की वृत्ति कठिन, कठोर, निर्दय, घातक न वन जाय तबतक वह हिंसा जैसा क्रूर कर्म नहीं कर सकता। प्रथम उसे मनसे उस कर्मकी विधि—पद्धतिका विचार करना पडता है। ये विचार ही उसे क्रूर, कठोर, अथवा निर्दय बना देते हैं। वह 'क', 'ख' को मार डाले या नहीं, यह तो दूसरी बात है। पर मारनेके पूर्व उसका मन अत्यन्त मलिन बना, उसकी वृत्तियाँ क्रूर बनीं, यह उसके लिये बड़ा पाप और भारी हिंसा है। इसलिए मानसिक हिंसाका त्याग भी अहिंसा कही जाती है। गुरुसेवाका अर्थ गुरुके चरणोंमे धन चढ़ाना नहीं है। यह भी गुरुसेवा तो कही जाती है किन्तु गुरुकी पवित्र आज्ञाका पालन कर आचार-विचारोंको पवित्र बनाना ही यथार्थ और सच्ची गुरुसेवा है। सच्चा गुरु धनकी आशा आपसे नहीं करेगा। उसकी दृष्टिमें तो उसकी आज्ञाका प्रामाणिक रूपसे आप पालन करें, उसके सदुपदेशोंका सदा अनुसरण करे यही सच्ची सेवा है। इस प्रकारसे मनु

सत्कर्मको मोक्षका साधन बताते हैं। गीतामें भी भगवान् कृष्णने कहा है—

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञका, दानका, तपका, त्याग नहीं, किन्तु नित्य अनुष्ठान करना चाहिये। क्योंकि ये तीनों विद्वानोंको भी पवित्र करनेवाले आचरण हैं। वेद भी कहते हैं—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।

कर्म करते-करते ही सौवर्ष तक जीनेकी इच्छा मनुष्यको करना चाहिये। तब सत्-कर्मके त्यागका अवसर किस प्रकार प्राप्त हो? यह प्रश्न आप लोगोंको भारी उलझनमें डालेगा। सुनिये, मनुने मनुस्मृतिके अंतिम अध्यायमें कहा है कि कर्म दो प्रकार के होते हैं, एक प्रवृत्त कर्म, दूसरा निवृत्त कर्म—

इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते।
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥

इस लोककी किसी भी वस्तुकी इच्छा रखकर अथवा परलोक की—स्वर्गादि की इच्छा रखकर जो कर्म किये जाते हैं वे प्रवृत्त कर्म कहे जाते हैं। और ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद विवेकपूर्वक किसी फलकी इच्छाके बिना ही जो कर्म किये जाते हैं वे निवृत्त कर्म कहलाते हैं। वेदान्त जिस कर्म या सत्कर्मके त्यागका उपदेश करता है वह तो इसी प्रकारके प्रवृत्तरूप सत्कर्मों का ही। निवृत्त रूप सत्कर्मोंके त्यागका उपदेश नहीं करता। क्योंकि वह अशक्य है। जब तक जीव एक देहका आश्रय लेकर रहता है तबतक 'न जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' वह कर्म किये बिना कभी रह नहीं सकता। अतः जो वस्तु अशक्य हो उसका उपदेश वेदान्त कभी कर ही नहीं सकता। केवल प्रवृत्त कर्मका ही त्याग करनेको कहता है। यज्ञ, दान, तप ये सभी प्रवृत्तकर्म तभी

बनते हैं, जब अपनी अमुक इच्छाकी तृप्तिके लिये किये जाते हैं। वे ही कर्म तब निवृत्तकर्म बन जाते हैं जब वे भगवत्संतोषार्थ अथवा परोपकारार्थ किये जाते हैं। किंच, उस समय यज्ञका अर्थ भी बदल जाता है। बिना स्वाहा स्वाहा किये ॐकारादिका जप करना और शान्ति प्राप्त करना यही उस समय यज्ञ हो जाता है। अतएव ऐसे कर्मोंके त्यागका उपदेश वेदान्त नहीं करता।

यहाँ इतनाही ध्यानमें रखना है कि आपके लिये कोई भी सत्कर्म त्याज्य नहीं है, आपकी परिस्थिति अभी ऐसी नहीं है कि आप कर्म या कर्मफलका शुद्ध रीतिसे त्याग कर सकें। जब ऐसी स्थितिमें आप आजायेंगे तब त्यागके लिए उपदेश करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। केंचुलके त्याग करनेका सर्पको कोई उपदेश नहीं करता। उस समय तो आपको कोई कर्म या कर्मफल का त्याग न करने के लिये कहेगा तो भी आप इसका त्याग किये बिना नहीं रह सकेंगे। आज इतना ही।

१६–६–'५० को मोम्बासा में किया गया प्रवचन।

भक्ति

अनन्तकालसे संसार दुखोंकी ज्वालामें सुलग रहा है। वह हाहाकार, वह दुःख, वह पीडा और वह मानसिक वेदना आज भी वैसीकी वैसी बनी हुई है। अनन्तकालसे जो आर्त्तनाद, जो वेदना चली आरही है वह आज अधिक प्रमाणमें स्थिर है। उस वेदनामें से छुटकारा पानेके लिये शास्त्रोंने—शास्त्रकारोंने दो मार्ग बताये हैं, एक ज्ञानमार्ग, दूसरा भक्तिमार्ग। एक तीसरा कर्ममार्ग भी है, पर उसके सम्बन्धमें मै आज कुछ नहीं कहूँगा। ज्ञानमार्गके सम्बन्धमें संक्षेपमें मैंने दो दिनों तक बहुत कहा है। वेदान्तका मार्ग जीवनकी अन्तिम वस्तु होना चाहिए। उसे आज ही कोई अनुसरण करना चाहे तो सफलता नहीं ही मिलेगी। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह श्रुति और 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह श्रुति आज आप लोग अपने आचरणमें ले आवें ऐसा असम्भव है। जो मनुष्य सारे दिन अपने

भाइयोंको धोखा देनेके प्रपञ्चमें पड़ा हो, असत्य व्यवहारमें ही डूबा हो, सुख, दुःख, काम, क्रोध आदिकी ममतासे भरा हो, वह अपनेको ब्रह्म किस प्रकार समझे या समझा सके ? ब्रह्म तो निर्विकार, निष्कल, निश्चेष्ट, कूटस्थ वस्तु है। जीव किस प्रकार ऊपर कही हुई स्थितिमें रहकर ब्रह्मभावको पा सकता है ? इसी प्रकार, यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है ऐसा कहनेसे अभेदवाद आ जाता है। अभेद अर्थात् अपने स्वरूपके सिवा दूसरी किसी सांसारिक वस्तुका भान न होना। अभेदवादीको घट या पट विदित ही नहीं होता। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, सगे कुछ नहीं प्रतीत होते। अभेद अर्थात् केवल स्वरूप ज्ञान। गृहस्थाश्रममें रहकर कोई भी इस स्थितिको भोग नहीं सकता। उसको तो जगत्के सभी व्यवहार निभाने पड़ते हैं। उसके सिरपर अनेक उत्तरदायित्व होते हैं। माता-पिताकी सेवा करना भी कर्त्तव्य होता है। बालकोंकी शिक्षा और रक्षा भी करनी पड़ती है। सृष्टि-वृद्धि भी करनी पड़ती है। तब वह अभेद किस प्रकार देख सकता है ? इससे यह अभेदवाद संसारके सच्चे त्यागीके लिए ही है, दूसरेके लिए नहीं।

यह अभेदवाद ही ब्रह्ममार्ग कहलाता है। ब्रह्ममार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग। इस मार्गमें आनेके लिये शास्त्रोंने थोड़ी व्यवस्था की है। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षा ये चार साधन हैं। जिनकी परिपूर्णताके पश्चात् ही ज्ञानमार्गकी ओर दृष्टिपात किया जा सकता है। साधनचतुष्टय जबतक प्राप्त न किया गया हो तबतक वेदान्तके अटपट मार्गमें पैर रखनेका काम भयङ्कर कहलायेगा। विवेक अर्थात् आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। सभी पदार्थ अनित्य हैं। अनित्य पदार्थोंको कठिन परिश्रम करके प्राप्त किया जाय तो भी वे आपके पास सदा नहीं रहेंगे। इसलिये उनका त्याग करके नित्यवस्तु आत्माकी प्राप्तिके लिये ही सोद्योग होना चाहिये। ऐसे विचार और निश्चयको विवेक कहते हैं। इसीके परिणामसे मनुष्यमें वैराग्यका उदय हो सकता है। वैराग्य अर्थात् इस जगत्की अथवा स्वर्गादिके किसी भी सुखकी इच्छा न होना। इसी

वैराग्यके निमित्त ही मनुष्य, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान इन छः सम्पत्तियोंकी प्राप्तिके लिये प्रेरित होता है। इन सम्पत्तियोंके विना जीव दरिद्र ही बना रहता है। ब्रह्ममार्गका वह अधिकारी नहीं ही हो सकता है। मुमुक्षा अर्थात् मोक्षकी इच्छा। आज किसीको भी मोक्षकी इच्छा नहीं है। उसकी भूख नहीं जगी है। सभीको लक्ष्मीकी ही इच्छा है। पुत्र कलत्रकी ही भूख है। सासारिक मान, प्रतिष्ठा प्राप्त करनेकी ही इच्छा है। इन चार साधनोंके अभावमे कोई किस प्रकार इस मार्गमें निर्भय होकर भ्रमण कर सकता है! यह मार्ग अति कठिन है, धोखेमे नहीं आइयेगा। अतएव गृहस्थाश्रमके कल्याणका भी कोई मार्ग तो विचारना ही चाहिये। सामान्य रीतिसे ऐसा कहने और माननेमें आता है कि भक्तिमार्ग ही गृहस्थाश्रमका उद्धारक है। लोग ऐसा मानते हैं कि भक्ति कोई सीधी और सरल सड़क है जिसके ऊपर आँख मीचकर भी चला जा सकता है और वह सड़क साकेतलोकमे, गोलोकमें, शिवलोकमें जाकर समाप्त होती है। यह सब मिथ्या भावनायें, असत्य धारणायें मनुष्यको हैरान कर रही हैं। आपके आँगनमें नित्य आनेवाले उपदेशक भी आपको यही बात सिखलाते हैं। इसी प्रकारसे समझाकर, भ्रममे डालकर, पैसा पुजाकर चले जाते हैं। आप जितना जिस प्रकार समझते हैं, उससे थोड़ा सा भी अधिक आपके उपदेशक आपको नहीं बता सके हैं, थोड़ा सा भी आपको आगे नहीं बढ़ा सके हैं। वे लोग आपसे अधिक जानते हैं या नहीं यह तो मैं नहीं जानता, किन्तु इतना मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि वे आपके ज्ञानमें थोड़ी भी वृद्धि नहीं कर सके हैं। आपके अज्ञानको, आपके भ्रमको, आपके मोहको, वे लोग अवश्य बढ़ा गये हैं, यह दुर्भाग्यकी बात है कि जो आपको उपदेश करने आते हैं वे आपके आगे अति प्रसिद्ध नवधाभक्तिकी ही बातें कर, जैसे-तैसे निरर्थक दृष्टान्तोंको आपके आगे रखकर एक घंटा पूरा करके चले जाते हैं, इसीका नाम उपदेश और धर्म-प्रचार रक्खा गया है। अब नवधा भक्ति की परीक्षा करें—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्य आत्मनिवेदनम् ॥

विष्णुका अर्चन, विष्णुका कीर्तन, विष्णुका स्मरण, विष्णुकी चरण सेवा, विष्णुकी पूजा, विष्णुको प्रणाम करना, विष्णुका दास बनकर रहना, विष्णुका सखा बनकर रहना और उनको आत्मनिवेदन करना, यह नव प्रकारकी भक्ति है। इन नवोंका पृथक्-पृथक् सामर्थ्य है। अर्थात् ये नवों मिलकर भक्ति नहीं किन्तु अलग-अलग भक्ति हैं। श्रवगसे भी मोक्ष मिले, कीर्तनसे भी मोक्ष मिले, स्मरणसे भी मोक्ष मिले, चरणसेवासे भी मोक्ष मिले, पूजासे भी मोक्ष मिले, वन्दनसे भी मोक्ष मिले, दासभावसे और सखिभावसे भी मोक्ष मिले, इसी प्रकार आत्मसमर्पण करनेसे भी मोक्ष मिले। यह है भागवतकी नवधा = नव प्रकारकी भक्ति। सत्य बात जो आप सुनने को तैयार हों तो, आपको सुनाऊँ "चेते तो चेताउं तने रे, पामर प्राणी" के सदृश बात है। इन नवमेंसे अन्तिम भक्ति आत्मनिवेदनको अलग कर दें तो शेष आठ भक्तियाँ भक्ति ही नहीं है, इसलिये मोक्षका साधन भी नहीं। इन सबोंको भक्ति माननेवाले और भक्ति मनानेवाले ही भक्तिको बाजारकी वस्तु बना जाते हैं। हमलोग थोड़ा विचार करें। विष्णुका श्रवण अर्थात् उनकी कथाका श्रवण, उनकी एक कथाको अपने लें—

वृन्दा एक सती स्त्री थी। उसका पति बहुत ही बलवान् था। देवताओंके साथ उसकी नहीं बनती थी। दोनों लड़ा करते थे। वृन्दाका पति ही सदा, अकेला होने पर भी विजयी होता और तेतीस करोड़ देवता उससे पराजित होते थे। विष्णुको लगा कि वृन्दा सती है, पतिव्रता है। उसके पातिव्रत्यको भङ्ग करो। इससे उसका पति पराजित होगा। विष्णुने वृन्दाके पतिका रूप धारणकर उसके सतीत्वको नष्ट कर डाला। यह है विष्णुकी पवित्र कथा, इस कथाकी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये एक मूर्ख पंडित लिखता है कि विष्णुने परोपकारके लिए वृन्दाके साथ कुकर्म किया। जो विष्णु स्वयं कुकर्मी बने बिना और दूसरेको कुकर्मी बनाये बिना किसीका उपकार कर ही न सकता हो ऐसे निर्वीर्यका आश्रय

लेना केवल मूर्खता है। यदि वह सर्वशक्तिमान् होता तो इस अधर्मको किये बिना ही अपनी शक्तिसे उसके पतिका संहार कर डालता। इस कथाके सुननेसे मनुष्यको किस प्रकारका लाभ होनेको है? ऐसी-ऐसी तो अनेक निर्लज्ज कथाएँ विष्णुके साथ जुडी हुई हैं। ऐसे विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन सभी व्यर्थ हैं। अतः यह भक्ति नहीं पर भक्तिका संहार करनेवाला महान् अस्त्र है। इससे दूर रहना। **यद्-यद् आचरति श्रेष्ठः तत्-तद् एव इतरो जनः** कृष्णके इस वचनको मानकर आप भी यदि इस पाप मार्गमे प्रयाण करेंगे तो नरकमें भी आपको कोई घुसने नहीं देगा। यदि कोई कहे कि ऐसी कथाएँ न सुने और अच्छी कथाएँ सुनें तो वह क्यों न भक्ति कही जाय? मैं कहता हूँ कि आप ऐसी कथा क्यों नहीं सुनें? वह तो सुनानेके लिये ही लिखी गई हैं, तो उसे बाँचनेवाले क्यों न सुनाएँ? यदि न सुनानेका धंधा ठीक तरह से चला होता तो यह कथा किसीके कानमें गयी ही न होती और इसका समाधान करनेके लिये कोई ललचाया न होता। मोहिनी की कथा भी ऐसी ही है। समुद्र मन्थनके पश्चात् निकले हुए अमृतघटकी कथा भी ऐसी ही है। दूसरी बहुतसी कथाएँ भी ऐसी ही हैं। ऐसी सभी कथाओंको सुननेसे किस प्रकारकी भक्ति श्रोताको मिलती है यह तो श्रोता ही जाने, द्रष्टा तो इतना ही जानता है कि ऐसी कथा सुननेवाला कभी पवित्र नहीं हो सका है, हो भी नहीं सकता। जिसके आचारमे व्यभिचार, छल, कपट भी सदाचार गिना जाता हो उसका श्रवण, कीर्तन पाप ही होगा, धर्म तो नहीं ही है। यदि उसकीं ही भक्ति करेंगे तो नाशके सिवा कुछ भी हाथ नहीं लगेगा। इस प्रकारकी भक्तिका पाठ पढाने वाले भजनीक, कीर्तनकार, भगत, उपदेशक स्वय भ्रान्त बने हैं और श्रोताओंको भी भ्रान्त बनाते हैं। ऐसी ही बातें सिखाकर भगत लोग रात्रिके बारह-बारह बजे तक, कभी-कभी तो दो-दो बजे तक भगतानी बहनोंको अपने पास रोककर उन्हें कुमार्गमें खींच ले जाते हैं। बहनोंको

रातमें घरसे बाहर रोकनेमें अनीति और अनाचार तथा गृहक्लेशके सिवा कुछ भी किसीके देखनेमें नहीं आया। संध्या के पश्चात् तो वे घर ही में रहें और कौटुम्बिक कार्योंमें लगी रहें, पतिकी सेवामें तत्पर रहें यही उत्तम है, यही उनका भजन है। भजनसे भगवान न मिलता है न मिलेगा। भजन तो वेश्यायें भी गाती हैं, वे भी यदि भगत कोटिमें गिनी जावें, उन्हें भी मुक्ति मिले, तब तो जगत्में से भगवानका दिवाला ही निकले। अब तत्त्व सुनें और विचार करें। आप किसी ऐसे पवित्र मनुष्यको खोजलें जो आपसे अधिक पवित्र आचार-विचार वाला हो, वह भाई हो या बहन हो, पुरुष हो या स्त्री हो; उसकी कथा सुनें, उसका कीर्तन करें, उसकी सेवा-पूजा करें तो आपको बहुत लाभ होगा, उसीको आप ईश्वर मानलें। विष्णुको यदि ईश्वर मानते हों तो उसे क्यों नहीं? किसीने न ईश्वर देखा है और न विष्णुको देखा है। अदृष्टको ईश्वर मानें इससे तो दृष्टको ईश्वर माननेमें आप अधिक न्यायी गिने जायेंगे। ऐसे ही पवित्र आत्माको आत्मसमर्पण करें, आपका उद्धार हो जायगा। प्रश्नोपनिषद्में ऋषिगण पिप्पलाद ऋषिके पाससे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके बोल उठे कि 'त्वंहि नः पिता यः अस्माकं अविद्यायाः परं पारं तारयसि' आप ही हमारे रक्षक हैं कि जो आप हमको अविद्यासे दूर ले गये हैं। आप भी ऐसे ही गुरुकी खोज करें। वही ईश्वरके कामको पूरा करेगा। आपको यदि मनुष्य पसंद न हो तो कोई ऐसे देवकी ही कल्पना करें और उसकी कथाओंकी भी ऐसी ही कल्पना करें, जो पवित्रताके अतिरिक्त आपके मनमें और मस्तिष्कमें दूसरी कोई वस्तु न भर सके। जो ऐसा कहेगा कि हमको ऐसी कथाओंसे भी पवित्रता प्राप्त होती है तो उसको सारा संसार दम्भी और दुराचारी ही मानेगा। जो आप साकेतवासी श्रीरामकी उपासना कर सकें तो आपके लिये यह कल्याणकी बात होगी। किन्तु उसके अनुकूल कथाएँ आप स्वयं रचें। देखें, वह परब्रह्म कहा जाता है। वह अजन्मा, अजर, अमर कहा जाता है। वह शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त कहा जाता है। अखिलहेय-प्रत्यनीक (त्याज्यमात्रका विरोधी)

कहा जाता है। उसके गुण और स्वभावका अनुसरण करके आप कथा रचें, सुने, सुनावें तो अवश्य ही कल्याणका उदय हो। भक्तिकी किंचित् झाँकी मिले। किसीका भी श्रवण, कीर्तन भक्ति नहीं है। भक्तिका साधन है। यदि समझकर श्रवण करेंगे, समझकर चिंतन करेंगे और अन्तमे अपने जीवनमें, उसमें रहे हुए सद्गुणोंको उतारेंगे तो अवश्य आप पवित्र बनेगे। वैसा ही बन जाइयेगा। "जानत तुमहि तुमहिं होइ जाई", "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति" ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म बनता है। किस प्रकार वह ब्रह्म बनता है यह किसी दिन फिर समझाऊँगा, इन कही जाने वाली नवधाभक्तियोमें से एक आत्मनिवेदन भी है। आत्मनिवेदन अर्थात् मन और बुद्धिको सदाके लिये ईश्वरको अर्पण करना। भगवानकी आज्ञा जिस प्रकारकी हो उससे कभी भी विरुद्ध आचरण न करना इसे आत्मनिवेदन कहते हैं। भगवानकी आज्ञा वेदोंमें है, भगवान अर्थात् ईश्वर। ईश्वरकी वाणी केवल वेद है। वेद ही हिन्दूजातिके धर्मग्रन्थ हैं। वेदोंकी आज्ञा ही ईश्वरीय आज्ञा है। दूसरे शास्त्रोको गौण मानना चाहिये। सभीको वेदकी श्रेणिमें नहीं रक्खा जासकता। किन्तु आज तो किसी को वेद आता नहीं, समझ भी नही पडता, इसलिये पुराणोंकी कथाओंको ले बैठनेके लिये सभी लाचार हैं, उसीके अनुकूल जीनेके लिये, जिलानेके लिये आज प्रयत्न हो रहे हैं। और इसीसे आपको भक्ति समझ नहीं पड़ती। आपको समझ लेना चाहिये कि श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्ति नहीं है, वह यदि विचारपूर्वक साधन किये जायें तो भक्तिके साधन हो सकते हैं। किन्तु उस श्रवण या कीर्त्तनमे ऐसी एक भी बात न होना चाहिये कि जो आपको उलटे मार्ग पर ले जाय। सच्ची भक्ति तो यह है कि आप अपनी वाणीको सत्यमय बनायें, अपने मनको सचाईसे भरें, और अपने दैनिक आचार-विचारको सत्यके अनुकूल बनावें। जो आप इतना करेंगे तो आपके कल्याणको रोकनेमे कोई देव-दानव समर्थ नहीं है। पर यदि आप इतना नहीं कर सकेंगे तो आप अपने

लिये अनन्त शान्ति अर्थात् मोक्षकी आशा रखें ही नहीं। कोई भी देव, महादेव आपको मुक्ति देने-दिलानेमें समर्थ नहीं हो सकते। मुक्ति लाचखूंसकी बात नहीं है, वह तो सत्य और सदाचारमें प्रकट होनेवाला परमार्थ तत्त्व है।

१०-६-'५० को मुम्बामामें दिया गया प्रवचन।

भक्ति (२)

कल नवधाभक्तिका वर्णन हुआ था। आठ भक्ति तकका विशद वर्णन आपने सुना है। अन्तिम भक्ति जो कि वस्तुतः भक्ति ही है उसके सम्बन्धमें हम सब थोड़ा अधिक विचार करें। जिसे हम सब भगवान् माना करते हैं वह राम हो या कृष्ण हो या शंकर हो या कोई देवी हो या कोई मनुष्य हो, जिसके लिये अपने हृदयमें सम्पूर्ण श्रद्धा हो उसके चरणोंमें आत्मनिवेदन करना यह अन्तिम भक्ति है। आत्मनिवेदनका अर्थ कल समझा चुका हूँ कि मन और बुद्धिके साथ-साथ हृदयको भी अपने उपास्यदेवके चरणोंमें अर्पण कर देना इसका ही नाम आत्म-निवेदन है। व्यासजी भक्तिको नव भेदोंमें विभक्त कर डालते हैं। यह ठीक नहीं। भक्ति मोक्षका साधन है। मोक्षका कारण है। घड़ेमें मट्टी, कुम्हार, चाक, दण्ड आदि अनेक कारण होते हैं, पर मुख्य कारण तो दो कपालों का संयोग ही है। जो कारण कार्यसे अव्यवहित पूर्व हो वही मुख्य कारण कहा जाता है। इससे कारण एक ही होता, है अनेक नहीं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे ज्ञानको कारण मानें, चाहे भक्तिको मानें, चाहें निर्मल प्रेमको कारण मानें, पर वह एक ही होना चाहिये। ज्ञानमें कोई प्रकार नहीं है, अतएव भक्तिमें भी कोई प्रकार नहीं होना चाहिये। वह तो एक ही अखण्ड चाहिये। जिस प्रकार मुक्तिका कारण ब्रह्मज्ञान अखण्ड और एक है उसी प्रकार भक्ति भी एक और अखण्ड चाहिये। प्रेम भी यदि कारण हो तो वह भी एक और अखण्ड ही चाहिये। भक्ति भी यदि परमात्माको प्राप्त करनेका

साधन हो तो वह ज्ञानके समान ही अखण्ड रहना चाहिये। उसके प्रकार बनानेकी भूल नहीं करना चाहिये। आत्मनिवेदनके बाद उपास्यके साथ अखण्डाकार अभेदभावकी उत्पत्ति होती है। उपासक अपनेको भी भूलता है। जो उपासक उपासनाकालमें अपनेको न भूले उसकी उपासना ही अधूरी और अपङ्ग कहलायेगी। आत्म-विस्मृति और परमात्मास्मृति उपासनाका मुख्य अंग है। जो उपासक सदा यही स्मरण करता रहे कि मैं पापी हूँ, अज्ञानी हूँ, दास हूँ, वह कभी उपास्यदेवके साथ तन्मय नहीं बन सकता, उपासनाका लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। उपासना तो उपासककी सभी निर्बलताओंको धो डालती है। गंगास्नान करनेके बाद भी यदि स्नान करने वाले को ऐसा प्रतीत होता हो कि वह अपवित्र ही है तो स्नानका कोई फल नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपासनाके अनन्तर भी परमात्माके पास बैठनेके बाद भी यदि ऐसा लगे कि मैं पापी हूँ, अधम हूँ, तो उसे उपासनाका कुछ फल मिला है ऐसा नहीं माना जा सकता। इसलिये उपासकको अपना स्मरण नहीं करना चाहिये। वहाँ उपास्यका ही स्मरण आवश्यक गिना जाता है। उपासकके हृदयमें अपने उपास्यदेवके लिये इतना प्रेम होना चाहिये कि उसका स्मरण करते ही अपनेको भूल जाय। आत्मविस्मृति होगी तभी वह परमात्मामें तन्मय हो सकता है। मन एक समयमें एक ही काम करता है। यदि वह जीव, धर्म-कर्मके विचारमें पड़ेगा तो परमात्माको भूलेगा ही। जीवका धर्म संसारकी ओर जानेका है। उसे सांसारिक कर्म ही प्रिय हैं। उसका ज्ञान संकोच-विकासवाला है। इन सबों का यदि जीव स्मरण करता रहे तो कभी भी वह कीचड़में से बाहर नहीं निकल सकेगा। इससे अपनी वाणी, अपनापन और अपनी सभी क्रियाओंके साथ अपना मन उस उपास्यदेवमें विलीन कर देना, यही आत्मनिवेदन है, इसी आत्मनिवेदन रूप भक्तिके श्रवण, कीर्त्तन आदि साधन बनते हैं। नेत्रसे रूपका ज्ञान होता है अतएव रूपज्ञानके लिये नेत्रसाधन हैं।

साधन और साध्य एक ही नहीं होते, नेत्र और रूप एक ही वस्तु नहीं हैं, पृथक्-पृथक् हैं। उसी प्रकार आत्मनिवेदन-रूप भक्तिके श्रवण, कीर्त्तन आदि साधन हैं। अतएव श्रवण, कीर्त्तन आदि और भक्तिमें अभेद नहीं है, भेद ही रहेगा। इससे वे तब भक्ति नहीं बन सकते। यद्यपि श्री सम्प्रदायके आचार्य स्वामी रामानन्दाचार्यने तथा अन्य आचार्योंने उपदेश किया है कि भगवान् ही प्राप्य हैं और भगवान् ही प्रापक हैं क्योंकि उनकी दयासे ही उनकी प्राप्ति हो सकती है। इस कथनसे प्राप्य-प्रापक, साध्य-साधनमें अभेद जैसा लगता है, वस्तुतः अभेद नहीं है। वहाँ स्वकी प्राप्तिमें भगवान् साक्षात् कारण नहीं हैं, परंतु परंपरया कारण हैं। भगवान् की दयासे ही भगवान् की प्राप्ति होती है, यह आचार्य श्री का कथन है। इसीसे भगवद्दयाद्वारा भगवान्, भगवान् की प्राप्तिमें कारण अथवा साधन बनते हैं, स्वयं नहीं। भक्त को भगवान् प्राप्तव्य है। ऊपर बताये हुए आठ साधनोंमें से जिस उपासक को जो साधन अच्छा लगे उसका उपयोग करना चाहिये। इन आठके अतिरिक्त दूसरे साधन भी हो सकते हैं, साधनकी शुद्धता पर ध्यान रखकर साधनों को खोजना चाहिये। ये साधन बाह्य साधन हैं। एक अन्तरङ्ग साधन भी है, वह मन है। हम सब जानते हैं कि नीले, पीले, हरे आदि रङ्गके ज्ञानके लिये उस रङ्ग की वस्तुके साथ नेत्रका संयोग आवश्यक है। यदि नेत्र नीलघट, पीतघट या हरितघटके साथ जुड़े नहीं तो, उस रंग का ज्ञान भी न हो। किन्तु नेत्र और नीलघट का सम्बन्ध होते हुए भी नीलघट का ज्ञान नहीं होता, इसका क्या कारण? कारण यह है कि मन वहाँ नहीं है। कहीं अन्यत्र गया है। तात्पर्य यह है कि नेत्र, विषय और मन ये तीनों जब एकत्र हों तभी घटज्ञान हो, अन्यथा नहीं। उत्तम विद्यार्थी बनने का जिन-जिन भाई-बहिनोंको सौभाग्य मिला होगा उन्हें विदित होगा कि वे लोग जब पुस्तक बाँचने में तल्लीन हुए होंगे उस समय उनके सामने से, घर का या बाहर का, चाहे कोई भी निकला होगा, पर उन्हें खबर तक न पड़ी होगी क्योंकि, उनकी दृष्टि सामनेसे निकलनेवाले व्यक्ति पर

अवश्य पड़ी होगी, किन्तु उनका मन ग्रन्थमे ही था इसलिये आनेवाले या जानेवाले व्यक्ति का भान उन्हें नहीं हुआ। इसी प्रकार भगवान् तो हैं ही, पर साधन रहते हुए भी यदि मन वहाँ न हो तो उपासना हो नहीं सकती। अतएव जिस प्रकार नीलघटके ज्ञानके लिये चेतन, मन, नेत्र और वह घट इन चारोंमेंसे यदि एक भी न हो तो नीलघटज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार उपासनाद्वारा उपास्यदेवके साक्षात्कारके लिये चेतन, भगवान्, साधन, और मन इन चारोके समूह की आवश्यकता है। एक भी यदि कम होगा तो उपास्य का साक्षात्कार नहीं होगा। उपासना का फल भी नहीं मिलेगा। इसलिये श्रवणकालमें, कीर्तनकालमे, अर्चन-वन्दनादिकालमे मन शान्त और केन्द्रित रह सके इसकी सावधानी रखना ही चाहिये। आपने इतना समझलिया होगा कि भक्ति नवधा नहीं है, वह तो एकधा ही है, एक ही है, अखण्ड है। उसके विभाग नहीं हैं। प्रत्येक उपासक अपनी योग्यताके अनुसार, संस्कारके अनुसार, भावनाके अनुसार साधनों या साधनके ग्रहण करनेमें स्वतन्त्र होता है। भगवान् की पसंदगीके लिये भी उसी संस्कार और भावना का ही अनुसरण करता है।

श्री सम्प्रदाय के महान् भक्त श्रीनाभाजी अपने भक्तमाल ग्रन्थ मे लिखते हैं कि **"भक्ति भक्त भगवंत गुरु, चतुर नाम वपु एक"** भक्ति, भक्त, भगवान्, और भक्तिका पवित्र मार्ग बताने वाले गुरु, ये चारो एक ही हैं, केवल शरीर अलग है। इस कथनका तात्पर्य भी यही है कि उपासनाके समय, भक्तिके समय भक्त सब भूल जाता है। उपास्यदेवका स्वरूप ही उसके सामने होता है। इससे उसे एकत्वके अतिरिक्त द्वित्व और त्रित्वादिका भान होता ही नहीं, इस प्रकारकी एकाग्र परिस्थिति मे जीभकी तनिक भी आवश्यकता नहीं पड़ती **"त्वमेव माता च पिता त्वमेव"** बोलनेकी आवश्यकता नहीं होती। उस समय उपासक भक्तकी सत्ता उपास्यकी सत्तासे अलग नहीं होती। वह तो जिस प्रकार दशरथ कुमारके बाणोसे भयातुर मारीच वृक्षोंके पत्ते-पत्तेमे रामको ही

देखता था, उसी प्रकार भगवद्भक्तिके लिये आतुर बना हुआ भक्त दूसरेकी तो बात ही क्या, स्वयं अपनेको भी भूलता है। बार-बार हे प्रभो, हे नाथ, हे राम, हे कृष्ण, हे शिव, हे दुर्गे कहनेकी तो उसकी टेव होती है, इससे वह बोला करता है। कहनेकी क्या आवश्यकता ? परमेश्वर तो सर्वज्ञ और सर्वव्यापक होता है। वह तो उपासकके हृदयको जानता है, हृदयकी भावनाको वह जानता है। जाननेवालेको बतानेकी क्या आवश्यकता ? राम-राम कहकर कान फोडने वाले अज्ञानी भगत भक्तिका कोई रहस्य समझते ही नहीं हैं, समझानेवाले भी विरले होते हैं। अतएव वे दयाके पात्र हैं। उन्हें कुछ नहीं प्राप्त होता। वह तो केवल शब्दजाल अर्पण करता है, हृदय तो अपने प्रभुको अर्पण करता ही नहीं। हृदयहीन प्रार्थना व्यर्थ है। हृदयहीन नामोच्चारण व्यर्थ है। "भगवान भला करे" ऐसा कहनेसे वह किसी का भला नहीं करता। ऐसा करनेका उसका स्वभाव नहीं है। वह किसीका परतन्त्र नहीं है, सर्वतन्त्र स्वतंत्र है, अतएव यदि भला करता होगा तो अपने ढगसे करेगा, यदि कोई बिना हृदयके जप, तप, उपवास, व्रत, स्नानादि करे तो भी उसे ईश्वर-दर्शन दुर्लभ है। उसको प्राप्त करने के लिये मान, अभिमान, गर्व, दम्भ, पाखण्ड, पापाचार आदि को छोड़कर विशुद्ध बनेंगे। "देवोभूत्वा देवं यजेत्" देव बनिये फिर देवकी पूजाकी बात करिये। जब आप देव बन जायँगे तब पूजाकी आवश्यकता भी नहीं रहेगी।

अब आपको समझाता हूँ कि भक्तिसे किस प्रकार कल्याण प्राप्त होता है। जो कल्याणके लिये ही भक्ति करता होगा वह पाप, पाखण्ड, दम्भ, राग, द्वेष, काम, क्रोध आदिको दूर करनेका प्रयत्न भी करता होगा। ऐसा प्रयत्नशील जीव एक दिन उतना निर्दोष बनता है जो जितना शक्य है। जो जितना ही निर्दोष उतना ही अधिक शक्तिमान्। शक्तिका केन्द्र मन है, मन यदि पवित्र हो तो मानसिकबल अतिशय वेगसे बढने लगता है। उस समय उसका निर्दोष मन ज्ञानकी मर्यादा बढाने लगता

है, धीरे-धीरे वह मन तत्त्वदर्शी भी बनता है और दूरदर्शी भी बनता है, इस भाँति उसको सांसारिक ज्ञान अधिकाधिक प्राप्त होता रहता है और मानसिक पवित्रतासे ही वह तेजस्वी बनता है। उसकी वाणी सत्य होने लगती है, वह जो बोलता है वही हो जाता है। क्योंकि वह सत्यके सिवा कुछ बोलनेका अभ्यासी नहीं होता। और पवित्रताके कारण वह कुमार्गमें जा नहीं सकता। कुमार्गमे जानेवालेकी शक्ति थोडी होती है, निर्बलता अधिक होती है। सन्मार्गगामी निर्भय और सबल होता है। धर्माचरणका प्रताप-तेज उसके मुखपर दीप्त हो उठता है। पापी उसके पास आ नही सकता, उसे पाप मार्गमें कोई ले नही जा सकता। कोई घातक यदि उसका वध करे तो उसके प्रति शत्रुभाव, उसके हृदयमें उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि ऐसे गंदे विचार तो कभी से ही उसके मनमे से निकल गये होते हैं। उसका मरण शांतिमय होता है। भक्तिमे से इतना ही मिलता है। मरनेके बाद वह जगतमें, दुखी होनेके लिये नहीं आता है। क्योंकि उसके हृदयमे से सासारिक पदार्थोंको प्राप्त करनेकी कांक्षाका शमन हो चुका होता है। मै पुनः स्पष्ट करना चाहता हूँ, कि भक्तिमें से जो कुछ मिलेगा वह आपके पुरुषार्थका ही फल होगा। गीतामें भी श्रीकृष्णने कहा है कि "उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्" अपने आपही अपना उद्धार करना है। इसलिये अपने उद्धारके लिये आपको ही पूरी तैयारी करना है आपके बंधन आपके ही हाथसे ढीले होंगे। इस कामके लिये दूसरेकी सहायता जो मिलेगी वह नहींके बराबर होगी। पवित्र आपको ही होना है। आपके हृदयमें प्रवेश करके आपको कोई पवित्र नहीं कर सकता। जो इस प्रकार पवित्रता हुआ करती तो परमात्मा, परमेश्वर, भगवान् तो सभीके हृदयमें हैं, ऐसा सभी मानते हैं। तब तो पवित्र परमात्माने कभीका आपको पवित्र कर दिया होता। किन्तु ऐसा हुआ नहीं, हो भी नहीं सकेगा। भ्रममे पडकर ससारमें डुबकियाँ खाते हुए आपके हृदयमें किसीकी सत्यबात उतरेगी नहीं। आपको पाप करने हैं और ईश्वरकी सहायतासे उन्हें धो डालना

है। आपको असत्यरीतिसे यह वस्तु समझाई गई है। इसलिये आपका प्रयत्न उलटा चल रहा है। यथार्थमें तो आप गृहस्थलोग भक्तिके अधिकारी ही नहीं हैं। इस मार्ग मे आनेके लिये तो जैसा मने पहले कहा इस रीतिसे आपको सर्वथा पवित्र होना चाहिये। यह पवित्रता गृस्थाश्रममें से प्राप्त हो जायगी ऐसी आशा आज तो नहीं ही है। आज आपको धनी और निर्धनकी गणना करना है। ब्राह्मण और शूद्रका विचार करना है। अन्त्यज अभी भी आपकी दृष्टिमें पतित हैं। आप उनका स्पर्श करनेके लिये आज भी तैयार नहीं हैं। जब ऐसी विषमता आपके हृदयमे उपस्थित है तो भागवत पुराणकी दृष्टिसे भी आप भक्तिके अधिकारी नहीं ही हैं। आप भक्तिका स्वाङ्ग करें यह दूसरी बात है। अभीतक अपने इष्टदेवके लिये आपके हृदयमें कोई भाव ही पैदा नहीं हुआ। तुलसीदासका रामायण सुनकर आप आनन्दित होते हैं। तुलसी-दासके सम्बन्धमें प्रचलित इस दोहे को आपने कभी सुना है ?—

तुलसी जाके वदन ते धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी मोरे तनको चाम॥

तुलसीदासजीने एक दिन कहा कि "जिस किसीके मुखसे कभी भूलसे भी राम-नाम निकलता हो तो उसके चरणोंके लिये जूते बनानेके लिये मैं अपने शरीरका चमड़ा देनेको तैयार हूँ।" यह भक्तकी वाणी है। आपके हृदयमें तो कभी ऐसा पवित्र भाव आया भी नहीं होगा। आज आ भी नहीं सकता। क्योंकि आपको भक्तिका स्वरूप-ज्ञान हुआ ही नहीं है। आपका हृदय संसारके चरणोंमे चढ चुका है। आपके प्रभुके लिये वह अर्पित हुआ ही नहीं। आपको भक्ति करना ही हो, भक्त बनना ही हो तो अभिमानको अलगकर, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदिका सर्वथा त्यागकर भगवान् के चरणों में अपनेको अर्पित कर देना चाहिये॥

ता० १८-६-१९५० के दिन मोम्बासामें किया गया प्रवचन।

नामस्मरण

आज कितने दिनोंसे हमसब वेदान्त और भक्तिका विचार कर रहे हैं। वेदान्त अर्थात् ज्ञानमार्ग ऐसा हो सकता है कि कदाचित् वेदान्त जैसा रसिकविषय भी आपलोगोंमें से किसीको नीरस और अरुचिकर लगता हो; पर मैं कहता हूँ कि आपको अपनी दृष्टि बदलना चाहिये। रुचिकर लगता है या नहीं यह नहीं देखना है, हितकर है या नहीं, इसका विचार करना है। कुनैन दवा रुचती है या नहीं यह विचार नहीं किया जाता, उससे होने वाले लाभका विचार होता है। अतः आपका ज्ञान कैसे समृद्ध हो और आचार-विचार कैसे पवित्र हों, इतना ही देखना है। आपको वेदान्तका अभ्यास नहीं है इससे कदाचित् आपको यह न रुचे, किन्तु मुझे स्वभाव डालना है। जो वस्तु कितनी ही बार आपने सुनी है और आप उसे दूसरेको सुना सकते हैं, इतनी निपुणता जिस विषयमें रखते हैं, वही मैं भी आपसे कहता रहूँ, यह मेरे लिये और आपके लिये भी करुणस्थिति होगी। मैं कहूँ कि आप नामस्मरण करें, तब आप करने लगेंगे, राग आलापेंगे, किन्तु उससे आपको लाभ थोड़ा ही होगा। नामस्मरणमें आपका मन नहीं जायगा, केवल जीभ हिलेगी। धुनमें भी यही दशा होगी। मैं आपके मनको काममें लगाना चाहता हूँ। नामस्मरणसे आपका मन खाली ही रहेगा। केवल बिचारी जीभको ही कष्ट दिया जाता है। किन्तु आपको यदि वेदान्तके मार्गपर खींचकर लेजाया जाय, ज्ञानमार्ग का उपदेश किया जाय, तो एक नई दिशा और नया उत्साह आपको मिले। आपको तो समझाया गया है कि कलियुगमें नामस्मरणसे ही उद्धार होता है। इससे आप नामस्मरण ही करते रहेंगे। मन बाह्य विषयका स्मरण करेगा, जीभको नाम पकडाएँगे और मनको विषय पकडाएँगे, दंभका आरम्भ हो जायगा। लोग कहेंगे कि यह मनुष्य बहुत बड़ा भगत है। खाते, पीते, चलते और बैठते नाम जपता है। "नाम जपन क्यों छोड़ दिया" यह भी वह भगत आपको सुनाता रहेगा। नामस्मरण व्यर्थ है। नामीका

स्मरण करें। आप अपनी माँका स्मरण करते हैं, पिताका स्मरण करते हैं, बडे भाईका स्मरण करते हैं, और ऐसे बहुतोंका स्मरण करते हैं जिनका नाम आप नहीं जानते। फिर भी स्मरण होता है। आप अपनी पत्नीका अथवा ये बहिने अपने पतिका स्मरण करती हैं। उसमें पूर्ण साक्षात्कार होता है, आप एक दूसरे के सामने ही खडे हैं, ऐसी प्रतीति होती है। किन्तु आप जानते हैं कि आप उस समय एक दूसरेका नामस्मरण नहीं करते। व्यक्तिके स्मरणमें नामकी आवश्यकता नहीं पड़ती। लाभ व्यक्तिके स्मरणसे होता है, नकि उसके नामके उच्चारणसे। किसी अच्छी व्यक्तिके स्मरणसे उसके अच्छे गुणोंका स्मरण होता है। गुणोंके स्मरणसे स्मरणकालमें मन उन गुणोंसे धुलता है—पवित्र होता है, यद्यपि नामोच्चारणसे अथवा नामस्मरणसे नामीका भी स्मरण हो सकता है क्योंकि शब्द और अर्थ साथमें जुडे होते हैं, किन्तु यह सार्वत्रिक नियम नहीं है कि शब्द श्रवणसे अर्थस्मरण हो। एक मनुष्य ऐसा भी हो सकता है जिसने लंदनका नाम सुना है पर उसने देखा नहीं है। वह लंदन शब्द सुनकर लंदनका स्मरण नहीं कर सकता। कदाचित् उसे देखनेकी उसको इच्छा हो। ऐसी इच्छा हो तो भी धनके अभावके कारण न भी देख सके। इसी प्रकार आप किसी देवके नामका स्मरण करें, कदाचित् उसे देखनेकी इच्छा हो तो भी साधनके अभावसे आप उसे देख नहीं सकते। उसके देखनेका साधन उसके प्रति पूर्णप्रेम और अनर्गल अनुराग है। उसे आप प्रकट नहीं कर सकते, क्योंकि अदृष्ट अर्थमें ऐसा प्रेम जागरित नहीं हो सकता। इसलिये आप, टेव डालें व्यक्तिके स्मरण द्वारा उसके गुण स्मरण करनेकी। और ऐसे स्मरणसे अपने मनको, अपने आचार-विचारको वैसे ही गुणोंसे परिपूर्ण करे। कल्याण आपके पास ही होगा। "खेत पड़े ते ऊपजै उलटो सीधो बीज" अर्थात् खेतमें औंधा या सीधा बीज उगेगा ही। इसी प्रकार भावसे या कुभावसे आप नाम जपेंगे तो आपका कल्याण हो जायगा, ऐसे भ्रमको आप दूर करें। किसी भी वस्तुको सुनकर उसपर विचार करना सीखें। बीज और क्षेत्र दोनों यदि

योग्यरीतिसे तैयार किये गये होंगे और पानी सींचेंगे तभी आप अङ्कुरकी आशा रख सकते हैं। भूमि अच्छी न हो तो अच्छा बीज भी नहीं ही उगता। बीज अच्छा न हो, सड़ा हुआ हो तो वह अच्छी भूमिमें भी जाकर विना उगे ही रहता है, और अन्तमें वह मिट्टी हो जाता है। भूमिमें पानी न हो, आप बाहरसे पानी न सींचे तब बीज और भूमिके अच्छे होने पर भी आप अङ्कुर नहीं देख सकते। अतः नामस्मरणके लिये अंतःकरणको पवित्र करे। शक्कर-शक्कर करनेसे किसीका मुँह मीठा नही होता। पानी-पानी रटनेसे किसीकी तृषा शान्त नहीं होती। राम-राम या शिव-शिव अथवा दुर्गे-दुर्गे रटनेसे प्राप्तव्य वस्तु आपको मिलनेकी नहीं। कभी मिल जायगी ऐसी निरर्थक बातका विचार नहीं करना। इस "कभी"का कोई अन्त नहीं है। आप जन्मजन्मान्तर तक अपने हाथोंसे किसलिये दुःखी होनेकी इच्छा करते हैं? इसलिये "कभी" को भूल जाइये और—मुझे तो आज ही पवित्र होना है और कल्याण प्राप्त करना है, ऐसी श्रद्धाको जागने दीजिये तो आप आज ही पवित्र हो जाएँगे। आज ही आप कल्याणका दर्शन कर सकेंगे। श्री रामकृष्ण परमहंस "माँ" "माँ" कहते थे इससे उन्हे माँ का साक्षात्कार हो गया, ऐसा माननेकी भूल न करें। आप अपने ही गजसे सबको नापेंगे तो भूलेंगे। आपके पास कोई प्रमाण है कि जिससे आप यह सिद्ध कर सकें कि माँ-माँ जपते हुए परमहंस रामकृष्ण, माँके गुणोंका स्मरण कर, माँ मे तल्लीन नहीं होते थे? साक्षात्कार तल्लीनतासे ही होता है। रामकृष्ण माँ-माँ करते हुए माँके स्वरूपको प्राप्त होते थे। वे अपने को भूल जाते थे। केवल माँ ही उनके आगे रहती थी। इसीसे ऐसा कल्याण पासके। आप भी वैसा ही करें। तल्लीनता प्राप्त करे। कल्याण आपके पास ही रहेगा। रामशब्दकी योजना इतनी सुन्दर रीतिसे हुई है कि मनुष्य बहुत ही भाव और आदरके साथ उसका उच्चारण कर सकता है। जैसे दुःखी मनुष्य, बीमार मनुष्य, शोकग्रस्त मनुष्य, धीरेसे रा३म—इस रीतिसे खूब लम्बा कर बोलता है। इस प्रकारके दूसरे नाम, दूसरे देवों

के नाम नहीं हैं। अतएव आप खूब भावसे 'रा' को लंबा कर बोलें, उसके साथ परात्पर ब्रह्मस्वरूप साकेतवासी, अजन्मा, अजर, अमर ऐसे रामका स्मरण करें। उसकी दयालुता, उसकी उदारता, उसका वात्सल्य अपने हृदयमे प्रतिबिम्बित करे। उस प्रतिबिम्ब को वहाँ स्थायी बनाएँ। आप भी वैसे ही गुणवाले बनें। आपका कल्याण हो जायगा। राममें र+आ+म्+अ इस प्रकार चार अक्षर हैं। र मूर्धासे बोला जाता है, मूर्धा मुखमें एक ऊँचे भागमें स्थान है। आ और अ कण्ठसे बोला जाता है। म ओष्ठ की सहायतासे बोला जाताहै। हम सब राम नहीं बोलते राम् बोलते हैं। जैसे ओम नहीं बोलते पर ओम् बोलते हैं। राम् और ओम् बोलनेकी समानही पद्धति है और समानही लाभ है। जिस प्रकार र् को खींचकर ऊपर ले जाते हैं और फिर म् बोलकर मुखबन्द करदेते हैं, इसी प्रकार आप अपने प्रभुको ऊपर मस्तकमें ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाओ और सभी इन्द्रियोंके द्वार बन्द कर दे। प्रभु आपको मिले बिना रहनेका ही नहीं। वेदान्त आपको कोई नई बात नहीं करता। भक्तिमार्गमें भी जो आपको सीखना चाहिये था, उसे आपने नहीं सीखा। उसे ही आपको वेदान्त सिखाता है। आप बहिर्मुखसे अन्तर्मुख बनें, इतना ही तो वेदान्त कहता है। अभेद तो भक्ति और ज्ञान दोनोंका समान ही फलितार्थ है। आपको अपने देवके धनुष्-बाणसे या शख-चक्रसे अथवा त्रिशूलसे कुछ प्रयोजन नहीं है। ब्रह्मको धनुष्-बाण नहीं होता, शङ्ख-चक्र भी नहीं होता, त्रिशूल भी नहीं होता। वह तो सर्व-शक्तिमान् है। जब जिसको मारना चाहेगा तब उसको मार सकता है। राम रावणको बाण मारे और रावण रामको बाणमारे, एक बार रावण मूर्छित हो, एकबार राम मूर्छित हो, एकबार शंकर डर कर भागे और एकबार दैत्य डर कर भागे, एक बार शंकर बाण मारे, एक बार अर्जुन बाण मारे, ऐसी ईश्वरकी लीलाओंके ध्यानसे आपको कुछ नहीं मिलना है। इससे भी चमत्कारपूर्ण युद्ध जर्मन और रशियाके बीच खेला गया है। जापान और ब्रिटिशका युद्ध भी पूर्ण चमत्कारी ही था। ऐसी लड़ाइयों

भगवानका भगवत्त्व और ईश्वरका इश्वरत्त्व नहीं सिद्ध कर सकतीं। (अनेक स्थानोंमें राजा ईश्वर माना गया है) आप राजाओंके बदले ईश्वरका ध्यान करे, चिन्तन करें, गुणाधान करें, तभी आपको पूर्व दिशामे ही अरुणोदय मालूम होगा। भगवान् सच्चिदानन्द है। सच्चिदानन्द अर्थात् सत्, चित् और आनन्द। त्रिकालाबाधित ही सत् कहलाता है। जिसके ज्ञानका क्षण भरके लिये भी विलोप नहीं होता उसे चित् कहते हैं। जिसमें कभी आनन्दका अभाव न हो उसे आनन्द कहते हैं। ऐसा तो नीरूप, निर्गुण ब्रह्म ही अथवा तो नीरूप सगुण ब्रह्म ही हो सकता है। आपने सगुणका अर्थ गलत रीतिसे समझा है। आपको ऐसा लगाकि सगुण होनेके लिये साकार भी होना चाहिये। ऐसा कुछ नही है। आकाश सगुण है पर साकार नहीं, निराकार है। इसलिये यदि आप साकारकी कल्पनासे छूटेंगे तो बहुतसी आपत्तियोंको टाल सकेंगे। आपको आदत पड गयी है, सुन-सुन कर निर्विचार बन गये हैं, इससे आपको लज्जास्पद प्रतीत नहीं होता कि ईश्वर और सर्वशक्तिमानकी पत्नीको एक राक्षस हरण करके ले जाय, दोनोंमें युद्ध हो, फिर ईश्वर अपनी पत्नीका त्याग करे, फिर विरहमें रोवे, माथा पटके। ऐसे सामान्य मनुष्यों की भाँति ईश्वरकी कथा नहीं हो सकती। ईश्वरको तो ईश्वर ही रहने दे। आपने मनुष्योंको तो मनुष्य रहने दिया, पर ईश्वरके ऊपर दया करे। उसे अपने मार्गमे मत घसीटे। उसे पवित्र ही रहने दे। आप जो समाधान करेंग वह पागल मनुष्यका एक बालकके साथ खिलवाड़ जैसा ही होगा। इस समाधानके जजालमें से छूटे। सत्यको शोधें। आत्मसाक्षात्कार करे। परमात्माको पहचानें। आप सदा बालक ही नहीं रह सकते। आप सदा बालपाठमाला ही नहीं सीख सकते। मूर्ख ही रहनेके लिये आपका जन्म नहीं हुआ है। आप भी तत्त्वचिन्तक बन सकते हैं। आप भी ईश्वरको खोज सकते हैं। आप भी अपनी पवित्र भक्तिके प्रतापसे ईश्वर बन सकते हैं। "जानत तुमहिं-तुमहिं ह्वै जाई" गोस्वामी तुलसीदासने कहा है कि जो भगवानको जानता है, जानते ही वह भगवान हो जाता है, इसलिये, मुझसे भगवान

कैसे बना जा सकेगा, इस निर्बलताको त्यागकर बलवान् बनें। भगवान् आप नहीं बनें तो भगवान्के समान तो बनें।

२०-८-५० को मुम्बासा में दिया गया प्रवचन।

भक्तिके साधन

कल अपना विषय अधूरा रहा है। आवश्यक वस्तुका विचारकर रहे हैं, इससे शीघ्र समाप्ति नहीं होती। मुझे आपके हृदयमें सच्चा धर्म प्रकट करना है। मुझे आपके पाससे धन नहीं लेना है। मुझे दूसरा कोई स्वार्थ नहीं है। इसीसे मैं आपसे सत्य वस्तु कह सकता हूँ। पैसा लेना होता तो आपको खुश करनेकी ही बात मुझे करनी पड़ती। धनकी जब-जब मुझे आवश्यकता पड़ी है, तब-तब अहमदाबादके भाइयों और बहनोंसे मैं प्राप्तकर सका हूँ। यहाँ भी जरूरत पड़ेगी तो यहाँ से भी मैं पैसा प्राप्त कर लूँगा। ऐसे भी तो भाग्यशाली होंगे कि जिन्हें निरा दंभ और निरा पाखंड प्रिय नहीं होगा, और मेरी सत्य बात उनको पसंद पडेगी और उनके पाससे ही मुझे मिल जायगा। परन्तु मुझे धन चाहिये ही नहीं। मैं इसके लिये आया ही नहीं हूँ। आप मेरे ऊपर प्रेम करें इस लोभसे भी मैं आपको फुसलाने की बात नहीं करूँगा। आपके प्रेममें से मुझे कुछ प्राप्त नहीं करना है। आप भारतीय हैं। परदेशमें आकर बसे हैं। भारतकी सभ्यता आप सम्हाल सकें और विदेशियोंके ऊपर उस सभ्यताकी छाप डाल सकें इतनी ही वस्तु मैं आपके पाससे चाहता हूँ।

भक्ति और ज्ञान यह दो मार्ग थोडे-थोड़े अलग होते हुए भी एक ही सिद्धि के लिये दोनों खडे हैं। दोनों मार्गों को जीवों का कल्याण इष्ट है। जीवोंको निःश्रेयसकी प्राप्तिके लिये दोनों मार्ग प्रयत्न कर रहे हैं। जीवोंके जन्म और मरण टालनेके लिये दोनों ही मार्ग प्रयत्नशील है। आप इस मंदिरके मुख्य द्वारसे आयेंगे तो भी मेरे पास ही आयेंगे, और इस

सामनेके द्वारसे आयेंगे तो भी मेरे ही पास आयेंगे। आपका आदर्श आज मेरे ही पास आनेका है, और मेरे पाससे कुछ सीखना है। इसी प्रकार भक्ति-मार्गसे पहुँचें, या ज्ञान-मार्गसे पहुँचें, पहुँचेंगे तो मुक्ति धाममें ही। अतः किसीको किसी मार्गकी निन्दा नहीं करना चाहिये। दोनों पथिकोंको दोनो मार्गोंकी यथार्थता जान लेना यह आवश्यक है। कलहको दूर करे। वेदान्त-मार्ग अच्छा या भक्ति-मार्ग अच्छा यह प्रश्न उड़ जाना चाहिये। क्योंकि आप आज न तो वेदान्त-मार्गका अनुसरण कर सकते हैं और न भक्ति-मार्गका अनुगमन कर सकते हैं। आपके लिये दोनों मार्ग दुरूह और कठिन हैं। आपको तो इतना ही करना है कि साधन सम्पन्न बातें दोनों मार्गोंके साधन समान ही हैं। असत्य का त्याग, काम, क्रोध, लोभ, पाषंड, दम्भ आदिका त्याग, दुराचारका त्याग, बीडी, शराब, व्यभिचारका त्याग, दुष्ट संगका त्याग दोनों मार्गोंके लिये समान आवश्यक है। सत्य का मन, वचन और कर्मसे पालन, दया, दान, श्रद्धा, विवेक आदिका सम्पादन, सन्मार्गमें प्रयाण, अहिंसाका यथाशक्ति रक्षण दोनों मार्गोंके लिये समान रूपसे ही आवश्यक हैं। अतः दूसरे विवाद तो आपके लिये व्यर्थ हैं। आप इन साधनोंका संग्रह करे। साधन संग्रह करनेमे एक मिनिट लगे या एक जन्म बीते या एकसे अधिक जन्म बीते यह तो आपके ही हाथकी बात है। इसमे किसीके पाससे कुछ लेना नहीं है, मॉगना नहीं है, इसके लिये श्रम भी नहीं करना है। केवल आत्म-श्रद्धा बढाना है। आपके लिये आपके हृदयमें ही सच्चा प्रेम उत्पन्न करना है। यदि आप अपनेको प्यार करते होंगे तो आप अवश्य पवित्र मार्गमें पैर रखेंगे, और चोरी-जारीसे दूर रहेंगे, शराब पीनेका भयंकर रोग हिन्दुओंमें आ गया है, उसका ठीक औषध खोजेंगे, सिगरेट पी-पीकर अपने फेफडेको बिगाडनेसे रुकेंगे। मन्दिरमें जाकर चावलके दो-चार दाने या एक मुट्ठी दाने देवताके आगे चढानेमें, पाई-पैसा चरणोंके आगे चढानेमें जरा भी भक्ति नहीं है। आपके देवताको यदि ये वस्तुएँ रुचती हों तो वह सच्चा देवता नही है। अथवा तो आप अपने देवको सच्ची

नीति पहचानते नहीं हैं। उसे पैसेकी जरूरत नहीं ही होगी। उसे भात खाना नहीं है, इसलिये आपके चावल भी उसे नहीं चाहिये। काले-बाजारसे पैदा किये हुए पैसों के टुकड़े से एक पाई या एक पाईकी कोई वस्तु उसे नहीं चाहिये। वह तो पवित्र है अतः उसे पवित्र वस्तु ही चाहिये। आपको विदित होगा कि जब हमारे देशके उपप्रधान सरदार वल्लभभाई पटेलको यह कहनेमें आया कि महात्माजीके फंडमें चोर-बाजारियोंने ही अधिक धन दिया और भरा है तब उन्होंने तुरन्त ही कह दिया कि मुझे ऐसे गंदे और दुर्गन्धित पैसे नहीं चाहिये। बापू पवित्र थे, उनके नामपर अपवित्र पैसा नहीं चाहिये। आपके देवको चाहिये केवल आपका पवित्र मन और श्रद्धापूर्ण हृदय। इस पवित्रताको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। इस श्रद्धासे परिपूर्ण हृदयकी रक्षा करें। दोनोंको अपने प्रभुके चरणों में भेंट करनेका साहस करें। भगवान् खुश हो जायेंगे। आपका देवता आपसे क्या चाहता है, यदि इतना भी आप न समझ सकें तो आप भक्ति किस प्रकार कर सकते हैं? आपका भगवान् शुद्ध है, उसको पानेका साधन भी शुद्ध होना चाहिये। वह प्रकृतिसे परे है, उसको पानेके साधन भी प्रकृतिके परे ही होना चाहिये। आप अपवित्र हैं। आपका हाड़-मांस लेकर वह मिलना नहीं चाहता। आप पवित्र बनें, उसे पवित्र रहने दें। आपको पवित्र होनेका मार्ग बताऊँ। आप यदि चोरी नहीं करें, कालाबाजार नहीं करें तो आप भूखे मर नहीं जाएँगे। पेट तो सबका रामको भरना ही है। और जो अनीतिका धंधा किये बिना मर भी जाते हो तो भी आपकी क्या हानि होती है? वह तो धर्मका मार्ग है। परमेश्वरको—आपके भगवान्को अनीति नहीं चाहिये। इसलिये आप इस मार्गका त्याग करते हैं। इस त्याग करनेमें यदि आपको अपने प्राण छोड़ने पड़ें तो भगवान्की सेवाकी हुई गिनी जायगी। भगवान्को आप प्रसन्न रक्खें। जिनके मनमें भगवान् नहीं है उन्हें भी अनीतिके धंधोंसे दूर ही रहना चाहिये। यदि भगवान् प्राप्त नहीं करना है तो भी मनुष्योचित प्रतिष्ठा तो प्राप्त करना

ही है। कुत्तेकी मौत मरना नहीं है, गांधीकी भाँति मरना है। आपके आनेसे–जन्म लेनेसे आपका देश थोडा भी चमके–प्रकाशित हो, ऐसा तो आपको करना ही चाहिये। आपके माता-पिताने अपने पूर्वजों की कीर्त्तिको तो रक्षण किया ही है। उनकी कीर्ति बढाना है। राम और रावणका उदाहरण आपके आगे है ही। आप राम बननेमे गर्व और आनन्दका अनुभव करेंगे या रावण बननेमें? कृष्ण बननेमें आप गौरव समझते हैं या कंस बननेमें? यदि राम और कृष्ण आपके हृदयको खींचते हों तो वैसा ही बननेका प्रयास करें। ईश्वर होगा कि नहीं, इसकी चिन्ता आपको नहीं करनी है। यदि वह होगा तो इस नीतिके मार्गसे जाने पर ही मिलेगा। यदि नहीं होगा तो आप कुछ खो नहीं रहे हैं। आप अपनी उज्जवल कीर्त्ति स्थापित करते हैं, बड़ोंकी कीर्त्ति बढाते हैं। अतः कोई ईश्वरको मानता हो या न मानता हो, दोनोंको अपने हृदयके तारोंको तो बजाना ही पडेगा। उसकी झंकारसे प्रभुके हृदयको अथवा तो कीर्त्ति कामिनीको जीतना ही पड़ेगा। मनुष्य, मनुष्य है, कुत्ता नहीं, इसलिये कुत्ते का जीवन मानवको रुचिकर नहीं होना चाहिये।

दूसरा मार्ग स्त्री जाति किसी भी देशकी प्रतिष्ठाका मुख्य साधन है। उसकी प्रतिष्ठा सम्हालनेका उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। ऐसा आपको मानना है। अपनी माँको माँ कहनेवाले बहुतसे हैं। अपनी बहनको बहन कहनेवालों की कमी नहीं है। अपनी पुत्रीको समस्त संसारके मनुष्य पुत्री ही मानते हैं। इसमें कोई बडा गौरव नहीं है। गौरव तो है दूसरेकी माँको माँ समझनेमे, दूसरेकी बहिनको बहिन समझनेमें, दूसरेकी लडकियोंको अपनी बेटी समझनेमें। आपकी आँखें इतनी पवित्र और निर्दोष बनें कि अपनी माँ-बहिनें निःसंकोचभावसे निर्भय होकर आपके गाँवमें, आपकी गलियोंमें, आपके पड़ोसमे रह सकें। अनीतिके अड्डे आपको तोड़ने हैं। मन्दिरोंमें भी यदि अनीति होती हो तो उसकी भी एक-एक ईंट उखाड़कर अपने हाथसे आपको फेंक देनी है। आपकी संस्कृतिकी रक्षाके लिए मन्दिर हैं, मन्दिरोंके लिये आप नहीं हैं। यदि

उन मन्दिरोंमें आपकी संस्कृतिका नाश होता हो तो आपको उन मन्दिरोंका नाश करना ही पड़ेगा, छुटकारा ही नहीं है।

मैं मानता हूँ कि मनुष्यों की निर्बलताएँ एक दिनमें नहीं निकल सकतीं। आप काम क्रोधको एक ही दिनमें नहीं जीत सकते। यह काम सहज नहीं है। इसके लिये तपश्चर्या और विवेककी बड़ी आवश्यकता है। समस्त जगत् सत्व, रजस्, तमस्का ही बना हुआ है। आपका शरीर भी उन्हीं तीनों गुणोंसे बना है। आपके मनमें भी इन तीन गुणों की न्यूनाधिक मात्रा है। अतः आपका मन स्वाभाविक ही तीन गुणवाले विश्वकी ओर और तीन गुणोंकी ओर आकृष्ट होनेको है। इसके आकर्षणसे बच जानेमें ही आपकी मनुष्यता है। ऐसा करनेमें ही आपका शौर्य है। आपके धैर्यकी परीक्षाका यही समय है। जरा भी बिना घबड़ाये "कदम कदम बढ़ाये जा, विजयके गीत गाये जा"।

प्रभुकी प्रार्थनामें बैठें तब आपके हृदयमें एक स्फूर्त्ति होनी चाहिये, हृदयमें एक धड़कन होना चाहिये, की हुई भूलोंके लिये नेत्रोंमें पश्चात्तापके आँसु होना चाहिये, प्रभुके प्रति अनन्त प्रेम और अनन्त प्यार होना चाहिये, तत्सम बननेकी अर्थात् तद्रूप बननेकी उत्कण्ठा या अभिलाष होना चाहिये।

भक्तको और ज्ञानीको किसी वस्तुका अभिमान नहीं होना चाहिये। सत्य तो यह है कि जो भक्त होगा वह गर्वशून्य होगा ही। जो ज्ञानी होगा वह अभेददर्शी ही होगा। भक्तिमार्गमें जाति-अभिमान, कुलका अभिमान, विद्याभिमान, धनाभिमान आदि कण्टकके समान हैं। इनसे सदा सावधान रहना। ज्ञानमार्गके आचार्य श्री शंकराचार्य कहते हैं "न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा." ज्ञानीका कोई वर्ण नहीं, कोई आश्रम नहीं। उसी प्रकार वर्ण और आश्रमका कोई आचार नहीं, "शिवःकेवलोहम् "शिव.-केवलोहम्"। ज्ञानी तो केवल शिव स्वरूप है—ब्रह्म स्वरूप है। भक्ति-मार्गके महान् आचार्य श्री रामानन्द भी कहते हैं "जो भगवदाज्ञाको मानकर भगवत् आयुध तिलक, मुद्रा आदि धारण करनेवाला चण्डाल हो

तो वह भी पवित्र है।" आचार्यने उसके साथ सर्व-व्यवहारकी आज्ञा दी है। श्री सम्प्रदायके एक महान् गुरु श्रीवचन भूषणमे लिखते हैं—

योप्रीतिः मयि संवृत्ता मद्भक्तेषु सदास्तु ते।
अवमानक्रिया तेषां संहरत्यखिलं जगत्॥

"भगवान् कहते हैं कि जो और जिस प्रकारका प्रेम मुझमे हो वही और उसी प्रकारका प्रेम मेरे भक्तोंमे होना चाहिये। मेरे भक्तोंका जो अपमान करता है उससे सारे संसारका संहार होता है"—

इतना कहकर आगे लिखते हैं—

भागवतापचारोऽनेकविधः॥ २०२॥

इस सूत्रके भाष्यकार लिखते हैं—"जन्मनिरूपणम्, ज्ञाननिरूपणम्, वृत्तनिरूपणम्, आकार निरूपणम्, वसतिनिरूपणम्, इत्याद्यनेकप्रकारो भवतीत्यर्थः" किसी भक्तके कुल, जाति, ज्ञान, वृत्ति, आकार, और निवासस्थान को लेकर अपमान करना, ये भागवतापचार कहलाते हैं। भागवतापचारका अर्थ है भगवद्भक्तों का तिरस्कार। अतएव दोनों मार्गोंमें वर्णाश्रमको अवकाश नहीं है। भागवतमे तो "वैष्णवः पञ्चमो वर्णः" कहकर विष्णुभक्तको वर्णबाह्य माना गया है। इससे इन दोनों मार्गोंमें वर्णाश्रमको भक्ति और ज्ञानमें विघ्नरूप माना गया है। नीच-ऊँचकी, सधन-निर्धनकी, विद्वान्—अविद्वान् की भावनाएँ छोडकर पवित्र और अपवित्रका विचार आपके लिये हितकर है। पवित्रता और सदाचार ही मनुष्यको उच्च बनाते हैं। इनके अभावमें मनुष्य नीच बनता है। धनको तो बीचमें लाना ही नहीं चाहिये। यह तो आज है और कल नहीं रहेगा। इसका क्या विश्वास? जिसका विश्वास नहीं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं उसका गर्व कैसा?

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

"जो मनुष्य अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध, वस्तुसंग्रहका त्याग करके ब्रह्मवत् कूटस्थ रहता है, ममता शून्य और शान्त रहता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है" ऐसा आत्मा प्रसन्न रहता हुआ न शोक करता है और न किसी वस्तुकी इच्छा रखता है। सर्वप्राणियोंमें समान भावसे रहता हुआ वह मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है" इन दोनों श्लोकोंमें ज्ञान और भक्तिके फलका प्रतिपादन हुआ है। इन दोनो मार्गोंके साधन-का भी प्रतिपादन हुआ है। इसका मनन करेंगे, विचार करेंगे, आचरण करेंगे, तो निस्सन्देह कल्याग प्राप्त करेंगे।

१-६-५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

मूर्त्तिपूजा

अभीतक मैंने आपके सामने भक्तिकी ही बात की है। इस विचारके लिये मैंने बहुत समय लिया है। आप प्रेमसे और धैर्यसे सुन रहे हैं इससे आनन्द होता है। भक्तिके सम्बन्धमें एक आवश्यक वस्तु विचार किये बिना रही जाती है। वह है मूर्त्तिपूजा। मुझे बहुत स्पष्ट रीतिसे आपके सामने मूर्त्तिपूजाविषयक मेरे विचारोंको प्रकट कर देना चाहिये। बहुत समयसे प्रचलित मूर्त्तिपूजा हिन्दूजातिमें विशेष स्थान रखती है। मूर्त्ति-पूजाके बिना भक्तिका आरम्भ नहीं होता और समाप्ति भी नहीं होती। जीवनके सूर्योदयसे प्रारम्भ होकर जीवनकी संध्यातक मूर्त्तिपूजा हिन्दू-जीवनमें ओतप्रोत वस्तु है। उसका विचार किये बिना भक्तिका विचार अवश्य ही अधूरा रहेगा। मूर्त्तिपूजाका सम्बन्ध साकार ब्रह्मके साथ है। अधिकांशमें अपने शास्त्रोंमें ब्रह्मनिराकार और निर्गुण है, ऐसा ही कहनेमें आया है। "सपर्यगात् शुक्रम् अकायम्" इस यजुर्वेदके मन्त्रमें भी ब्रह्मको अकाय अर्थात् शरीररहित कहा गया है। इससे लोगोंको शंका होती है कि मूर्त्तिपूजा अवैदिक वस्तु है। यह "अवैदिक" शब्द मुझे जरा भी अच्छा नहीं लगता। वेदमें जिसका विधान हो वह वैदिक और जिसका

विधान न हो अथवा निषेध हो वह अवैदिक। वेदमें किसी अक्षरका विधान नहीं है इससे अक्षर अवैदिक। इस घडीका विधान नहीं है इससे यह अवैदिक। स्याही और पेन्सिलका विधान नहीं है, इससे वह भी अवैदिक। हिन्दुओंके सभी नाम वेदोंमें विहित नहीं हैं, इससे वे अवैदिक। चूल्हा बनाकर उसपर तवा रखकर अमुक प्रकारकी रोटी सेकनेका विधान नहीं है, अतः वह भी अवैदिक। इस माइक्रोफोनका वेदमें विधान नहीं है, इससे यह भी अवैदिक। रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, सायकल, मोटरसायकल, पोस्टआफिस, तारआफिस, इन सभी बैंकोंका विधान वेद में नहीं है, इससे ये अवैदिक। तब अब क्या किया जाय? क्या इन अवैदिक वस्तुओंका त्याग करें? ये तो घर-घर फैली हुई वस्तुएँ हैं। त्यागकी इच्छा करें तो भी ये छोड़ी जायें ऐसी नहीं है। वैदिक और अवैदिकका विचार मूर्खतापूर्ण है। हानि और लाभका विचार करना चाहिये! यदि मूर्त्तिपूजासे हानि ही होती हो तो उसका त्याग करना चाहिये। मूर्त्तिपूजासे यदि लाभ होता हो तो उसकी रक्षा करना चाहिये। भले वह अवैदिक हो। मै वेदका पडित हूँ। वेदकी मर्यादाको समझता हूँ। जो वस्तु वेदमें नहीं है ऐसी अनेक वस्तुएँ मनुस्मृतिमें उल्लिखित हुई हैं, और वह वेदाभिमानियोंको मान्य हैं। इसी प्रकार वेदमें नहीं है ऐसी मूर्त्तिपूजा भी मान्यकी हुई वस्तु है। इससे मै उसकी वैदिकता अथवा अवैदिकताका विचार न करके दूसरी रीति से विचार करूँगा।

आज मूर्तिपूजा भिन्न-भिन्न रीतिसे जगत्के प्रत्येक सम्प्रदायमें और धर्ममे प्रचलित है। जो ईश्वरको निराकार मानते हैं, वे भी मूर्ति पूजते हैं। जो साकार मानते हैं, वे भी पूजते हैं। जैन भी पूजते हैं, बौद्ध भी पूजते हैं, क्रिश्चियन भी पूजते हैं, पारसी भी पूजते हैं, मुसलमान भी पूजते हैं, आर्यसमाजी भो पूजते हैं, मुसलमान कब्र और ताजिया पूजते हैं। आर्यसमाजी फोटो पूजते हैं। कोई पत्थर पूजता है, कोई कागज पूजता है पर जते हैं सभी मूर्ति ही। इस मूर्तिपूजामें अन्तर इतना ही

है कि मुसलमान खुदाकी मूर्ति नहीं पूजते पर इन्सानकी कब्र पूजते हैं। वे भी मूर्तिपूजक ही हैं। आर्यसमाजी भाई ईश्वरकी मूर्ति नहीं पूजते, पर स्वामी दयानन्दके फोटोकी पूजा करते हैं। जो सिद्धान्त इस कागज, मिट्टी, आगको पूजनेमें समाया हुआ है, वही सिद्धात ईश्वरकी मूर्तिपूजामें समाया हुआ है। बुद्ध स्वयं ईश्वरके सम्बन्धमें चुप रहे थे, पर उनके अनुयायी उनकी ही मूर्ति मन्दिरमें पूजते हैं। आज मूर्तिपूजा ब्रह्मसमान ही व्यापक प्रथा है।

मैं मूर्ति पूजामें मानता हूँ। पर मेरी एक अलग भावना है। जिस रीतिसे आप मूर्ति पूजते हैं उस रीतिके मैं विरुद्ध हूँ। मूर्तिपूजा उपासनाका एक अङ्ग है। उपासना सदा एकान्त स्थान चाहती है। समूहमें—टोलामें उपासना हो नहीं सकती। उपासना और प्रार्थना दोनों अलग-अलग वस्तु हैं। मुसलमानोंकी मस्जिदमें नमाज, क्रिश्चियनोंके गिरजाघरोंमें प्रार्थना ये दोनो ही प्रार्थना हैं, उपासना नहीं। उपासना तो, मुसलमान और ईसाई भी अपने-अपने घरमें करते हैं। हमारे मन्दिर उपासना घर नहीं रहे, इसी प्रकार प्रार्थनागृह भी नहीं रहे। ये तो केवल एक पेढी बनकर रहते हैं। वहाँ पैसे-टकेका धन्धा चलता है। कमाने-खानेका धन्धा ही वहाँ रहा है, गुलगपाढा ही रह गया है। मन्दिर एक छोटासा बाजार। मन्दिर अर्थात् सामाजिक लड़ाईका केन्द्र। मसजिदमें जाते हैं तो एकदम शांतिका वातावरण पाते हैं। ईसाइयोंके गिरजाघरमें जाते हैं तो वहाँ मसजिदसे भी अधिक शान्तिका अनुभव करते हैं। जैन मन्दिरों और बौद्ध मन्दिरोंमें शान्ति उत्पन्न होती है, पर हिन्दू मन्दिर अशान्तिके धाम हैं। कहीं लड़के खेलते हों, कहीं छोटे बच्चे रोते हों, किसी कोनेमें बहनें इकट्ठी होकर घरकी और लड़ाईकी बात करती हों, दूसरे कोनेमें पुरुष बीड़ी या सिगरेट फूकते हों और बातें होती हों, यदि बाबाओंका मन्दिर हो तो गाजेकी चिलमें उड़ती हों, बीड़ी-सिगरेट तुम्हारी तो होगी ही, मन्दिरके ही किसी भागमें बाबा लोग खाँस-खाँसकर थूंकते हों, ताशका खेल, जुएका खेल वहाँ होगा ही। यह है हिन्दू-

मन्दिरका यथार्थ चित्र। यह घृणाकी वस्तु है। आज जिसे रहनेकी जगह न हो, खानेको अन्न न हो, वह किसी तरह हनुमानका मन्दिर बनाले, बस, भाड़ा आवेगा, तेल चढ़ेगा, भगत खडे होंगे, मौजमजाका आरम्भ होगा। यह है अपने मन्दिरोंका आदर्श। इसमें किंचित् भी हिन्दू-संस्कृति या आर्य-संस्कृतिका सम्बन्ध नहीं है। मैं चाहता हूँ कि ऐसे खुले मन्दिरोंके पीछे पैसा खर्च न हो। इस पैसेका उपयोग किसी अच्छे काममे किया जा सकता है। ये सर्वथा निरर्थक हैं। जिसे उपासना करना हो, मूर्तिको पूजना हो वह अपनी इच्छाके अनुसार छोटा-सा मन्दिर अपने घरमे रक्खे। एक ताखेसे भी काम चल सकता है। उसमें इच्छानुसार ही एक मूर्ति, चाहे जिस देवताकी रखकर उसकी स्वयं पूजा करना चाहिये। वहाँ धूप-दीप करना चाहिये। घण्टा-घड़ीकी जरूरत नहीं है। उपासनाके स्थानमें उपासनाके समय दूसरा कोई न आसके। उस स्थानमें बिना पाँव धोए कोई न आवे। ऐसी घर-घर मूर्ति चाहिये, मन्दिर चाहिए। उसकी पूजा अपनी इच्छाके अनुसार होना चाहिये। जिस प्रकार घर बनाते समय एक रसोई घर बनता है, शौचालय बनता है, स्नानघर बनता है उसी प्रकार भगवान्के लिये भी स्थानकी व्यवस्था होना चाहिये। इस प्रकारकी मूर्तिपूजाका मैं पक्षपाती हूँ। पर जिस प्रकारसे आज चल रहा है उसमें मुझे जरा भी प्रेम या श्रद्धा नहीं है। मन्दिरकी मूर्ति अपना देवता नहीं है, भाडेका देवता है। पूजता है दूसरा, स्नान कराता है दूसरा, भोग रखता है दूसरा, और दर्शन करने तुम जाओ, इसका कोई अर्थ नहीं है। यह तो धर्म-यात्री जैसी बात हुई। धर्मशालामें कोई असहाय यात्री आकर पड़ा हो, आप वहाँ जाएँ, एक रोटीका आटा, और शाकके लिये दो पैसे देकर चले आवें, यही दशा भगवान्की हुई है। मुझे इसमें लज्जा होती है, आपको लाज नहीं लगेगी, क्योंकि आप व्यापारी हैं। व्यापार आपको प्रिय है। हमको यह थोडा भी अच्छा नहीं लगता।

मूर्ति ही ईश्वर नहीं है। यह ईश्वर का प्रतीक है। उपासनाके

लिये इस प्रतीककी कल्पना हुई है। अपने ईश्वर सभी राजा अथवा राजकुमार हैं। इसीसे ईश्वरको अस्त्र-शस्त्रोंसे सजाया जाता है। नहीं तो इन हथियारोंकी जरा भी आवश्यकता नहीं है। शान्ति चाहने वालोंको इन हिंसक अस्त्र-शस्त्रोंसे क्या मिलना है ? अब एक नया धर्म चला है। हथियारोंके द्वारा देवीकी आरती उतारी जाती है। यह सब हिन्दूधर्मका पागलपन है। उपनिषद् कहते हैं कि "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" समस्त जगत् ब्रह्म है, जो कुछ है, ब्रह्मके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। मूर्तिके पत्थर भी ब्रह्म ही हैं। पर यह ब्रह्म अपने कामका नहीं। ब्रह्म होता हुआ भी आभासित होता है, जगत् रूप से। अध्यस्त भासित होता है, अधिष्ठान भासित नहीं होता। अध्यस्त मिथ्या है, अधिष्ठान सत्य है। सत्यकी प्रतीतिके लिये एक प्राथमिक शिक्षा ली जाती है। वही मूर्ति पूजा है। मैं मूर्ति पूजाको जीवनकी अन्तिम वस्तु नहीं मानता। आप सत्योपासना करना सीखें और सच्ची भक्ति करने लगें तो आप भी ऐसा ही कहेंगे कि मूर्तिपूजा मनुष्यके जीवनमें लिपट ही जाय ऐसी वस्तु नहीं है। जहाँ तक आवश्यकता मालूम पड़े वहाँ तक मूर्तिको पूजें। तल्लीनताका अनुभव हो, जगत् भूल जायँ, जगत्की वस्तुएँ भूल जायँ, आप अपनेको भी भूल जायँ, तब कौन किसको किस साधनसे पूजेगा ? यह सच्ची दशा है। आप वहाँ पहुँचे नहीं हैं, इसलिये कदाचित् मेरी बात सत्य नहीं भी लगे। पर एक दिन तो आपको मेरी ही बात रुचेगी। जैसे योगी लोग नासिका, भ्रमरमध्य आदि अथवा पीठकी करोड़ रज्जु आदिको ध्यानके स्थानकी भाँति बताकर वहाँ ध्यान करनेका आग्रह करते हैं, पर वे स्थान हमेशाके लिये तो नहीं ही हैं। वे अभ्यासके लिये हैं। समाहित होना आ जाय तो उसको छोडकर उपास्यदेवकी समाधिमें डूब जायँ। मूर्तिपूजा भी ऐसी ही वस्तु है। उपासना करना आ जाय तब निराकार शालिग्राम लेकर अलग हो जाय। फिर शालिग्रामको छोडकर जैसा कि अनेक बार मैंने यही कहा है, आत्मसाक्षात्कारमें तल्लीन हो जाइये। आत्मसाक्षात्कार ही भगवत्साक्षात्कार है।

किसीको यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि हमको भगवान् आकर मिल जायेंगे। इसका नाम भगवत्साक्षात्कार नहीं है। भगवान्मे जिन सद्गुणोंकी आपने कल्पनाकी है अथवा दूसरोंके कल्पित जिन गुणोंको आप भगवान्में मानते हों, उन्हीं गुणोंका आपमें साक्षात्कार हो तो इसीका अर्थ भगवत् साक्षात्कार है। आपको ललचानेके लिये ही लिखनेवाले लिखते हैं, कहनेवाले कहते हैं कि ऐसा करो तो भगवान् साक्षात् दर्शन देंगे। किसीको भी भगवान्के दर्शन नहीं होते। हुए भी नहीं, होंगे भी नहीं। वह भ्रम है। भ्रममेंसे आपको निकल जाना है और स्वयं भगवान् बनना है। भगवान् प्रकाश स्वरूप हैं। आप पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर उसी प्रकाशको प्राप्त करें। वह सर्वज्ञ है। आप मानसिक बल बढ़ाकर निर्मल बनकर सर्वज्ञ बनें। भगवान् परम दयालु हैं, आप भी गरीबोंके लिए आँसू और रक्त बहाने की तैयारी करें। भगवान् उदार हैं, आप भी अपनी तिजोरी खाली करना सीखें। आप भगवान् बन जाएँगे। भगवान्का साक्षात्कार आपको हो जायगा। यों तो आपको भ्रममें डालनेके लिए संसारमें चमत्कारसे भरे हुए अनेक पत्थर पड़े हैं। जैसा आपका प्रारब्ध। इस शब्दके सिवा दूसरा क्या कहा जा सकता है।

मूर्ति भगवत्साक्षात्कारका एक साधन है, अतः उसे किसी प्रकारसे अपवित्र न करें। गाजा, बीडी, सिगरेट आदि पीनेवालेको मूर्तिपूजाका अधिकार नहीं है। प्रत्येक वस्तुका अधिकार होता है। व्यसनी पुरुष या स्त्री, भगवत् मार्गके लिए सर्वथा अयोग्य हैं। इस मार्गमें जानेकी जिसकी इच्छा हो उसे निर्व्यसन बन जाना चाहिये। पापाचारसे मूर्तिपूजाका कोई सम्बन्ध नहीं है। मूर्तिपूजाके लिए आपके हृदयमें जो सच्चा प्रेम उत्पन्न हुआ हो तो उसी प्रेम जलसे आप अपने व्यसनोंको धोकर साफ करें, दूर करे। फिर मूर्तिपूजाके द्वारा आन्तरिक दोष, पाप जला डालें। भगवत् साक्षात्कार हो जायगा।

२२–६–५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

साम्प्रदायिक रीति से मूर्ति पूजा

मुझे आज विलम्ब हुआ है, इसका खेद है। हमलोग मूर्ति पूजाका विचार कर रहे थे। अभी इस विचारको आगे बढाना चाहिये। आज हम इस रीतिसे विचार करे कि साम्प्रदायिक इस सम्बन्धमें कैसी मान्यता रखते हैं। वैष्णवोंके आज मुख्य चार सम्प्रदाय प्रवृत्त हैं। उनमें सबसे प्राचीन और प्रगतिशील सम्प्रदाय श्रीसम्प्रदाय है। श्रीसम्प्रदायके दो मुख्य आचार्य हुए हैं, श्रीरामानुजाचार्य दक्षिण भारतमें और श्रीरामानन्दाचार्य उत्तर भारतमें। दोनों आचार्योंमे अमुक अंगोंमे मतभेद तो है ही; फिर भी मूर्ति पूजाके सम्बन्धमें दोनों एकमत हैं। श्रीसम्प्रदायकी मूर्तिपूजाकी पद्धतिका विचार कर लेनेके पश्चात् दूसरे सम्प्रदायोंकी पद्धतिके विचारकी आपको आवश्यकता नहीं रहेगी।

यजुर्वेदके जिस मन्त्रको मैंने एक दिन सुनाया था और मैंने ही कहा था कि लोग मानते हैं कि भगवान् अकाय हैं, उसके शरीर नहीं है किन्तु श्रीरामानन्दाचार्यके अनुयायी इसी मन्त्रसे भगवान्‌के शरीरकी सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं—

"स पर्यगात् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धम् अपाप विद्धम्........"

इस मन्त्र मे परमात्माको अकाय कहा गया है किन्तु इस कथनका रहस्य दूसरा है। अकाय अर्थात् जिसका शरीर न हो वह। यदि परमात्माके शरीर न हो तो शरीरमें होनेवाले दोष भी नहीं ही होंगे। तब अकाय कहने से ही स्वयं सिद्ध होता है कि उसमें कोई दोष या विकार नहीं है जो वस्तु स्वयं सिद्ध है उसके लिए वेदको प्रयास नहीं करना चाहिये। पर इस मन्त्रमें अकाय कहकर भी अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धम् अपापविद्धम् कहा गया है। अव्रणम् अर्थात् जिसके शरीरमें घाव, फोड़ा, फुंसी न हो। अस्नाविरम् अर्थात् जिसके शरीरमें नस-नाडी न हो वह। शुद्धम् अर्थात् शरीर में शरीर संबधी पसीना आदि दूसरे दोष

न हो वह । अपाप विद्धम् अर्थात् शरीर संयोगसे आचरण करते हुए पापोंसे परे हो वह । दोष निवारणके लिए ही इन शब्दों द्वारा प्रयत्न किया गया है । इस निरर्थक प्रयत्नकी क्या आवश्यकता ? क्या कारण ? कणाद कहते हैं "बुद्धिपूर्वा कृतिर्वेद" वेदमें जो कुछ है बुद्धि पूर्वक ही है । बुद्धिसे बाहरकी बुद्धिहीन कोई वस्तु नहीं है । अतः वेदमें जो शब्द हो वह तो बुद्धिपूर्वक ही होना चाहिये । इसलिए अकाय कहनेके बाद भी चार विशेषणोंका तात्पर्य क्या है, उसे विचारें । ईश्वरको काय तो है ही इसका अस्वीकार नहीं किया जा सकता । काय अर्थात् शरीर । बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा गया है—

"यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्य आपः शरीरम्, यस्य अग्निः शरीरम्, यस्य अन्तरिक्षं शरीरम, यस्य वायुः शरीरम्, यस्य द्यौ. शरीरम्, यस्य आदित्यः शरीरम्, यस्य दिशः शरीरम्, यस्य चन्द्रतारकं शरीरम्, यस्य आकाशः शरीरम्, यस्य तमः शरीरम्, यस्य तेजः शरीरम्, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्, यस्यप्राणः शरीरम्, यस्य वाक् शरीरम्, यस्य चक्षुः शरीरम्, यस्य श्रोत्रं शरीरम्, यस्य मनः शरीरम्, यस्य त्वक् शरीरम्, यस्य विज्ञानं शरीरम्, यस्य रेतः शरीरम् । (सप्तम ब्राह्मण–३–२३)"

इन श्रुतियोंमें पृथ्वी, जल, अग्नि, अंतरिक्ष, वायु, दिश, आदित्य, दिक्, चन्द्रतारक, आकाश, तमस्, तेजस्, भूत, प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, रेतस् इन सभीको आत्माका अर्थात् ब्रह्मका इसलिए ही ईश्वरका शरीर कहनेमे आया है । अतः ईश्वरके शरीरको अस्वीकार नहीं किया जा सकता । जब ये सब शरीर हैं हीं तो क्यों न ईश्वरका एक दिव्य शरीर न माना जाय ? इसलिये श्रीसम्प्रदाय एक दिव्य भगवद् विग्रहको मानता है । यजुर्वेदके अकाय शब्दका भी भौतिक काय ईश्वरके नहीं है, इतना ही अर्थ मानना चाहिये । दिव्य काय तो है ही । और वह काय सभीको इष्ट नहीं है इसलिये शकाका

अवकाश रहता है कि उसमें फोड़ा-फुंसी, नसनाड़ी, अशुद्धता, आदि विकार होंगे, इसी शंकाकी निवृत्तिके लिए ही दूसरे चार विशेषण दिये हैं, इस प्रकार अकाय शब्दका ही अर्थ सकाय-सशरीर बनता है। वह ईश्वर शरीरी होते हुए भी नित्य अविनाशी हैं, कदाचित् कोई ऐसा कहे कि शरीरका नाश भी देखनेमें आया है, इससे शरीरी ईश्वरका शरीर भी नाशवान् होगा, तो इसका उत्तर यह है कि शरीर होता है ऐसी व्याप्ति नहीं है, भौतिक शरीर नाशवान् है ऐसी व्याप्ति है, जो-जो जन्य होता है वह नाशवान् होता है, इस व्याप्तिके बलसे ऐसा माना जाता है कि शरीर जन्य है—पैदा होता है, इससे वह नाशवान् है। जन्य भौतिक शरीर है इससे उसका नाश होता है, दिव्य शरीर जन्य नहीं है, अनादि कालके भगवत्संकल्पमें वह शरीर अनादि है। उसकी उत्पत्ति नहीं है, भगवान् अनादि है, उसका शरीर भी अनादि है। जिस प्रकार ब्रह्मको—ईश्वरको निर्गुण कहनेमें आता है और उसका केवल इतना ही अर्थ होता है कि वह दुष्ट गुणोंसे रहित है। दया, औदार्य, दाक्षिण्य आदि उसमें होते ही हैं। ऐसे सद्गुण हों तो ईश्वरका कुछ बिगड़ता नहीं है। कदाचित् कहें कि अद्वैत-हानि होगी, यह भी दोष नहीं है। अद्वैत-हानि तभी होगी जबकि ब्रह्म या ईश्वर अनेक माने जायँ, ऐसा नहीं है। उसके केवल गुणोंको ही श्रीसम्प्रदाय नित्य मानता है। उसके गुण उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं हैं। जैसे दाहकता गुण अग्निमें अपृथक् सिद्धि सम्बन्धसे रहता है वैसे ही ईश्वरकी दया ईश्वरमें अपृथक् सिद्धि सम्बन्धसे रहती है; ऐसा नहीं मानना है। दया, औदार्य आदि उसके गुण उससे पृथक् नहीं हैं। वह दया रूप ही है। वह औदार्यरूप ही है। कदाचित् आप कहें कि ईश्वर तो द्रव्य है, दया गुण है। द्रव्य गुणरूप कैसे होगा? श्रीसम्प्रदायकी दृष्टिसे यह प्रश्न भी भ्रमपूर्ण है। दया, औदार्य आदि क्या हैं? ज्ञान विशेष हैं—बुद्धि विशेष हैं। पर दुःख सहन करनेकी अशक्तिके कारण अयम् उद्धार्यः इसका उद्धार करना ही चाहिये, ऐसा ज्ञान ही दया कहलाती है। ज्ञान द्रव्यरूप भी होता है, गुणरूप भी होता है। भगवद्ज्ञान द्रव्यरूप ही है। इसलिये

कभी उसमें अद्वैत-हानिरूप दोष नहीं है। वह अद्वैत ही रहता है, क्योंकि वह भगवद्ज्ञानरूप द्रव्य भगवान् से पृथक् नहीं है, भगवद्रूप ही है, इस प्रकारसे ईश्वर सशरीर और सर्वगुण सम्पन्न होता हुआ भी अविनाशी और अद्वैत ही रहता है।

एक दूसरी वस्तु—भगवान् सशरीर होता हुआ भी मनुष्यके देहके समान देह धारण करनेवाला नहीं है। वह निराकार है। वह तो "अपाणिपादो जवनोऽग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" वह विना हाथका है फिर भी सर्वग्राही है। वह पादहीन है, फिर भी अतिगतिवाला है। वह नेत्रहीन है फिर भी सर्वद्रष्टा है। वह कर्णहीन है फिर भी सर्वश्रोता है। वह तो अद्भुत पदार्थ है। हम लोगोंको वह अद्भुत ही लगता है। जैसे विद्युत्का शरीर दृश्य नहीं है फिर भी उसका एक शरीर तो है ही। प्रकाश यही उसका शरीर। पवनके हाथ-पाँव नहीं हैं फिर भी चलता है और पकड़-पकड़कर बडे-बड़े वृक्षोंको तोड़ डालता है। उसका भी एक देह तो है। स्पर्शसे उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार ईश्वरके हाथ, पाँव, कान, नाक, कुछ नहीं है तो भी वह सर्व इन्द्रियोंका कार्य करता है। सर्पको कान नहीं होता फिर भी सुनता है। वह आँखसे ही सुननेका काम करता है। इससे चक्षुःश्रवा कहलाता है। हम आँखसे सुन नहीं सकते। सर्पका आँखसे सुनना हम सबोंको आश्चर्यमें डालता है। परमात्मा तो सर्वाश्चर्यमय है। अपने समान ही हम उसे मानते हैं इसलिये अपने समान ही उसे भी इन्द्रियादिके परतन्त्र मानते हैं। अतएव उसका हस्तपादादिरहित ही एक दिव्य देह है। उसीको वेदोंमें परम व्योम कहा है।

एक दूसरी शङ्का—यदि परमात्माके हस्तपादादि अवयव न हों, आकार न हो, वह निराकार ही हो तो वैष्णवोंके ग्रन्थोंमें—

विलोक्य केपीह पदारविन्दे,
समुल्लसन्तं तव पारिजातम्।

त्वामाश्रयन्ते, परमेष दासो,
दयानिधे दीनतया प्रपन्नः ॥

इस प्रकारसे कहा गया है इसका क्या उत्तर ? इस श्लोकका अर्थ है "हे भगवान्, कितने ही लोग तो आपके चरणारविन्दमें रहे हुए कल्प-वृक्षको देखकर लोभसे आपका आश्रय लेते हैं। मैं लोभसे नहीं, पर दीनताके कारण आपकी शरण आया हूँ।" इसमें चरणका वर्णन है, दूसरे श्लोकोंमें मुख, नेत्र, हस्त आदिका वर्णन भी है, यदि उसका कोई आकार न हो तो इस वर्णनका क्या अर्थ ? इन प्रश्नोंका भी वैष्णवोंके पास उत्तर है और वह सत्य उत्तर है।

उपासकोंकी अनुकूलताके लिये ही ईश्वरके रूपकी कल्पना हुई है। जो उपासक अरूप सगुण ब्रह्मकी उपासना न कर सकता हो, जिसकी चित्तवृत्ति चञ्चल हो जाती हो, जिसे एक आश्रय अवलम्बकी आवश्यकता प्रतीत होती हो, उसके लिये मुख आदि अवयवोंकी कल्पना की गयी है। देखें। सुनें। रामपूर्वतापिनी उपनिषद्में कहा है—

रमन्ते योगिनोनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्फलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कामार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

"योगी-यति, ब्रह्मचारी उस अनन्त, नित्य, आनन्दस्वरूप, चित्स्वरूप, ब्रह्ममें रमण करते हैं। ध्यानावस्था प्राप्तकर आनन्दित होते हैं। इसीसे अर्थात् रमण करनेसे ही वह परब्रह्म रामशब्दसे भी कहा जाता है। अर्थात् ब्रह्मका ही एक दूसरा नाम राम है। यह नाम इसलिए पड़ा कि उसमें योगिजन रमण करते हैं, अर्थात् राम और ब्रह्म ये दोनों शब्द समानार्थक हैं—पर्यायवाचक हैं। ऐसे चिन्मय, अद्वितीय, कलारहित, शरीररहित ब्रह्मके रूपकी कल्पना तो केवल उपासकोंके लिए ही है। दूसरा कारण नहीं है। इन दोनों श्लोकोंसे दो वस्तुएँ प्रतिपादित होती

हैं : एक तो यह कि राम शब्दसे दशरथकुमार रामका ग्रहण नहीं है किन्तु परब्रह्मका ही नाम है। जिस प्रकार बृंहणाद् ब्रह्म जगत्का सर्जन कर, संवर्धनकर स्वय इसमें व्यापक होकर उससे भी बढ जाता है इससे वह परमात्मा ब्रह्म कहा जाता है। एवं रमणात् रामः तत्त्वज्ञानी उसमे रमण करते हैं इसलिए ब्रह्म ही राम भी कहा जाता है। और ऐसे ब्रह्मका रूप तो शास्त्र प्रसिद्ध नहीं है तो उसका आकार किस प्रकार आ गया ? इस प्रश्नके उत्तरमें दूसरी वस्तु प्रतिपादित होती है कि "यद्यपि ब्रह्म चिन्मय है, अद्वितीय है, निष्कल है, निराकार है तथापि उपासकोंके लिये उसका रूप कल्पित किया गया है।

किंच, साम्प्रदायिकोंने भगवन्मूर्तिका नाम अर्चावतार अथवा अर्चा-विग्रह रखा है। वस्तुतः यह नाम शालग्रामके हैं। ब्रह्म निराकार और निरवयव है। इससे उसकी उपासनाके लिये सर्वप्रथम शालग्रामकी कल्पना हुई और वह भी विष्णु स्वरूपकी पूजाके लिये। इस दृष्टिसे अर्थात् उसको अर्चावतार माननेके लिये वह मूर्ति, वह विग्रह साक्षात् भगवत्स्वरूप ही माना जाता है। वह शालग्राम पीछेसे विष्णुके सभी स्वरूपोंका प्रतिनिधि बना। इससे रामोपासक, नारायणोपासक, कृष्णोपासक, सभी उनकी पूजा करते हैं, और यात्रादिमे किसी भी मूर्तिके बदले उसको पूज लेते हैं।

जो लोग सम्प्रदायाचारमें विश्वास न रखते हों उनकी दृष्टिमें मूर्ति-पूजा किस प्रकार संगत है, अब इसका विचार किया जाय। जो लोग ईश्वरको मानते होंगे वे लोग उसकी प्राप्तिके लिये भक्ति, उपासना, योग ऐसे किसी नामके द्वारा परिचित साधनोका उपयोग करते होंगे। चाहे साकार ईश्वर माना जाता हो अथवा निराकार ईश्वर। परन्तु यदि वह न माना जाता होगा तो, इन तीन साधनोंमेंसे कोई-न-कोई साधन स्वीकृत किया गया होगा। मैं इसमें एक चौथी वस्तु जोड़ता हूँ वह है विशुद्ध प्रेम। विशुद्ध प्रेमको मैं प्रेमलक्षणा भक्ति नहीं कहता। वह है भी नहीं। वह प्रेम है और विशुद्ध प्रेम है। प्रेमसे भी मैं मुक्तिका स्वीकार करता हूँ।

मीरा इसी विशुद्ध प्रेमसे मुक्त हुई होगी। जो भक्तिसे मुक्ति होगी तो शुद्ध प्रेमसे भी मुक्ति होना ही चाहिये। जिस प्रकार भक्ति हृदयके तारोंको झङ्कृत करती है उसी प्रकारसे विशुद्ध प्रेम भी झङ्कृत करता है। प्रेममेंसे ही मूर्तिकी कल्पना होती है।

कृष्णकी राधा क्या थी? केवल प्रेमका केन्द्र। भागवतमें तो राधा नहीं ही है। ब्रह्मवैवर्त आदिमें जहाँ वह है वहाँ केवल प्रेमकी कल्पित मूर्ति ही है। कृष्ण अपना मनोविनोद कल्पित राधाके साथ ही पूरा कर लेते। यह उनकी युवावस्था थी। पीछे तो वह योगिराज योगेश्वर बने। कोई मनुष्य अपने मनकी शान्तिके लिये यदि कल्पित मूर्ति बनाता हो तो वह अन्याय तो नहीं ही है। उसके—उस कल्पित मूर्तिके आगे बैठकर यदि कोई जीव अपने हृदयका मन्थन करता हो, अपने दोषोंको चुन-चुनकर बाहर निकालकर मूर्तिरूप अग्निमें होम देता हो, उस मूर्तिमें ही तन्मयताका अनुभव करता हो, उस मूर्तिके कारण ही वह यदि जगत्को भूल जाता हो तो वह मूर्ति किस लिए निन्द्यपात्र गिनी जाय? परन्तु यदि केवल विलासके लिए ही सुन्दर मूर्ति शोधी जाती हो, आँखोंको खुश करनेके लिये ही यदि सुन्दर वस्त्र और सुन्दर अलङ्कार उस मूर्तिके लिये शोधे जाते हों, और वह बाह्य सुन्दरता ही किसीके चित्तको मूढ बनाने वाली वस्तु हो, तो उस मूर्तिपूजासे कुछ भी लाभ नहीं, इतना मैं आज फिर पिछले भाषण में जोड़ देता हूँ।

२३–६–५० को मुम्बासा में दिया गया प्रवचन।

पुराण

पुराणों के सम्बन्ध में मैं कुछ कहूँ इसके पूर्व आपको एक श्लोक सुनाने की मेरी इच्छा हो गयी है। यह श्लोक मुझे बहुत वर्षों से याद है, पर यदि आप पूछेंगे कि इसका घर कहाँ है तो मैं बता नहीं सकूँगा। क्योंकि अभी तक मेरी दृष्टिमें किसी मूलग्रन्थमें यह मिला नहीं है।

इस श्लोकका अर्थ भी मै आपको सुनाऊँगा परन्तु आपमें से किसी को घबडाना नहीं है। क्रोध भी नहीं करना है। आश्चर्य भी नहीं करना है। यह तो एक मनोरञ्जन है। वह श्लोक यह है—

वेदैर्विहीनाः प्रपठन्ति शास्त्रम्।
शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः॥
पुराणहीनाः कृषका भवन्ति।
भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥

इस श्लोकमें सीढ़ी की चढ़ाई-उतराई जैसा कुछ है। यह कहता है कि—

"वेदका पढना सबसे अच्छी वस्तु है। जिसको वेद नहीं आवे, वेद न समझ सके, वेदमें आनन्द न प्राप्त कर सके, वे शास्त्र सीखते हैं, पढते हैं। जिन्हें शास्त्र न आवे, वे पुराण पढ़ते हैं। पर जिसे वेद भी न आवे, शास्त्र भी न आवे, और पुराण भी न आवे, ऐसे ठोंठ लोग किसान बनते हैं। पर जो महान् आलसी हो, किसान बननेमें जो श्रम और प्रामाणिकता रहती है, वह जिसे रुचिकर न हो, वह भागवत की पोथी लेकर पृथिवी की परिक्रमा करते हैं। इस श्लोकमें अधिकारियोंका वर्णन हुआ है। यद्यपि यह वर्णन बहुत सत्य नहीं है। वेद, शास्त्र पढ़कर भी मनुष्य को किसान तो बनना ही चाहिये। ज्ञान और कलाका भाग करना चाहिये। ज्ञानको रोटीका साधन बनानेमें न आवे तो बहुत अच्छा; क्योंकि जो ज्ञान रोटीका साधन बने तो गुरुभाव समाप्त हो जाय। ज्ञान देकर बदलेमें पैसा लेनेवाला कैसा गुरु होगा? वह गुरु ही नहीं, वह शिक्षक भी नहीं, वह तो नौकर है। भिक्षावृत्तिसे जीना यह भी अच्छा नहीं। प्रत्येकके आगे हाथ पसारनेवाला कैसा मनुष्य? मनुष्य नहीं, वह तो कुत्ता है, मानहीन और गौरवहीन है। जिसे अपना गौरव प्रिय होगा वह किसीके आगे भिक्षा नहीं मांगेगा। कोई श्रद्धासे दे जाय यह अलग वस्तु है। अतः किसान बनकर, परिश्रम करके, अन्नदेव को

उपजाकर, पेट भरनेमें, बालबच्चोंका पालन करनेमें मनुष्यता की रक्षा होती है, धोखादेकर, पाखण्डसे, दम्भसे, पैसा पुजानेमें मनुष्यता आघा- रित होती है। हमलोग मनुष्य हैं। अपने धर्मका, अपने स्वरूपका नाश हमें नहीं करना चाहिये। कूपकको तीसरी सीढ़ीपर बैठानेमें बुद्धि- मत्ता नहीं है। सबसे अधिक भ्रष्ट भागवत बाँचनेवाला होता है, यह बात कदाचित् मानी जा सके। क्योंकि वह मोक्ष बेचनेका धन्धा लेकर बैठता है। भागवत् मोक्षग्रन्थ माना जाता है। सात दिनमें ही, चाहे जैसे पापी को मोक्ष धाममें पहुँचानेका वह ठेका लेता है। पचास, सौ रुपये में वह मोक्ष दे देता है। इससे मोक्षका सौदा करनेवाला सबसे अधिक अधम हो सकता है। आज तो प्रत्येक ग्रन्थ रोटीका साधन बन गया है। परन्तु आज तो जैसा वातावरण प्रस्तुत है उसी प्रकारसे ही चलनेमें कुशल है, तो भी धनेच्छासे भागवत बाँचनेका धन्धा तो खराब ही है। क्योंकि वह धन्धा ही नहीं है। वह एक प्रकार की भिक्षावृत्ति है—अस्तु।

अब पुराण की बात—पुराणोंमें जो कथा लिखी हुई है, उसकी ओर दृष्टिपात करते हुए, पुराणों को आदर्श समझनेमें विद्वान् मनुष्य अवश्य उलझनमें पड़ेगा। कितनी ही ऐसी गन्दी और असंगत कथाएँ उसमें भरी हुई हैं कि मनुष्य को रोष आये बिना नहीं ही रहेगा। ईश्वरके पृथक्-पृथक् स्वरूपों की कल्पना पुराणोंने की ही है। पुराणों को बनाने- वाला कोई एक व्यक्ति नहीं है। वह तो अलग-अलग मस्तिष्क की उपज है। उसमें लड़ा मारने की बातें बहुत सी हैं। एक पुराणमें शिव की निन्दा तो दूसरेमें उसकी स्तुति। इसी प्रकार एक पुराणमें विष्णु की निन्दा तो दूसरेमें उसकी स्तुति। एक पुराणमें भस्म और रुद्राक्ष की निन्दा तो दूसरेमें उनकी ही स्तुति। एक पुराणमें तिलक और तुलसी की निन्दा तो दूसरेमें उसकी ही स्तुति। यह सब जानकर मनुष्य अवश्य आकुल होगा, कुछ समझमें न आवेगा। निन्दास्तुतिसे अलग रहकर यदि इतना ही लिखा गया होता कि राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, गणपति, सूर्य,

आदि देव समान ही हैं। एक ही परमात्माके पृथक्-पृथक् नाम हैं, जिसे जो रुचिकर हो वह उसको भजे। तिलक और माला की निन्दा स्तुति न करके जो सीधी रीतिसे कहनेमें आया होता कि जिसकी इच्छा हो वह ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक करे, जिसकी इच्छा हो वह भस्मधारण करे, जो चाहे वह तुलसी धारण करे, जो चाहे वह रुद्राक्ष धारण करे तो अधिक उचित कहा जाता। पद्मपुराणमें कहा गया है कि—

ऊर्ध्वपुण्ड्रमूर्ध्वरेखं ललाटे यस्य दृश्यते।
चण्डालोपि स शुद्धात्मा पूज्य एव न संशयः॥

अर्थात् "जिसके मस्तक पर खडी रेखाओंके साथ ऊर्ध्वपुण्ड्र (तिलक) देखनेमे आवे यदि वह चाण्डाल हो तो भी वह शुद्ध स्वरूप है। वह पूजने योग्य है इसमें संदेह नहीं।" इतना कहकर तुरन्त ही वहाँ ही नीचे दूसरा श्लोक कहा गया किः—

यस्योर्ध्वपुण्ड्रं दृश्येत ललाटे न नरस्यहि।
तद्दर्शनं न कर्तव्यं दृष्ट्वा सूर्यं निरीक्षयेत्॥

अर्थात् "जिसके मस्तक पर कथित ऊर्ध्वपुंड्र देखनेमे न आवे उसका दर्शन नहीं करना चाहिये। और यदि उसका दर्शन हो ही जाय तो सूर्य दर्शन कर लेना चाहिए" अन्तिम श्लोक यदि न लिखा गया होता तो लिखने वालेकी मर्यादा बढ़ जाती। इसी पुराणमें एक दूसरी जगह कहनेमें आया है कि—

त्रिपुण्ड्रं यस्य विप्रस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं न दृश्यते।
तं दृष्ट्वाप्यथवा स्पृष्ट्वा सचैलं स्नानमाचरेत्॥

अर्थात् "जिसके मस्तक पर भस्मसे किया त्रिपुण्ड्र देखनेमे आवे और ऊर्ध्वपुण्ड्र न दीख पडे उसका दर्शन करके अथवा उसका स्पर्श करके सभी वस्त्रोंके साथ स्नान कर पवित्र होना चाहिये। पुराणोंमे यदि यह लडाईकी बात न होती तो बहुत ही अच्छा होता। परन्तु अब तो ऐसा होता तो अच्छा और वैसा न होता अच्छा" कहनेका कुछ प्रयोजन नहीं,

जो है सो है। अब तो जिस प्रकारसे है उसी रीतिसे है उसी रीतिसे उसकी उपयोगिताका विचार करना चाहिये। पुराण भले ही किसी वस्तुको धर्म बताएं अथवा चाहे किसीको अधर्म बताएं उसके साथ अधिक सम्बन्ध नहीं है। वह तो धर्मको भी अधर्म और अधर्मको भी धर्म कह सकता है। ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करनेवाला ऊर्ध्वपुण्ड्रको धर्म और पवित्र वस्तु मानता है। पद्मपुराण कहता है कि उसका मुख अपवित्र है। त्रिपुण्ड्र लगानेवाला या रुद्राक्षकी माला पहरनेवाला मानता है कि वह धर्म युक्त कार्य कर रहा है। पद्मपुराण कहता है कि वह भी अपवित्र है। इस प्रकार किसीके कहनेसे कोई अपवित्र नहीं होता, ऐसे ही किसीके कहनेसे कोई पवित्र भी नहीं हो जाता, "गुञ्जा पुञ्जादि दह्येत नान्यारोपित वह्निना" घूंघचीके ढेर को देखकर किसी को दूरसे आगका ढेर मालूम पडे इससे घुघचीका ढेर आग नहीं बन जाता। अतएव पुराणोंके देखनेके लिए एक नयी दृष्टि चाहिये, वह यह है—पुराणोंकी सृष्टि प्रवृत्ति और निवृत्तिके लिये ही है। यही इसका आदर्श है। मनुष्यकी सत्कर्ममें प्रवृत्ति हो, और असत्कर्ममें से उसकी निवृत्ति हो, वह सत्कर्ममें प्रवृत्त हो, और असत्कर्मसे निवृत्त हो, बस, यही पुराणोंका प्रयोजन है। पुराण सत्य बोलते हैं कि झूठ बोलते हैं इसका विचार ही नहीं करना है। भविष्यपुराणमे नृसिंह मेहताको, और गागनौरगढ़के महाराज तथा स्वामी रामानन्दके शिष्य पीपाको दक्षिण देशका वैश्य कहा है। यह सर्वथा असत्य है। ऐसी तो कितनी ही पुराणोक्त घटनाएँ असत्य हैं। इनका विचार करने लगेंगे तो पुराणोंका पता नहीं लगेगा। अतएव मैंने जो कहा है वही पौराणिक आदर्श है। उसी रीतिसे उनका विचार करना चाहिये। पुराणोंमें स्वर्गका जो आकर्षक और प्रलोभक वर्णन हुआ है और नरकके जो घृणित वर्णन हुए हैं उनमेंसे एक भी सच्चा नहीं है। सत्यताके लिये उनका वर्णन हुआ भी नहीं है। स्वर्गका आकर्षक वर्णन स्वर्ग प्रापक योग्य कार्योंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति करानेके लिये ही हुआ है। नरकका रोमाञ्चक वर्णन नरक प्रापक कर्मोंसे

दूर रखनेके लिए ही हुआ है। इस आदर्शको समझकर इसमें जो अच्छा हो वह ग्रहण करना और जो निकम्मा हो उसका त्याग करना चाहिये। यही मनुष्यता है।

प्रत्येक पुराणका अलग-अलग समय है, यदि वह समय निश्चय हो जाय तो तत्कालीन कितनी ही प्रथाओंको हम समझ सके। उस समयका कितना ही सत्य इतिहास हमको मिल सकता है। उस समयमें लोगोंको कितना भ्रम हैरान करता था, उन लोगोंका किस रूढिमे जीवन व्यतीत होता था, यह सब हमें समझनेको मिले। उस समयके आचार, विचार, लोगोंकी मनोभावना, सामाजिक परिस्थिति, निर्बलताएँ, पुराणोंमेसे हमें जाननेको मिलें। उनमे बहुत कुछ हैं। बहुत लोकोपकारक और शास्त्रोपकारक घटनाएँ हैं। ज्ञानको समृद्ध करें, भक्तिको जीवन प्रदान करे, आचारको पवित्र करें ऐसे बहुतसे विषय पुराणोंमे भरे हैं। पुराणोंके संशोधनकी आवश्यकता है। बौद्धों ने अपने धार्मिक ग्रन्थोंके संशोधनके भूतकालमे विद्वानो और बौद्धभिक्षुओंकी बड़ी-बड़ी सभाये भरी हैं और ग्रन्थोंके प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी मीमासाकी है। जैनियोंने भी अपने ग्रन्थोकी प्रामाणिकता स्थिर करनेके लिये ऐसी सभायें भूतकालमे भरी हैं। हिन्दूधर्म इस दिशामे उदासीन है। उसे ऐसा लगता है कि आर्य ऋषि जो कुछ कह गये हैं वह अमर सत्य है---निर्भ्रम है, उसमे थोडे भी संशोधनकी हिन्दूधर्मको आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इसीसे हिन्दूधर्म धीरे-धीरे क्षीण हो रहा है। हिन्दूधर्मका विस्तार बहुत है। इससे उसकी क्षीणता शीघ्र किसीके ध्यानमे नहीं आती। धर्म और जातिके हितैषी इस क्षीणताको, इस ह्रासको, इस अधःपतनको अच्छी तरहसे देख रहे हैं। मूर्खोंको यह नहीं दीखता। वे मदोन्मत्तकी भाँति पुरानी लीकपर चले जा रहे हैं। पुराणोंका आज एक-एक आचार सनातनधर्म हो गया है। पुराणोंके देवताओंमें से कितने ही मासाहारी हैं। कितने ही मद्यपशराबी हैं। इनके नामसे आज हिन्दूधर्म मास और शराबसे सराबोर हो गया है। पृथक्-पृथक् भगवानोंकी

कल्पना पुराणोंने ही की। सबको हथियार दे-देकर किसी महायुद्धके महावीर बनाये। समयपर इनमें से कोई महावीर भूतकालमें काम नहीं आये। हिन्दुओंकी दुर्दशा हुई। हिन्दू बालक और बालिकायें दो-दो पैसेमें गजनीके बाजारमें बेचे गये। सोमनाथका मन्दिर सात-सात बार तोड़ा गया, लूटा गया और सोमनाथजी पवित्र आर्य-भूमि छोड़कर चाहे जहाँ पधार गये। देवताओंको तीर, तलवार त्रिशूल, भाला, फरसा, खंजर देकर ईश्वरकी मर्यादा, ईश्वरकी शक्ति, ईश्वरकी प्रतिष्ठा और उसके ऐश्वर्यका बाजारमें नीलाम कर डाला गया। आज भी ऐसे पड़े हैं कि देवियोंकी पूजाके लिये, उनकी आरतीके लिये जिन्होंने नये साधन खड़े किये हैं, अब छुरेसे आरती होने लगी है। माना जाता है कि देवी प्रसन्न होगी और अर्चकको अनन्त शक्ति देगी और उस शक्तिसे वह अर्चक आज एटम बम और हाइड्रोजन बमको क्षण-भरमें निस्तेज कर डालेगा। ऐसी पागलोंकी बातें आज भी चल रही हैं। यह सब पुराणोंका प्रताप है। श्रीशंकराचार्यके कथनानुसार अनादिकालसे चली आती हुई अविद्याका माहात्म्य है। इसलिये मैं कहता हूँ कि आप पुराणोंसे सब मत सीखें। युगदेवताका निर्माण करें। युगविधाता महापुरुषका अनुकरण करें। यह गांधीयुग कहलाता है। यह युग पवित्रता, सदाचार, बुद्धिवैभव और अहिंसाका ही है। मानवताका विकास होने दें। हिंसक पशुओंके समयका अन्त होने दें। पुराणोंमें से सत्य और अहिंसा खोज-खोजकर अणु बमके आगे अदम्य अस्त्रोंका ढेर लगा दें। गांधीयुगने दुनियाको बदल दिया है। इस युगका संगीत घर-घरमें, देश-देशमें, दूर समुद्र पार भी गूँज रहा है। इस महापुरुषके दिये हुए इन तपोमय महास्त्रोंकी पूजा करें। मनुष्य बनें, कल्याण साधें, दूसरोंको कल्याणके मार्गपर जाने दें। ईश्वरको निरस्त्र बनावें। शान्तिका भङ्ग करनेवाले इन बड़ी-बन्दूकोंको छुट्टी दें। मन्दिरोंका शोरगुल शान्त करें। इसे देवमन्दिर ही रहने दें। इसमें से बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, चिलमके बहिष्कारकी आवाज उठाएँ। इन ईश्वर-पूजकोंको जगतमें सिर ऊँचा करके चलनेके लिये

कोई सदाचार दें । उन्हें सत्यवादी और सदाचारी बनने दे । मन्दिरोंमें इस स्त्री-पुरुषके जमघटको अनीति मानें । ऐसे मन्दिरोंकी यदि आपको आवश्यकता मालूम पड़ती हो तो हर एक मन्दिरको विशाल भूमि दें । हरएक मन्दिरको कमसे कम दो दरवाजे दे । एक दरवाजेसे पुरुष दर्शन करने जायँ, दूसरे दरवाजेसे बहने दर्शनका आनन्द लूटने जायँ । स्त्री और पुरुष एक ही दरवाजेमे टकराये, सभ्यताको तिलाञ्जलि दें, यह वस्तु प्रत्येक मूर्तिपूजकको असह्य बननी चाहिये । मानवीय मर्यादाका हनन होता है । उसके ऊपर सबको दया करना चाहिये । दूसरे धर्मवाले हमारी हँसी करते हैं, इससे हमें लज्जा आनी चाहिये ।

मै पुराणोंका खण्डन नहीं करता, उनका सुधार चाहता हूँ । आज उनका जो शरीर है वह भयंकर है, उनको कोढ़ हुआ है । दवा करें । उपचार करे । बुद्धिका उपयोग करें । आर्य-जाति की संस्कृति को उनमें से उत्पन्न होने दें । सस्कृतिके महाग्रन्थ पुराण हैं, यह सिद्ध करनेके लिये उन्हें योग्य रूप दें । यही मैं चाहता हूँ । आप हजारों मील दूर आकर बसे हैं । यहाँ दूसरी अनेक संस्कृतियाँ पनप रही हैं । फलने की तइयारीमें हैं । उनके सामने आपकी संस्कृतिका तेज फीका पड़ जायगा यदि आप देश और काल को परखनेमें सावधान नहीं बनेंगे ।

२४—६—५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन ।

भागवत कथा

पुराणों का हिन्दूधर्मके ग्रन्थोंमें आज मुख्य स्थान है । प्रत्येक धार्मिक क्रिया—पूजा, पाठ, सन्ध्या, उपासना, यज्ञोपवीत, विवाह ये सभी क्रियायें पुराणोंके प्रभाव में चल रही हैं । अपनी सभी क्रियायें आज पौराणिक ही हैं । वेदके मन्त्रोंका तो जहाँ-तहाँ नाममात्रका उपयोग किया जाता है । विष्णुयाग, रुद्रयाग, श्रीराम महायज्ञ, आदि जो यज्ञ हो सकते हैं और होते रहते हैं, वे सभी आज शुद्ध पौराणिक ही हैं । याज्ञिक कालमें न ये

यज्ञ थे और न यह पद्धति थी। आज जो इनका स्वरूप है वह केवल पौराणिक है। इसीसे मैंने कल पुराणोंके आदर्श और उद्देश्य का विचार किया था। पुराणोंके बोलने की जो पद्धति है उससे लोगों को आश्चर्य होता है, शङ्का होती है, असत्यका आभास होता है, और अन्तमें पुराणों को अन्तिम नमस्कार कर लेते हैं। पर हम यदि यह समझ ले कि पुराण इतिहास नहीं हैं, वे इतिहासके रूपमें लिखे गये भी नहीं हैं। इतिहास का वर्णन या सत्य घटनाका वर्णन यह पुराणों का विषय नहीं है। लोग पुराणों को अशुद्ध पद्धतिसे समझते हैं। इसलिये ही शङ्काके रोगसे पीडित होते हैं। कल जैसा मैंने कहा था कि—पुराणों का विषय "प्रवृत्ति और निवृत्ति" है। अर्थात् धर्ममार्गमें प्रजा को प्रवृत्त करनेका प्रयास करना और अधर्ममार्गसे निवृत्त होनेका जनसमाज को उपदेश करना, यही उनका उद्देश्य है। इतना ही पुराणों का प्रयोजन है। हिमालय तो पहाड़ है। पहाड़ जड़ होता है। उसकी कन्या पार्वती चेतन कैसे हुई? पार्वती की माँ भी पर्वत ही है। पार्वती को तपस्यासे अलग रखनेके लिये हिमालय किस जीभसे समझता होगा? कहाँसे ज्ञान प्राप्त करता होगा? यदि पार्वती चेतन नहीं, वह भी जड ही है तो उसके साथ शंकर का विवाह किस प्रकारसे? क्या शंकर भी जड ही हैं? ऐसी शङ्काएँ करना और अन्तमें इस वर्णन को असम्भव मानकर पुराणों का तिरस्कार करना, यह पुराणोंके आदर्शके अज्ञानका ही फल है। पुराण दर्शनशास्त्र नहीं हैं। पुराण कोई तर्कशास्त्रका ग्रन्थ नहीं है। पूर्वोक्त रीतिसे वह तो धर्ममार्गमें प्रवर्तक और अधर्ममार्गसे निवर्तकमात्र हैं। धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति इतना ही उनका प्रयोजन है। प्रवृत्ति और निवृत्तिका पुराण सुन्दर और आह्लादक साधन है। संस्कृतके प्रसिद्ध दो ग्रन्थ पञ्चतन्त्र और हितोपदेशमें कौवा बोलता है, चूहा बातें करता है, कबूतर शङ्का-समाधान करता है, गीदड बोलता है, बाघ बोलता है, सिंह बोलता है, मछलियाँ बोलती हैं, और वे अपनी-अपनी भाषा नहीं बोलते, पर बोलते हैं महा-महोपाध्याय की भाषा। कौवा, गीदड़, बैल, बाघ, कबूतर, चूहा, आदि

संस्कृत नहीं बोल सकते इसलिए यह ग्रन्थ गपोंके ही ग्रन्थ हैं, ऐसा मानकर यदि उनका तिरस्कार करनेकी मूर्खता दिखानेमे आवे तो यह एक दयनीय दशा बन जाय। बालकोंके लिए, युवकोंके लिए, वृद्धोंके लिए, स्त्रियोंके लिए, पुरुषोंके लिए, वे दोनों उत्तम ग्रन्थ हैं। इन पशुओंको पण्डित सिद्ध करनेके लिए वे ग्रन्थ लिखे नही गये। इन पशुओंको पण्डित बनानेके लिये उन ग्रन्थोंके बनानेमें प्रयास नही किया गया। उनका उद्देश्य है—

"कथाच्छलेन बालानां नीतिः तदिह कथ्यते"

ऐसी कथाओंके द्वारा बालकोंका मनोरञ्जन कर, बालकोको संस्कारी बनाना ही (उन दोनों ग्रन्थोंका) उद्देश्य है। साधु, असाधु, शत्रु, मित्र, भले, बुरेका विचार करनेकी योग्यता प्राप्त कराना ही उनका आदर्श है। पुराणोंकी शैलीके लिए भी ऐसा ही समझना है। अब आज आप भगवानकी कथा सुनें।

निमिराजके दरबारमे नव योगीश्वर आये, उनमे से एकका नाम था कवि। कविसे राजाने पूछा—

"अथ आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोनघाः"

मनुष्यका कल्याण किस प्रकार हो सकता है? आत्यन्तिक कल्याण अर्थात् जन्म-मरणरूप बन्धनकी सदाके लिये निवृत्ति। पूछनेका आशय इतना ही था कि जन्म और मरणको किस प्रकार टाला जा सकता है। सिंह, बाघ, साँप, बिच्छू और पीपलके झाडके ऊपर बैठकर नाकमे से आवाज निकालने वाले भूतोंका उपाय खोजा जा सकता है, और खोजा भी गया है। जंगलमें सिंह, व्याघ्र, रीछ आदि के साथ मनुष्य भी बसते हैं, और उनसे बचनेके लिए अग्नि, मकान आदि का उपाय ढूँढ लेते हैं। मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र भी शोधे गये हैं। भयंकर रोगोंको दूर करनेके लिए मन्त्र सफल सिद्ध हुए हैं। शारीरिक रोगोंके लिए भी औषधियाँ खोजी गयी हैं परन्तु जिस जन्म-मरणका स्मरण कर मानव हृदय काँप उठता है

उस महामयकी ओषधि अभी तक पूर्ण रूपसे खोजी नहीं गयी । निमिके प्रश्नका उत्तर देते हुए योगीश्वर कविने कहा—

मन्ये कुतश्चिद् भयमच्युतस्य,
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ॥
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्,
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भी. ॥

सृष्टिके आरम्भसे ही मानवप्रजामें भयके भाव देखनेमें आते हैं । पुराने से पुराने ग्रन्थोमें भी हम इसी भयकी बात पढ़ते और सुनते हैं जिसे विवेक नहीं, विचार नहीं, ज्ञान नहीं, सस्कार नहीं वे कदाचित् ससारके सुखमे रचपच कर रहने वाले होनेके कारण जगत्‌के परम दुःखकी चिन्ता नहीं भी करते हों । जिसके मनमें खाना-पीना, मौजमजा, नाटक-सिनेमा, शराब, ताडो, बीड़ी, सिगरेट और दूसरी रीतिसे भी विषयोंका सेवन, यही परमानन्द हो, उसके हृदयमें जगत्‌का दुःख नहीं भी भासित होता हो । यहाँकी मूलप्रजा अभीतक असस्कारी ही रही है । उसे जन्म-मरणके दुःखका विचार न भी आवे कि कर्तव्य क्या और अकर्तव्य क्या ? यह वे जानते ही नहीं । विधि और निषेध, अमुक कर्म करो और अमुक कर्मसे दूर रहो, यह शास्त्रकी बात है । शास्त्रका उन्होंने नाम भी न सुना है । उनका अपना कोई शास्त्र है नहीं । इसलिये उनकी दृष्टिमे संसार जैसा है वैसा अच्छा ही है । उन्हें कोई भय नहीं, कोई दुःख नहीं । परन्तु जो लोग रातदिन देखते हैं कि—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरे ।

प्रतिदिन प्राणी यमराज के विशाल मन्दिरमे पहुँच रहे हैं, पर—

अन्ये जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ॥

कितने ही जीनेकी ही इच्छा कर रहे हैं इससे अधिक आश्चर्य क्या हो सकता है ? हजारों मनुष्य ऐसे मार्गसे जा रहे हैं कि जहाँसे वे कभी भी पीछे आये नहीं हैं । श्मशानकी धधकती चिताएँ भी नित्य

कुछ-कुछ कहती हैं, तो भी उन्हें विचारने का अवकाश नहीं है, फुरसत नहीं है। जिसके लिये अनन्त प्यार था, अनन्त उमंगे थीं, अनन्त और अखण्ड भावनाये थीं, उनका भी अनन्त वियोग होता है। विवश होकर उस वियोग को सहन करना पडता है। उसके वियोगमे थोडे समय तक हृदय-वेदना होती है, मन पीड़ित होता है, माथा घूमता है, पश्चात् वही नाटक, वही सिनेमा, वही विषयास्वाद। जगत्के दुःखका विचार करनेका अवसर मिलता ही नही है। फिर वही चक्र और उसी चक्रपर चढ़नेकी फिर वही इच्छा।

सब भूल जाता है, इसका कारण यही कि अभी मनुष्य जातिमें पूर्णतया विवेक जागरित नहीं हुआ है। पतञ्जलिके कथनानुसार "सर्वं दुखं विवेकिनः" विवेकीको ही सब दुःख भाषित होते हैं। विषयलोलुप जीवोको जगत् आनन्दमय ही प्रतीत होता है।

एक बालक भूमिष्ठ होता है—उसका नया अवतार होता है। आते ही वह मृत्यु और पीडाकी ओर खिंचता है। जिस दिन और जिस घडीमें वह जन्म लेता है, उसी दिनसे और उसी घड़ीसे उसके आयुष्यका क्षय होने लगता है। उसके लिये दुःखकी बाढ रची होती है। उसकी ओरसे वह आँखें मूँदने लगता है। फिर भी माता और पिताको आनन्द होता है। मेरे घर पुत्र आया, यह बडा लाभ, मानवजीवनका अपूर्वफल। नरकसे रक्षा पानेका अचूक साधन! ऐसा विचारकर वे प्रसन्न होते हैं। ममताके बन्धनमें वे बँधते हैं। वे अपनी स्वार्थवृत्तिके कारण उस बालकके भविष्यका विचार नहीं करते, कर भी नहीं सकते। जैसे-जैसे वह बालक बढता है, वैसे-वैसे माँ-बापको ऐसा लगता है कि मेरा पुत्र, मेरा जीवनाधार इतने वर्षका हुआ, बड़ा हुआ। वे नहीं सोचते कि वह इतना छोटा हुआ, यदि बालक १० वर्षका हुआ हो तो १०० – १० = ९० सौ वर्षोंमें से १० वर्ष गये और बाकी ९० वर्ष ही रहे। ऐसा विचार माँ-बापको कभी आता ही नहीं है। यदि ऐसा विचार उनको आता तो वे अवश्य ही अपने पुत्रको जिस प्रकार गढते हैं, पालते हैं,

उस रीतिका त्याग कर देते और उसे सदाचारी, धर्मात्मा, विनयी और नम्र बनानेके लिये किसी भी प्रयत्नका आरम्भ करते। वह प्रयत्न दूसरा कोई नहीं, केवल यही कि वे स्वयं सदाचारी, धर्मात्मा, विनयी और नम्र बनें। वे वैसे बन नहीं सकते। बननेकी उनकी इच्छा होती ही नहीं। उससे कोई लाभ उन्हें मालूम होता नहीं। जिसे वे प्यार करते हैं उस बालकको भी उसी निकृष्ट मार्गपर चलनेको ज्ञातरूपमें अथवा अज्ञातरूपसे प्रेरणा करते हैं। इस प्रकारसे अज्ञानी जनको जगत् आनन्दभूमि ही प्रतीत होता है।

तथ्य-अतथ्यका, पथ्य-अपथ्यका, नित्य अनित्यका, सुख-दुःखका विचार करनेवाले भारतमें आपने भी जन्म लिया है। मनुष्योंकी बात छोड़ें, देवगण भी भारतभूमिमें जन्म लेनेके लिये सदा आतुर रहते हैं। ऐसा हम पूर्वजोंके ग्रन्थोंमें सुनते हैं। जहाँ पतितपावनी गङ्गा, कृष्ण मोहिनी यमुना, सरस्वती, और पतितपावनी पुण्य सलिला सरयू अनवरत प्रवाहित है, जिस भूमिमें भगवान् राम और कृष्णने अवतार लिया, अनेक लीलाएँ करके हमारे पूर्वजोंके दुःखोंका उन्होंने अन्त किया, जहाँ असंख्य ऋषियों और मुनियोंकी भस्मके कण आज भी बिखरे पडे हैं, वही भूमि आपकी भी जन्मभूमि है "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"। माता और मातृभूमि स्वर्गसे भी अधिक श्रेयस्कर और अधिक आकर्षक होती है, ऐसी जन्मभूमि-माता को छोड़कर हजारों मील दूर समुद्र पार कर आपको यहाँ आना पडा है, वह केवल पेट की ज्वाला शान्त करनेके लिये ही। आपकी आवश्य-कताएँ आपको यहाँ तक खींचकर लायी हैं। आप अपने बाल-बचो को सुखी करनेके लिये ही यहाँ आकर बसे हैं। भले बसे, सुखी रहें। जहाँ तक आप व्यवहार दशामें हैं वहाँ तक "जगत् मिथ्या" का कुछ अर्थ आपके लिये नहीं है। मुझे आपको जगत् का मिथ्यात्व समझाना नहीं है। जब तक आप ब्राह्मी स्थिति तक अपने प्रयाससे पहुँचे नहीं, तब तक "जगत् मिथ्या" का उद्घोष आपके लिये व्यर्थ है। फिर भी यह

उद्घोष आपके कानोंसे टकराता रहे, यह अमुक प्रकारसे, इष्ट ही है। इस उद्घोषसे आप भी किसी दिन तो सत्यमार्ग की ओर मुड़ेंगे ही। आप अपने सासारिक सम्बन्धोंका अच्छी तरह निर्वाह करें, ऐसी शक्तिकी भी आपको आवश्यक्ता है। यह सत्य है कि—"अनित्यानि शरीराणि सम्बन्धा अपि तैः सह" शरीर अनित्य हैं और उसके साथके सभी सम्बन्ध भी अनित्य ही हैं। यह मेरी माँ, यह पिता, यह भाई, यह पुत्र, यह कलत्र, यह मित्र, यह शत्रु, ये बान्धव ये सभी सम्बन्धी और उनके सम्बन्ध अनित्य तो हैं ही, फिर भी इन्हें निभानेसे ही छुटकारा है। सभी सम्बन्ध अटूट हैं। सभी सम्बन्ध गाढ़ हैं, फिर भी मिथ्या हैं। फिर मुझसे कैसे कहा जाय कि आप माता पिताके सम्बन्ध को मिथ्या माने और उनकी सेवासे विरत रहे ! माँ बापने जिन संयोगोंमें आपका रक्षण किया है उन संयोगों को सम्भवतः आप न भी जानते हों, परन्तु आप दूसरे बालकों और माँ बाप की परिस्थिति देखकर अपनी बाल्य-परिस्थिति का ज्ञान कर सकते हैं। माता चाहे जिस असह्य दुःख से पीडा भोगती रही होगी पर आपको क्षणभरके लिये भी भूली नहीं ही होगी। अपने पेटमें डालनेको अन्न भले ही उसे न मिला हो, पर आपके पेटके लिये वह सदा चिन्तातुर रही होगी। आपके सुखके लिये उसने अपना सुख खोया था, आपकी नींदके लिये उसने अपनी नींद खोयी थी। मल-मूत्र जैसी गन्दी वस्तुसे भी उसे, आपके प्रेमके कारण ही ग्लानि होती ही नहीं थी। पिता माघकी कड़कड़ाती ठंढमें, ज्येष्ठके जलते घाममे और मूसलाधार बरसातमे भी खेतोंमें, जंगलोंमें, गाँवोंमे, शहर की गलियोंमें, आपके लिए हो भटकते रहे हैं। आपको बढाया, पढाया, लिखाया, इस स्थितिमें रहने योग्य बनाया। उनका उपकार आपके ऊपर अद्भुत है। उनको भूल जानेके लिए आपसे मै कैसे कह सकता हूँ ? फिर भी मै इतना तो अवश्य कहता हूँ कि उन्हें सुखी बनाकर, उनके लिये सुख के साधन एकत्र करके आप आज जिस सुखसे सुखी हैं उससे भी अधिक उत्कृष्ट सुख प्राप्त करनेके योग्य बनें। आपके ध्यानसे बाहर यह वस्तु

नहीं होना चाहिये कि यह जगत् और जगत्की सभी वस्तुएँ नाश वाली हैं। जन्म, जन्मके पश्चात् अस्तित्व, उस जन्मी हुई वस्तुकी क्रम-क्रमसे वृद्धि, उसमेंसे क्रमिक विपरिणाम—पकनेका आरम्भ, क्रमिक ह्रास, और क्षय और अन्तमे नाश ये छह विकार जिसमे देखनेमे आवे वे सभी पदार्थ अनित्य और विनाशशील हैं। ससारमें ये छह विकार देखनेमे आते हैं, ये विकार किसी भी देहधारीके लिये अवश्यम्भावी हैं, इनसे कोई बच नहीं सकता। जन्म और मरणके बीच दूसरे चार विकार हैं। यह सम्भव है कि उन चारोंका अनुभव किसी आत्माको किसी शरीरमे न भी हो, पर बडेसे बडे दु:ख तो जन्म और मरण हैं। जन्म सबसे बडा दु ख है। जन्मको टालें। मरण अपने आप टल जायगा। दूसरे विकार तो इसीके बच्चे-कच्चे हैं। मूलका नाश करे, शाखाएँ स्वयं नष्ट हो जायेंगी। इसलिये आपके हृदयमे परमानन्द प्राप्तिका अभिलाष रहना ही चाहिये। आत्मज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, ईश्वरदर्शन, और परम सुख की प्राप्ति यह सब एक ही वस्तु हैं। इनका विचार करते हुए इनके विरोधी का भी विचार आवश्यक होता है। जगत् के सुखों मे ही ओतप्रोत रहना, यही परमानन्द का विरोधी है। जगत् के सुखों को आप नित्य दुःखो मे परिणत होते देखते हैं। यही परिणति-दर्शन किसी दिन आपको जंगल में खींच ले जायगा। कभी भी आपके मन में यह अंखना उत्पन्न होगी ही कि—

कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे।
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना॥
निरंशध्यानविश्रान्ति मूकस्य मम मस्तके।
कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलाय वनपुत्रिकाः॥

"पर्वतोंकी कन्दराओंमें निर्विकल्प समाधि साधकर कब मैं पत्थरके समान निश्चेष्ट होकर बैठूँगा, "अखड ध्यानमें निश्चेष्ट बने हुए मुझको जड, किसी वृक्षका ठूठ समझकर जंगलके पक्षी मेरे मस्तकपर कब घोंसला बनायेंगे?" समाधिके इस आनन्दको प्राप्त करनेके लिये किसी दिन तो

आपका हृदय अधीर बनेगा ही। पर जबतक आपके मनमें यह अभिलाष उत्पन्न नहीं हुआ है और आप जगत्के सुखके प्रलोभनमें ही पडे हैं, तब तक आपके सामने भय खडा ही है, यह सत्य समझें। कदाचित् आपको यह भय आज भय रूपमें न भी मालूम पडता हो, परन्तु यह तो एक दिन मालूम पडना ही है। और जब यह भय रूपमें प्रतीत होगा तब आपमें कुछ कर सकनेकी शक्ति होगी कि नहीं यह भगवान् जाने। आपके भयकी चिन्ता रखकर ही योगीश्वर कविने निमि राजासे कहा— अविनाशी भगवान्के चरणारविन्दकी उपासना किये बिना सर्वांगमें किसीका भय दूर हो नहीं सकता। भगवद्भक्ति ही एक ऐसी वस्तु है कि जिसके आश्रयमें रहकर जीव निर्भय बन सकता है। जीवन और मरणके संग्राममें विजय प्राप्त करनेके लिये यही अमोघ अस्त्र है। जीवन नित्य है, मरण अनित्य है। भगवत्शरणागति यह जीवन है—जीवनका तत्त्व है। भगवद्धर्मका त्याग यही मरण है। इस मरणमें से उद्धार करनेके लिये ही शास्त्रोंका प्रयास है, पूर्वजों और पूर्वाचार्योंका आग्रह है। वह भगवद्-भक्ति सत्यनिष्ठा, सदाचारनिष्ठा, क्रूर और दाम्भिक वृत्तिका त्याग, विषय-विमुखता आदिके सिवा कुछ नहीं है। यही भगवद्भक्ति है। आप जिस रीतिसे भगवद्भक्ति करते हैं वह भक्ति ही नहीं है, यह भी सदा स्मरण रखें।

२५–६–५० को मुम्बासामें दिया गया प्रवचन।

मुम्बासा जेलमें भाषण

(११)

मेरे गुजराती भाइयो और अफ्रीकन भाइयो!

आज मैं आपके बीचमें बैठा हूं। आपने मेरे स्वागतकी जो सभी तैयारियाँ यहाँ कर रक्खी हैं, उन्हें आप बाहर भी कर सकते थे। मेज देखता हूँ। मेज़पोश देखता हूँ। हार देखता हूँ। गुलदस्ता देखता हूँ। फूलदानी देखता हूँ। कुर्सी देखता हूँ। मेरे साथ आये हुए आपके अतिथियोंके लिये भी कुर्सियाँ देखता हूँ। आपके नीचे जाजम देखता

हूँ। इससे एक प्रकारसे मुझे संतोष होता है। आपको यहाँकी सरकार इतनी सुविधा देती है, इससे आनन्द हुआ है। दूसरे प्रकारसे हार्दिक दुःख होता है। आप मेरे जैसे ही मनुष्य हैं, आप भी मेरे ही समान परमात्माकी कृति हैं। परन्तु आप जेल में हैं इससे मुझे लज्जा भी होती है। चोरी, जारी, सरकारी कायदे का या आज्ञाका ज्ञात रूपसे अथवा अज्ञातरूपसे आवश्यक या अनावश्यक भंग, शराब, वञ्चना, ऐसे-ऐसे कर्मोंके प्रतापसे ही किसीको जेल मिलती है। मुझे कहते हुए संताप और लज्जा होती है कि आपके ऊपर भी इन्हींमें से ही किसी दोषका आरोप होगा। मैं "आरोप" शब्दका जान बूझकर व्यवहार कर रहा हूँ। कितनी ही बार निर्दोषी भी दोषी गिना जाता है। तब उसे भी इस घरमें आना पड़ता है। आप इन दोषोंमें से किसी दोषमें फँसे हैं या नहीं, यह तो आप जानें। इस विषयमें मैं पूछूँगा भी नहीं। जानना भी नहीं चाहूँगा। पर मैं इतना अवश्य कहता हूँ कि जो आप ऐसे दोषोंमें या दोषमें फँस जानेसे ही यहाँ आये हैं तो फिरसे इसमें न फँसे तो बहुत उत्तम। इससे आपने मनुष्यताकी सेवाकी है, यह माना जायगा। जो मेरे भारतीय बन्धु यहाँ आये हैं उनसे तो मैं बहुत नम्रतासे कहना चाहता हूँ कि आपके यहाँ आनेसे भारतको लज्जित होना पडता है। आपके मनमें आपकी प्रिय मातृभूमिके लिये मान न हो, यह मैं मान नहीं सकता। तब आपको ही विचार करनेको रह जाता है कि क्या इस घरमें आपका निवास किसी प्रकारसे भी आपकी मातृभूमिकी प्रतिष्ठा बढ़ानेमें सहायक होता है। मेरे साथमें आप भी नाहीं कहेंगे। अबसे यदि आप चेतेंगे और इस घरके निवासको अनिष्ट मानेंगे तो आप अपने देशका मस्तक अवश्य ऊँचा रख सकेंगे। आपमेंसे जो भाई स्वाहिली भाषा बोल सकते हों वह मेरी ओरसे इन अफ्रीकन बन्धुओंको समझा देवें कि कोई भी अपराध मनुष्यको नीचे गिराता है। मनुष्य जीवन नीचे गिरनेके लिये नहीं, ऊपर उठनेके लिये मिला है। आप किसी दुःखसे ही अपराधी बने होंगे। आपके संकटने आपको अपराध करनेकी प्रेरणा की

होगी यह मैं मान सकता हूँ। पर हिन्दू शास्त्र कहते हैं कि सामान्य दुःखकी तो बात क्या, प्राणसंकट आ पडा हो तो भी अनीतिके मार्गपर नहीं जाना चाहिये। सकट तो क्षणिक होता है। टल जायगा। परन्तु इस अपराधका प्रभाव आपके ऊपर, आपके भाइयों के ऊपर और आपकी सरकारके ऊपर रह जायगा। जिससे आप सदा अपमानित ही रहेंगे। आशा है कि मेरा कहना आपको सत्य लगेगा।

२५–६–५० को मोम्बासा जेलमें दिया गया प्रवचन।

भागवत कथा

(१२)

योगेश्वर कविने महाराज निमिको कहा था कि ससारका भय किस रीतिसे दूर हो सकता है। जन्म-मरणका भय ही ससारका सबसे बडा भय है। हाथीके पैरमे जैसे सबका पैर समा जाता है वैसे ही सभी भय इन दोनों भयोंमें समा जाते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये ही तीन भय हैं। अर्थात् ये ही तीन प्रकारोंके दुःख हैं। अतिवृष्टि, अवृष्टि, दुष्काल, गर्मी, अतिगर्मी, प्लेग, हैजा, शीतलाप्रकोप, अन्य आकस्मिक दुःखद घटनाएँ, आग लगना, जलप्रलय होना, ये सब देवोंकी ओरसे अर्थात् वायु, वरुण, सूर्य, अग्निकी ओरसे आनेवाले दुःख हैं। ये आधिदैविक दुःख कहे जाते हैं। शरीरके दुःखोंको आधिभौतिक दुःख कहते हैं, मानसिक दुःखको आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, दम्भ, पाषण्ड, असत्य भाषण, द्यूत, मद्यपान, धूम्रपान आदि आध्यात्मिक दुःख हैं। भगवत्प्राप्तिके मार्गमें दूसरे दो दुःख बाधक नहीं बनते परन्तु आध्यात्मिक दुःख जीव और ईश्वरके मध्यमे एक अभेद्य दीवार खडी करते हैं। ये दुःख मनको अशान्त बनाते हैं। अशान्त मन भगवत्-चिन्तन नहीं ही कर सकता। सात्त्विक अर्थात् पवित्र विचारोंका वह सेवन नहीं कर सकता है। पवित्र

आचारोंका वह पालन नहीं कर सकता। जबतक पवित्र आचार-विचार मनमें न आवे, सात्विक वृत्तियाँ जबतक मनमें उदय नहीं पा सकतीं, तबतक ईश्वरकी प्राप्तिकी बात ही निरर्थक है। अतः आध्यात्मिक दुःख ही तीनों दुःखोंमें से दारुण दुःख है। जैसे दर्पणको कोई हिलाता रहे तो उसमें मुख प्रतिबिम्बित नहीं होता—यदि प्रतिबिम्बित हो भी तो अस्पष्ट, चञ्चल, और विकृत। वह प्रतिबिम्ब निरर्थक ही है। वैसे ही यदि मन चञ्चल हो तो उसमें प्रतिबिम्ब तो पड सकते हैं परन्तु अनुपयुक्त, अनिष्ट और प्रतिकूल। जिस प्रतिबिम्बको प्राप्त करनेके लिये मानव सृष्टि हुई है वह प्रतिबिम्ब चञ्चल और मलिन मनमें पड़ नहीं सकता। सर्व इन्द्रियोंमें मनकी श्रेष्ठता है। जैसे अन्य इन्द्रिया भौतिक हैं वैसे ही मन भी भौतिक ही है। उसके निर्मापक तत्त्व अतिसूक्ष्म और अधिक प्रकाशक तथा अधिक ग्राहक हैं, इतना ही अन्तर है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंमें से नेत्र दूरदर्शी हैं। अतः नेत्र श्रेष्ठ हैं। मन दूरदर्शी भी है। पारदर्शक भी है अतः वह सब इन्द्रियोंसे श्रेष्ठ है। चक्षुरिन्द्रिय पारदर्शक नहीं है। परन्तु मन सहस्रों भित्तियोंको, सहस्रों पर्वतोंको भेदकर तत्त्वको जान लेता है। घटनाओंको भी वह ग्रहण कर लेता है। अन्य शरीरोंमें प्रविष्ट होकर, उन शरीरोंके मनमें रही हुई बातोंको भी वह जान लेता है। अतः अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनकी शक्ति अधिक और तीव्र है। यह विषमता स्वाभाविक है। जिस पञ्चभूतसे लकडी, लोहा, पत्थर, आदि बनते हैं वही पञ्चभूत सोने और हीरेको भी बनाता है। तत्त्व एक ही हैं तथापि तत्त्वोंके तारतम्यसे न्यूनाधिकतासे पदार्थोंमें, वस्तुओंमें तारतम्य उत्पन्न हो जाता है। धर्म-वैषम्य भी इसी कारणसे उत्पन्न होता है। हाथ किसी वस्तुको देख नहीं सकते। नाक किसी शब्दको सुन नहीं सकती। परन्तु मन एक ऐसा इन्द्रिय है कि प्रत्येक इन्द्रियके धर्मको वह ग्रहण कराता है। रूपका प्रत्यक्ष, रसका प्रत्यक्ष, शब्दका प्रत्यक्ष, स्पर्शका प्रत्यक्ष, गन्धका प्रत्यक्ष, उसकी सहायताके बिना हो ही नहीं सकता। अतएव मनको परमेश्वरकी प्राप्तिका भी साधन माना गया है। परमेश्वर तक मन

अपनेको पहुँचाता है। "मनसैव विजानीयात्" यह श्रुति भी कहती है कि मनसे ही भगवान्‌को पहचानो। आप संसारके रूप-रङ्ग आदि देखनेके लिये नेत्रको स्वच्छ रखते हैं, अञ्जन उसमें लगाते हैं। दृष्टि अल्प हो गयी हो तो दूरदर्शी बननेके लिये उपनेत्र (चश्मा) लगाते हैं। आँखें बिगड़ें तो सहस्रों रुपयोंका व्यय भी आपको खटकता नहीं है। जबकि इस जगत्‌को देखनेके लिये इतने प्रयत्न चलते हैं तो इस जगत्‌के स्रष्टाके दर्शनके लिये आपका हृदय विह्वल और लालायित क्यों नहीं होता है? कदाचित् जगत्‌का स्वभाव ही ऐसा हो। चित्र-दर्शनसे हमको आनन्द तो होता है परन्तु उस समय चित्रके निर्माताके दर्शनकी इच्छा मनमें उत्पन्न नहीं होती। यह तो हो सकता है कि चित्रके समान ही सुन्दरता चित्रकारमें न भी हो। जगत्स्रष्टाके लिये भी ऐसा ही कहा तो जा सकता है। किसीने उसे देखा नहीं है अतः बल-पूर्वक कैसे कहा जा सकता है कि सृष्टिकी अपेक्षा स्रष्टा अधिक सुन्दर होगा? यह सब सत्य है, परन्तु एक ऐसी सत्यता है, वास्तविकता है, कि जिसकी ओर आपका ध्यान ही नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी सुन्दरता पृथक् पृथक् होती है। रेशमी वस्त्र और खद्दरकी सुन्दरता समान ही नहीं है। अवश्य वहाँ भेद है। खादीको, धर्म समझकर धारण करनेवाले महात्मा गांधीजी की दृष्टिमें खादीमें जो अपूर्व सौन्दर्य है वह उनकी दृष्टिमें, रेशममें, नहीं है। रेशमके प्रेमियोंको खादीका सौन्दर्य प्रतीत ही नहीं होगा। मलमल, मखमल, कश्मीरके पश्मीनेका सौन्दर्य, कौन कह सकता है कि समान ही है? परन्तु किसीका सौन्दर्य किसीको तो प्रसन्न करता ही है। गुलाब, चमेली, जुही, और गेंदा, इन सभी पुष्पोंमें सौन्दर्य है, सुगन्ध है, परन्तु प्रत्येकका सौन्दर्य और प्रत्येकका गन्ध विविधतामय है। प्रत्येकका गन्ध अलग-अलग है परन्तु आकर्षण दोनोंमें है। जगत्‌की प्रत्येक नारीमें सौन्दर्य है और प्रत्येक पुरुषमें सौन्दर्य है। परन्तु आप एक सदाचारी पुरुषको पूछें तो वह यही कहेगा कि उसकी दृष्टिमें उसकी पत्नीका सौन्दर्य सर्वश्रेष्ठ है। एक पतिव्रता स्त्रीसे पूछे, तो वह

कहेगी कि सर्वाधिक सौन्दर्य उसके पतिमें है। एक माताको पूछ देखें उसकी दृष्टिमें जगत्के सभी बालकोंकी अपेक्षा उसके पुत्रका सौन्दर्य लोकोत्तर होगा। इसी प्रकार जगत्के सौन्दर्यकी अपेक्षा जगदीश्वरका सौन्दर्य विलक्षण ही होगा। जिस सौन्दर्य पर मुग्ध होकर लक्षाधिक राजा राज्य-वैभवका त्यागकर, उसे मिलनेके लिये भेष लेते हैं वह सौन्दर्य कैसा होगा? जिसके दर्शनके लिये जप, तप, उपवास किये जाते हैं, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र आदि व्रत किये जाते हैं, वह ऐश्वर सौन्दर्य कैसा होगा? जिसके दर्शनके लिये योगी पञ्चाग्नि तपता है, जङ्गलके सूखे पत्तेका भक्षण कर, शरीर को शुष्क काष्ठ बना देता है, वह सौन्दर्य कैसा होगा? जिसके स्मरणमात्रसे भक्तों और ज्ञानियोंकी आँखोंमें एक अपूर्व तेजस्विता प्रकट हो जाती है वह सौन्दर्य कैसा होगा? अवश्य ही इस जगत्के दृष्ट सौन्दर्यकी अपेक्षा वह अनन्तगुण श्रेष्ठ होगा, आकर्षक होगा, मनोरम और हृदयङ्गम होगा। जगत्के सौन्दर्य को तो आपने देखा है, आप देख भी रहे हैं। एकबार किसी दिव्य सौन्दर्यकी भी देखनेकी इच्छा हृदयमें उत्पन्न होने दें, हृदयमें आतुरता और लगन पैदा होने दे। उसका दर्शन करे और तब तुलनाकरें कि किसमे अपूर्वता है, अलौकिकता और गुरुता है।

आप कहेंगे कि मैं सृष्टिके स्रष्टाकी बात कर रहा हूँ। परन्तु कोई स्रष्टा है भी या केवल आकाशवल्लरी जैसी बात है। जो हो, मैं कहता हूँ कि आपको एक स्रष्टा मिलेगा और अवश्य मिलेगा परन्तु इसके लिये थोडेसे कठिन मार्गका अवलम्बन करना होगा। गौतम और कणाद ये दोनों ही दार्शनिक विद्वान् आर्यतत्त्वविचारकोंमें अत्यन्त प्रतिभाशाली हैं। उन्होंने तत्त्वसाक्षात्कारके लिये थोडेसे साधनों का स्वीकार किया है। किसी भी इन्द्रियके साथ नियत विषयके सम्बन्ध होनेपर ही तत्तद्विषयका ज्ञान होता है। उस ज्ञानका नाम है प्रत्यक्षज्ञान। आकाशतत्त्ववाले श्रोत्रेन्द्रियमे शब्दका प्रत्यक्ष होता है। त्वक् (चर्म) इन्द्रियसे स्पर्शका, नेत्रेन्द्रियसे रूपका, रसनेन्द्रियसे रसका, और नासिकाके अग्रभागमें रहे

हुए घ्राण इन्द्रियसे गन्धका प्रत्यक्ष होता है। वहाँ, इन्द्रियाँ तो प्रत्यक्ष ज्ञानमें कारण बनती हैं, परन्तु जिस वस्तुका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध न हो सके, उसको जाननेके लिये भी कोई साधन होना ही चाहिए। नदीमे बाढ आती है, पानी बढता है, पानी गन्दा हो जाता है, फेन और लकडियों तथा कचरे-कूडेके ढेरसे नदी भरी हुई दीख पडती है। जो नदी थोड़ी देर पहले निर्मल और शान्त थी उसमे यह सब तूफान कैसे आ गया? इस प्रश्नका कोई उत्तर तो होना ही चाहिये। उत्तर है कि ऊपरके भागमे कही, अतिवृष्टि हुई है अतएव नदीका स्वरूप बदल गया है। वृष्टि देखी नहीं गयी है तथापि वर्षा होनेसे नदीके रूपमे परिवर्तनकी धारणा सत्य मानकर सन्तोष कर लिया जाता है। इस स्थितिमें वृष्टि होनेकी धारणा जिस कारणसे हुई वह अनुमान प्रमाण कहा जाता है। "देवदत्तके घरके समान ही यज्ञदत्तका घर है।" ऐसा कोई किसी को कहे तो वह मनुष्य इन शब्दोंके स्मरणके साथ आगे बढता है। उसे देवदत्तके घरका पूर्ण ज्ञान है। यज्ञदत्तका घर अज्ञात है। उस मोहल्लेमे वह जाता है। एक घरपर उसकी दृष्टि जाती है। देवदत्तके घरका उसे स्मरण होता है। देवदत्तके घरके समान ही यह घर भी है, ऐसे ज्ञानके पश्चात् उसे निश्चय होता है कि यही यज्ञदत्तका घर है। इस ज्ञानका नाम है उपमिति ज्ञान। उपमान प्रमाणसे जो ज्ञान हो वह उपमिति कहा जाता है। यह तीसरा प्रमाण है। चौथा प्रमाण शब्दप्रमाण है। छोटी बहिनने आकर बडे भाईसे कहा कि तुमको मा बुलाती है। बडे भाई को विश्वास है कि उसकी छोटी बहन कभी भी असत्य नहीं बोलती है। परिहासमे भी वह असत्य नहीं बोलती है। अतः उसके शब्दपर सम्पूर्ण विश्वास होता है। इसे ही शब्दप्रमाण कहते हैं। शब्द-प्रमाणसे ही उसे ज्ञान हुआ कि "मुझे मेरी मा बुलाती है।" यह शाब्दी-प्रमा अथवा शब्दप्रमाणजन्य ज्ञान कहा जाता है। इस रीतिसे चार साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, ज्ञात या अज्ञात वस्तुका ज्ञान होता है। ईश्वर तो सदा अप्रत्यक्ष और अज्ञात ही है। अतः प्रत्यक्ष

प्रमाण अथवा उपमान प्रमाण वहाँ अनावश्यक ही है। केवल अनुमान-प्रमाण अथवा शब्दप्रमाणके द्वारा ही उसका ज्ञान हो सकता है। एक मनुष्य पाकशालामें प्रतिदिन देखता है कि वहाँ अग्नि सुलगता रहता है और लकडीका अथवा उपलोंका धुआँ भी होता रहता है। इससे उसे यह एक निश्चित ज्ञान हो गया कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, धुआँ होता है, वहाँ अग्नि अवश्य रहता है। उसी मनुष्यके पड़ोसमें एक लुहारका घर है। वहाँ जाकर वह अनेक बार बैठता है। वह देखता है कि लोहार लोहा को अतितप्त करता है, वह लोहा तपकर अग्निसमान ही लाल हो जाता है। परन्तु उसमें वह धूआँ नहीं देखता है। अतः उसे यह ज्ञान नहीं होता कि जहाँ अग्नि होता है वहाँ धूम भी होता है। परन्तु पाक-शालामें अग्नि और धूम दोनोंको साथ देखकर उसे यह ज्ञान अवश्य होता है कि धूम और अग्नि दोनों ही साथ रहनेवाली वस्तुएँ हैं। जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि भी अवश्य ही होती है। वही मनुष्य एक समय चित्रकूटकी यात्रा करने गया। उसकी दृष्टि वहाँ हनुमानधाराकी ओर गयी। उसे वहाँ धूम दिखाई पडा। उसके मनमें अविलम्ब यह भाव हुआ कि वहाँ आग लगी है। वह उसी धूमकी ओर आगे बढा। उसने सामने देखा कि "दावानल सुलग रहा है।" यह अनुमानकी पद्धति है। ईश्वरको भी इसी अनुमानप्रमाणसे हम जान सकते हैं। आप इधर-उधर आते, जाते, घूमते, फिरते, किसी न किसी घरको, कोठीको, महलको, बनते देखते ही होंगे। आप कभी ऐसा भी देख सके होंगे कि वह मकान, कोठी, महल बनकर पूरा हो गया। वह मकान जब बनता रहा होगा तब चाहे वहाँ बढई, कारीगर, मजदूर, आदि को भी आप वहाँ देखते होंगे। आपके मनमें अवश्य यह विचार आता होगा कि कारीगर, मजदूर आदिके बिना कोई मकान, कोई मन्दिर, कोई मठ, कोई महल, बन नहीं सकता। ऐसी ही अन्य भी कितनी ही वस्तुएँ आप देखते होंगे। बनाये बिना, या बनानेवालेके बिना, छिलकोंसे सहित दाल, पॉलिश बिना चावलका भात, भूँसी सहित आँटेकी सुन्दर रोटी और छिलकोंके सहित

आलूका शाक आपको नहीं ही मिल सकते। प्रतिदिन आप इनके बनानेवालों को देखते हैं, पहचानते हैं। इन सब दृष्टान्तोंसे आप इतना अवश्य मान लेंगे कि बनाये बिना कोई भी वस्तु बनती नहीं है। तब तो यह संसार भी बनाये बिना नहीं ही बना होगा। परन्तु इसके निर्माता को आपने देखा नहीं है क्योंकि आपके, हमारे जन्मसे पहिले ही यह जगत् बन चुका था। परन्तु आप मकान, महल, मन्दिर और भोजनके उदाहरणसे जान गये होंगे कि "इस जगत्का बनानेवाला कोई तो होगा ही। वह जो कोई है, वही ईश्वर है"। इस प्रकारसे हम अनुमानप्रमाणके द्वारा इस अनन्तशक्तिसम्पन्न ईश्वरका अस्तित्व मानते हैं। उसके ज्ञानके लिये, उसके सौन्दर्यके दर्शनके लिये अनुभवी लोगोंका मार्ग ही प्रमाणभूत माना जा सकता है। व लोग जिस रीति से कहें उसी रीतिसे उसके साक्षात्कारके लिये आप प्रयत्न करें, यही अच्छा है।

इस सृष्टिका निर्माता कोई मनुष्य तो नहीं ही हो सकता। यह तो अतिमानुप शक्तिका कार्य है। एक वृक्ष को देखें। उसके पत्तों को देखें। उसके सुगन्ध को देखें। उसके आकार-प्रकारको देखें। उसकी पंखडियों को देखें। उनका क्रम देखें। आपको अवश्य अनुभव होगा कि इनको बनानेवाला कोई सुन्दर कलाकार है। उसी कलाधरको हमलोग ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, राम, देवी, बा, मा, माता आदि कहते हैं। वह अद्भुत है। उसको रूप नही है परन्तु अन्योंको सुन्दरातिसुन्दर अकल्पनीय रूप देता है। उसका न तो कोई आकार है और न प्रकार है परन्तु वह अन्योंको आकार-प्रकार देकर शृङ्गारित करता है। उसका कोई नाम नहीं है तो भी वह अनन्त नामोंसे बुलाया जाता है। जगत्को, जगत्की सभी वस्तुओंको, जगत्के सभी प्राणियोंको सदा किसी न किसीसे, कोई न कोई भय रहता ही है परन्तु वही एक ऐसा तत्त्व है जो निर्भय है। उसकी सन्निधिमे पहुँचकर आप भी निर्भय बनेंगे। योगेश्वर कवि निमिराजा को इसी तत्त्वका उपदेश कर रहे हैं।*

---

* ता० २७-६-५० के दिन सोम्बासामें प्रवचन

भागवत कथा

(१३)

कल्ह मैं जगत्की रचनाका विचार कर रहा था। इस सम्बन्धमे गौतम और कणादकी जगद्रचनारीतिका स्थूल विचार किया था। आज हम देखे कि हमारे भगवान्के चौबीस अवतारोंमेंसे एक अवतार कपिल भगवान्का इस सम्बन्धमें क्या और कैसा विचार है। बुद्धिपूर्वक तत्त्वका विचार जिस ग्रन्थमे किया जाय उसे दर्शनशास्त्र कहते हैं। हिन्दूजातिके आचार्योंने छह दर्शनशास्त्रोंका निर्माण किया है। छहों-मेंसे दो तो गौतम और कणादके हैं। गौतमके दर्शनका नाम न्याय-दर्शन और कणादके दर्शनका नाम वैशेषिक दर्शन है। कपिल भगवान् के दर्शनका नाम साख्यदर्शन है। साख्यदर्शनका ही विचार करेंगे। हम देखेंगे कि जगत्की रचनाके सम्बन्धमें उस दर्शनका क्या मत है।

प्रत्येक मनुष्यको अन्त करण होताहै। अन्तःकरणका अर्थ है आन्त-रिक वस्तुओंके ज्ञानका साधन। जिस प्रकारसे बाह्य वस्तुओंका ज्ञान हमे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, और त्वक् इन पाच इन्द्रियो से होता है ऐसे ही सुख, दुःख, हर्ष, शोक, प्रेम, ग्लानि, पाप, पुण्य आदिका ज्ञान हमें अन्तः-करणमे होता है। बाह्यकरण पाँच हैं और अन्त.करण चार हैं: मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार। ये चारों वस्तुत' एक ही हैं। प्रथक्-पृथक् समय मे चार काम करते हैं। अतः ये चार कहे जाते हैं। इन चारो अन्त.करणोंका केन्द्र मस्तिष्कमें है। बाह्यकरणोंका तो केन्द्र पृथक्-पृथक् है। चक्षुरिन्द्रिय चक्षुके ही गोलक मे रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय कान के भीतर ही रहता है। घ्राणेन्द्रिय नासिका के अग्रभाग में रहता है। रसनेन्द्रिय जीभ के अग्रभाग मे रहता है। त्वक् इन्द्रिय तो सम्पूर्ण शरीर के ऊपर जो चर्म है—त्वक् है, उसमें रहता है। इस रीतिसे बाह्यकरण (इन्द्रिय) का केन्द्र पृथक् पृथक् है।

परन्तु अन्तःकरण का केन्द्र पृथक्-पृथक् नहीं है। एक ही स्थानमें है। जो योगी नहीं है, भक्त नहीं है, ज्ञानी नहीं है, सदाचारी नहीं है उसके मनमें अमुक प्रकार की मलिनता रहा करती है। जैसे अविवेकी माता-पिताके बालककी आखें गन्दी रहा करती हैं, कानोंमे मैल भरा रहता है, जीभपर जिह्वामलका थर जमा रहता है, नखोंमें काला काला मैल भरा रहता है, दात गन्दे, हाथ-पैर भी गन्दे, इसी प्रकार अविवेकी, अविचारी, दुराचारी लोगोंका मन मलिन और गंदा रहा करता है। मनमें जो मल भरता है वह आख, कान, नाक, जीभ, दात, आदिके मलके समान नहीं होता। इन्द्रियोंके मलको तो जलसे शुद्ध किया जा सकता है और ऐसा करने में न श्रम होता है, न कष्ट। परन्तु अन्तःकरण का मल जलसे शुद्ध नहीं किया जा सकता। लोग मानते हैं कि गङ्गाजलसे मनुष्यका मन पवित्र होता है, यह भ्रम है। गङ्गाजलसे किंवा गङ्गास्नानसे केवल शरीर पवित्र होता है, मन नहीं, अन्तःकरण भी नहीं। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति" जलसे शरीरके अवयव शुद्ध होते हैं परन्तु "मनः सत्येन शुध्यति" मन तो सत्यसे ही शुद्ध होता है। सत्यविचार, सत्यभाषण, सत्यकर्मसे ही मन पवित्र किया जा सकता है। अन्तःकरणके मलके पृथक्-पृथक् नाम हैं: **मल, विक्षेप, अज्ञान**। ये तीनों प्रकारोंके मल मनमें श्लिष्ट रहते हैं।

इसीसे मन अपवित्र बनता है। मन भी अन्तःकरण ही है। वेदान्त कहता है कि जबतक किसीके मनसे ये तीनों मल दूर नहीं होते तबतक उसे यथार्थज्ञान कभी नहीं होता। यथार्थज्ञानके बिना तो सब कुछ व्यर्थ। अतः तत्त्वज्ञानके विचारसे पूर्व यह विचारना चाहिये कि मनकी शुद्धि कैसे की जा सकती है। मन या बुद्धिमें जो मलरूप दोष है वह दयाभावसे, धर्मभावसे, परोपकार करनेसे नष्ट होता है। मलसे मनकी सात्त्विक वृत्तियों दबी रहती हैं। उसे दूर करने के लिये परोपकारकी ओर जाना चाहिये। विक्षेप अर्थात् चञ्चलता, उसे दूर करने की इच्छासे ईश्वरोपासन अर्थात् सत्य सदाचारादिका पालन करना चाहिए। परोपकारादि

पवित्र कर्मोंसे जब मल नष्ट हो गया होगा तब चित्त या मनकी केवल चञ्चलता और अज्ञान ही रह गये होंगे। चञ्चलताको दूर करनेके लिये उपासना करनी चाहिये। उपासना अर्थात् ब्रह्मचिन्तनमें एकाग्रता। यदि यह उपासना प्राप्त न हो तो किसी भी सात्त्विक प्रियजनके चिन्तनमें लग जाना चाहिये। तब मन अवश्य एकाग्र बनेगा। यह एकाग्रता यदि प्राप्त हो जाय तो उपासनाका काम पूर्ण हुआ माना जाय। इस उपासनाने विक्षेप-चञ्चलता रूप दोष निवृत्त होगा। अब केवल अज्ञान ही अवशिष्ट रहेगा। अज्ञान अर्थात् भेदबुद्धि। मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, शूद्र हूँ, इस रीतिसे अथवा वह ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, वैश्य है, इस रीतिसे भेदबुद्धि बहुत समयसे मनमें घर बनाकर बैठ गयी होती है। इसको निवृत्त किये बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इस बुद्धिको दूर करनेमें समय लगेगा। यह दोष-कुरोग भारतमें ही हिन्दुओंमें ही-है, अन्यत्र और अन्योंमें नहीं। अन्यत्र तो रङ्गभेदका दोष है। वह तो दूर किया जा सकता है। परन्तु यह वर्णभेद तो ईश्वरके नामसे ठोंककर बैठा दिया गया है। इसका हटना थोडा कठिन है। इस वर्णभेदसे समस्त हिन्दूजाति छिन्न-भिन्न हो गयी है। परस्पर घृणा और ग्लानिका भाव बढ़ गया है। बढ़ता ही जा रहा है। एक मनुष्य चाहे जितना अपवित्र और दुराचारी हो परन्तु तथाकथित ब्राह्मण जातिमें उत्पन्न हुआ है अतः वह सर्वोत्तम है। और एक अन्त्यज चाहे जितना पवित्र, सदाचार परायण, हरिभक्त हो तथापि वह अधम है। हिन्दूजातिका यह सड़ा हुआ तत्त्वज्ञान है। जो जितना ही दुराचारी होगा वह उतनी ही अस्पृश्यताको अधिकाधिक प्राप्त करेगा। क्योंकि उसके दुराचारने उसके विवेकको समूल नष्ट कर दिया है। अतः ज्ञानग्रंथ भी, भागवतादि भक्तिग्रंथ भी इस भेदको दूर करनेका आरम्भसे ही प्रयास कर रहे हैं। परन्तु सफलता दूर है। ज्ञानमार्गमें जानेके लिये कोई उद्यत हो तभी उसके ऊपर ज्ञानग्रन्थोंका प्रभाव पड़े। भक्तिमार्गमें कोई जानेवाला हो तो उसके ऊपर भक्तिग्रन्थोंका प्रभाव पड़े। परन्तु नहीं है कोई ज्ञानमार्गी और नहीं है कोई भक्तिमार्गी।

नहीं है कोई ज्ञानी और नहीं है कोई भक्त। उपनिषदादि ज्ञानग्रन्थ भी आज पेट और पैसेके लियें उपयुक्त हो रहे हैं। भागवत तो पेट–पैसेके लिये ही है, ऐसी दृढ धारणा हो गयी है। अतएव पुराणी लोग सप्ताह बाँचनेका धंधा करते हैं। सप्ताहके धंधेका अर्थ है मुक्तिका व्यापार, मोक्षका व्यापार। भागवत श्रवण करनेसे परीक्षितको मोक्ष मिल गया अतएव सभी श्रोताओंको मोक्ष मिल जायगा, ऐसा कह दिया जाता है। कोई यह विचार नहीं करता है कि परीक्षित तो सातवें दिवस देह छोडकर मोक्ष प्राप्त कर सका परन्तु यहाँ आजके श्रोता सातवें दिन, आठवें दिन, आठवें वर्ष, अट्ठारहवे वर्ष भी शरीरका त्यागकर मोक्षको क्यों नहीं प्राप्त करता। यदि यह ग्रन्थ सबको मोक्ष बाँटता हो तो आज सनातनधर्मी प्रजाका तो अन्त ही आ गया होता। परन्तु ऐसा है नहीं। कथाका बाचनेवाला तो मोक्ष पावेगा ही नहीं क्योंकि मोक्षका अधिकारी तो केवल श्रोता ही होता है। मेरे कहनेका तात्पर्य तो इतना ही है कि आज कोई भी ग्रंथ धर्मोपार्जनके लिये रह नहीं गया है। धनोपार्जन करना, इतना ही अन्तिम प्रयोजन। अतः सभी हमारे धर्मग्रन्थ आज शक्तिशून्य बने हुए हैं।

यहाँ दो प्रश्न उपस्थित हो सकते हैं: एक तो यह कि मलके नाशके लिये परोपकारादि सत्कर्मोंकी आवश्यकता बतायी गयी है। यहाँ अन्योन्याश्रय जैसा दोष प्रतीत होता है। मल निवृत्त हो तो सात्त्विककार्योंमें प्रवृत्ति हो। एवं सात्त्विककार्योंमे प्रवृत्ति हो तो मलनाश हो। अन्योन्याश्रय दोष ऐसा भयकर है कि वह न तो किसी वस्तुको उत्पन्न होने देगा और न उसका ज्ञान होने देगा। वह उत्पत्ति और ज्ञानका प्रतिबाधक है। यह कथन तो सत्य है। मलिन अन्तःकरणवाला मनुष्य सत्कर्ममे प्रवृत्त न हो, यह सत्य है। अतः उसकी सत्कर्ममे प्रवृत्ति करानेके लिये एक सद्गुरुकी आवश्यकता है। वह सदुपदेशके द्वारा शिष्यके मलको शिथिल बनावेगा। बलात्कारसे भी वह उसे सदाचारी बनावेगा। मल कोई पत्थर नहीं है वह शिथिल न हो सके। मनुष्य दुराचारी बन गया, शराबी बन गया, असत्यभाषी,

लम्पट और स्वेच्छाचारी बन गया, बस, मल संचित हो गया। सद्गुरु उसे सर्वदोषोंसे पृथक् करनेका प्रयत्न करेगा और अवश्य सफल बनेगा। आजके तो गुरु भी गन्दे और स्वार्थी हैं। कोई गुरु किसीको सच्चिदानन्दात्म-स्वरूपाय नम. इस वाक्यको मन्त्रका रूप देकर, चेला-चेली बनाता है। कोई ॐ नमो भगवते वासुदेवाय सिखाकर और कोई ॐ नमः शिवाय सिखाकर, धन और धर्मका हरण करके, ज्ञान और विवेकका द्वार बन्द करके, धन संचित करके भोगपरायण बनता है। ऐसे गुरुओंसे और ऐसे मन्त्रोंसे आपका किसदिन कल्याण होगा? किसीको पवित्र बनानेका यह मार्ग नहीं है। आजकी प्रजाको, आपको भी, यह मन्त्र देना चाहिये कि "भाई अथवा बहिन, आपलोग प्रतिदिन रात्रिमें सोनेसे पूर्व विचार किया करें कि, आज मैंने सम्पूर्ण दिनमें क्या-क्या शुभ कर्म किये हैं और क्या-क्या अशुभ कर्म। आप नित्य विचार करते रहें कि आज किसको किस रीतिसे हमने ठगा है।" यदि आपने पाप किया है, पर-वञ्चनाकी है तो आप अवश्य पापी बने हैं, अवश्य अस्पृश्य बने हैं और भगवान्‌के अपराधी बने हैं। किसी भी रीतिसे भगवान् आपका ग्रहण नहीं करेगा। आप पापसे कमाये हुए धनको उसीको दे दें जिसे ठगकर उसे पैदा किया है। प्रामाणिक परिश्रमसे उपार्जित धन ही आपका वास्तविक धन है। आज आपने किसीकी माँ, बहिन, बेटीको दुष्टदृष्टिसे, पापदृष्टिसे, पाप विचारसे देखा है, इसका विचार करें। ऐसा पाप यदि आपसे हुआ है तो इसके लिये आपके मनमें ग्लानि होनी चाहिये। पश्चाताप होना चाहिये। एवं एक सच्चे भक्तके समान जगत्‌को सुना दे कि आप पापी हैं। आपने अमुक पाप किया है या किये हैं। ऐसे मन्त्रोंका उपदेश आपके लिये हितकारक है। परन्तु यह सत्य है कि ऐसे उपदेशोंसे गुरुओंको धन नहीं मिल सकता। अज्ञानकी वृद्धि करनेवालों को ही आपने आज सच्चा गुरु मान रखा है। यह आश्चर्य है। जलपूर्ण काचके गोलेका दर्शन करनेसे आपका कभी कल्याण नहीं हो सकता। यदि कल्याण हुआ होता तो आप इस अफ्रिकाकी भूमिसे कभी ही मोक्षधाम

चले गये होते। शिवलिंगके शालग्रामका दर्शन करने करानेसे आपके भ्रममें वृद्धि होती है। आपका अज्ञान बढता है। आपके मनमें इस प्रश्नका जन्म होना ही चाहिये कि जो ऐसे दर्शनसे पुण्य होता तो आपकी बुद्धि धर्ममें क्यों नहीं गयी। आप जेसेके तैसे ही कालाबाजार करनेवाले बने रहे। आप पूर्ववत् ही अज्ञानी रह गये। ऐसे कठपुतलीके खेलमें लुब्ध होकर आप अपना जन्म निरर्थक न बनावें। इस प्रकारसे मन्त्र-तन्त्रसे किसीका भी कल्याण नहीं होता। गीतामें आपने कही भी पढा है, सुना है कि मन्त्रसे या जलपूर्ण पत्थरके दर्शनसे आपका कल्याण होगा? तब आप गीतामें सुनते क्या हैं? आपका नेत्र तो अभी भी बन्द ही रहा है। आप गीतामें ही ढूँढ़ें कि आपके कल्याणका पथ कौन-सा है। सत्यके मार्गमें जानेवाले के लिये सभी मन्त्र उपयोगी होते हैं। नेत्रवान्‌के लिये ही प्रकाश उपयोगी बनता है। अन्धेके हाथमें दिया हुआ प्रकाश उसके बहुत उपयोगके लिये नहीं होता। तब प्रथम शंकाका समाधान यह हुआ कि आप किसी सद्गुरुके समीप जायेंगे तो वह आपको दुराचारमें से निवृत्त करेगा। आपका मल धुलकर अन्तःकरण स्वच्छ हो जायगा।

दूसरी शंका यह है कि उपासनासे ही अज्ञान क्यों न निवृत्त हो जाय? यदि ऐसा न बने तो उपासनाका फल ही क्या हुआ? यह शका भी योग्य ही है। यदि आप परमात्माकी सच्ची उपासना करेंगे तो उससे अज्ञानरूप दोषकी निवृत्ति अवश्य ही होगी। परन्तु ईश्वरोपासनाकी पद्धति आपको जान लेनी चाहिये। उपासना शब्दका अर्थ है "प्रभुके समीपमें बैठना।" समीपमें बैठनेका यह अर्थ नहीं मानना चाहिये कि जैसे आप अपने मित्रके पास बैठते हैं वैसे ही ईश्वरके साथ बैठ जायेंगे। अशुद्ध अर्थ समझनेको ही नहीं। भगवान्‌के दिव्यगुणोंका स्मरण करके स्वयं भी वैसा ही दिव्यगुण सम्पन्न बनना चाहिये। इसीका नाम उपासना। महाभारतमें एकलव्यने अपने कल्पित गुरुकी उपासनाकी थी और गुरुसमान ही समर्थ धनुर्धारी बन गया था। आपको ऐसी ही उपासना

करनी है। यदि आप ऐसी उपासना करेंगे तो अज्ञान अपने-आप अदृश्य बन जायगा। मैं आपसे कहता हूँ कि आप ऐसी ही उपासनाका सदारम्भ करें। आपके सभी भेद अर्थात् जगत्‌की भेदबुद्धि अदृश्य हो जायगी। थोडा मनुष्य बनें। थोडी भी मनुष्यताको जागरित होने दें। स्वार्थका त्याग करें। स्वार्थी मनुष्य, दम्भी मनुष्य, पाषण्डी मनुष्य कभी भी सत्यकी ओर नहीं जाता। किसीको सत्यपरायण होने भी नहीं देता। आप स्वयं अपना गुरु बनें। आपका कल्याण हो जायगा। भगवान् आपको सुबुद्धि दें। †

† ता० २८-६-५० के दिन मोम्बासामें दिया गया हुआ प्रवचन।

भागवत-कथा

(१४)

मुझे तो सांख्य-दर्शनके अनुसार जगत का सर्जन विचारना है। परन्तु उसकी भूमिका यदि तैयार न हो तो आप उस तत्त्वको समझ नहीं सकेंगे। प्रत्युत आपको अरुचि हो जायगी। यह कोई कथा-कहानी या दृष्टान्त नहीं है कि आप झट समझ जायेंगे और आनन्द ले सकेंगे। कपिलमुनिका जगत्-संबधी ज्ञान कैसा है, सम्भवतः आज मैं उसे आपसे कह सकूँगा। जैसे संगीत प्रेमियोंको संगीत अच्छा लगता है, नाटक-सिनेमा जिसे प्रिय है उसे वह अच्छा लगता है, यह जो संसारकी सभी सामग्रियाँ हैं, आपको प्रिय लगती हैं, मैं चाहता हूँ कि वैसे ही आपको शास्त्र भी प्रिय लगे। गप्पे मारनेवालों की वातोंसे अब अलग रहना सीखें। जो आपको आता है वही और उतना ही शास्त्रोंमें है, ऐसा नहीं है। उसमें अधिक भी है। आपने सुना नहीं है। किसीने आपको सुनाया ही नहीं है। जितना सुगम-सुगम था वह सब आपके मस्तिष्कमें भर गया है। उसमेंसे कुछ अच्छा होगा और कुछ खराब भी। अवशिष्ट रहा कठिन। उस कठिनको सुननेके लिये आपकी तैयारी हमेशा रहनी ही

चाहिये। गढ़ जीतनेमें ही शौर्य है। झोपडी जला डालनेमे कोई बहादुरी नहीं है। भागवतकी कथा आपने हजारों बार सुनी है। भागवत आपको इतनी अच्छी तरहसे आती है कि उतना भागवत बाचनेवाला भी जानता न होगा। आपको सब कण्ठस्थ हो गया है कि अब इस कथाके पश्चात् यह कथा आवेगी। आपको उसे सुनाकर मै क्या करूँगा? भागवतमें से मुझे आपको दर्शनशास्त्रका ज्ञान देना है। आपको बताना चाहिये कि भागवतमें ऐसी वस्तुएँ भी हैं जिनका आपको किंचित् भी ज्ञान नहीं है। गीताके सम्बन्धमें भी ऐसा ही है। गीता कथा करनेकी वस्तु नहीं है। गीता दार्शनिकोंका ही ग्रन्थ है। गीता उसीको आती है जो संस्कृत भाषा और दर्शनशास्त्रका बडा विद्वान् हो। गीतामे गप्पे नहीं हैं। समझने और समझानेकी बातें बहुत पडी हैं। उनका तात्विक विवेचन दृष्टान्तोंसे कभी हो ही नहीं सकता। इसलिये स्मरण रखें कि जीवन एक संग्राम है। संग्राममें कभी सुगमता भी होती है, कभी दुर्गमता भी होती है। जीवनमें कभी माताका प्रिय मधुर दूध भी पीना पड़ता है, और कभी सूखे चनोंके साथ दाँतोंको युद्ध करना पडता है। मुझे आपके हृदयमें दर्शनशास्त्रके प्रति प्रेम उत्पन्न करना है। इसलिये आप थोडे धीरजसे सुनेंगे तो मैं अवश्य सफल होऊँगा, और आपको जान पडेगा कि आप यहाँ आकर कुछ प्राप्त कर रहे हैं।

कोई भी वस्तु जो उत्पन्न होती है वह कार्य कही जाती है, प्रत्येक कार्यके लिये कोई न कोई कारण अवश्य होता है। जिससे या जिसमें से कोई वस्तु उत्पन्न हो वह कारण कहलाता है। कारणके बिना कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। घडे को लें। आप जानते हैं कि घड़ा-मट्टीका घडा उत्पन्न हुई वस्तु है। इसलिये घड़ा अर्थात् घट कार्य है। इस घटरूप कार्यके कारणकी खोज करनी चाहिये। क्योंकि आप समझ गये हैं कि प्रत्येक कार्यका कोई न कोई कारण होता है। परंतु घटके कारणका आप शोध करें, उससे पहले कारणके सम्बन्धमें थोड़ासा विशेष सुन लें। ये कारण तीन प्रकारके होते हैं, १ निमित्त कारण,

२ उपादान कारण, ३ साधारण कारण। कार्यको करनेवाला जो कर्ता होता है वही निमित्त कारण कहा जाता है। कर्ता जिस वस्तुमेंसे उस कार्यको प्रकट करता है वह वस्तु उपादान कारण कही जाती है। उस वस्तुके प्रकट होनेमें दूसरी जो सहायक वस्तुएँ होती हैं उन्हें साधारण कारण कहते हैं। अब घटको लें। घट कार्य है, इसका बनानेवाला-कर्ता कुम्हार है। अतः वह कुम्हार उस घटका निमित्त कारण कहा जाता है। वह कर्ता उस घटको किसमेंसे उत्पन्न करता है? मिट्टीमें से। इसलिये मिट्टी उपादान कारण है जिसमेंसे जो उत्पन्न हो उसका वह उपादान कारण कहा जाता है। ऐसा भी कह सकते हैं कि जो वस्तु अपनेको बदलकर दूसरे रूपमें आ जाय वह बदलनेवाली वस्तु दूसरे रूपमें आई हुई वस्तुका उपादान कारण कही जाती है। जैसे मिट्टी अपने रूपको बदलकर घडेके रूपमें आ गयी है इससे वह बदलनेवाली वस्तु मिट्टी, दूसरे रूपमे आयी हुई वस्तुका उपादान कारण कही जाती है। इसीप्रकार बहिनोंके हाथका कङ्कण कार्य है और उसका उपादान कारण सोना है। क्योंकि सोना ही अपना रूप बदलकर कङ्कणका रूप धारण करता है। इसीप्रकार आपका वस्त्र कार्य कहलायेगा, वस्त्र अर्थात् पट। पट भी उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। इसलिये पट भी कार्य है। उसका उपादान कारण सूत अर्थात् तन्तु समूह है। अथवा तन्तुओंका परस्परमें संयोग है। तन्तुके बिना या तन्तुओंके संयोगके बिना पट कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। वे तन्तु ही अपनेको पटके रूपमें बदल देते हैं। इसलिये रूप बदलनेवाला उपादान कहलाता है और वह जिसके रूपको धारण करे उसे कार्य कहते हैं। दो कारण आपकी समझमें आगये होंगे। अब तीसरे कारण-साधारण कारण-की बात करें। घट बनानेमें कुम्हारको चक्र चाहिये। चक्रको चलानेके लिये एक दण्ड भी चाहिये। चक्र पर रखे हुए मट्टीके पिण्डको चिकना बनानेके लिये पानी और थोड़ा कपड़ा भी चाहिये। उसी कपडेको चीवर कहते हैं। मिट्टीके पिण्डमें ये तैयार हुई वस्तुको नीचेसे काटकर उतारनेके लिये डोरा अर्थात् सूत्र भी चाहिये। अतः दण्ड, चक्र,

चीवर, सूत्र, जल, आदि साधारण कारण कहे जाते हैं। देश, काल आदि भी साधारण कारण कहलाते हैं, सोनेका कङ्कण बनानेके लिये छोटी भट्टी, भट्टीमें आग, आगको सुलगानेके लिये पंखा अथवा बाँस या लोहे या पीतलकी नली, हथौड़ी, सँड़सी, चिमटा, आदि साधारण कारण कहे जाते हैं। पटके साधारण कारण तुरी, वेमा और दूसरे साधन जो हों वे सब। ये तीन कारण हों तभी कार्य प्रकट हो। तीनों कारण न हों, एक भी कम हो तो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। कुम्हार न हो और माटी एवं साधारण कारण हों तो भी घट उत्पन्न नहीं हो सकता। कुम्हार हो, पानी, मिट्टी न हो और साधारण कारण भी न हों तब भी घट उत्पन्न नहीं होगा। कुम्हार भी हो, मिट्टी भी हो, परंतु यदि चक्र, चीवर आदि साधारण कारण न हों तब भी घट उत्पन्न नहीं होगा। चक्र, चीवरके अभावमें यदि कोई दूसरे साधनोंका उपयोग होगा तो वे ही साधारण कारण हो जायेंगे। इसीप्रकार हाथके कङ्कणके लिये, अङ्गुलीकी अँगूठीके लिये कानके कुण्डलके लिये, और गलेकी साँकलके लिये, समझना चाहिये। ये सब आभूषण कार्य कहे जाते हैं। सोना सबका उपादान कारण कहा जाता है। और सुवर्णकार इनका निमित्त कारण कहा जाता है। इसीप्रकार पटके लिये समझना चाहिये। पट कार्य है। सूत्र उपादान कारण है। और जुलाहा निमित्त कारण है।

अब हम जगत्के कारणका विचार करें। जगत् भी जन्य है। बना है। किसी शुभमुहूर्तमें इसका जन्म हुआ है। वेद मे कहा है—

> ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोध्यजायत।
> ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः॥
> समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
> अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी॥
> सूर्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्।
> दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथोस्वः॥

परम प्रकाश स्वरूप परमात्मासे रात्रि, दिवस, मास, वर्ष, सूर्य, चन्द्र आदि पूर्व सृष्टिके समान ही उत्पन्न हुए। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसे कार्य कहते हैं। जो कार्य होता है, उसका कारण तो होना ही चाहिये। इस मन्त्रसे, एवं "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" इस मन्त्रसे सिद्ध है कि इस जगत्का उत्पादक कोई देव है, कोई शक्ति है, जिसे धाता कहनेमें आया है। यही धाता पश्चात् ईश्वरके नामसे पहचाना गया। जो कर्त्ता वही निमित्त कारण। अतएव जगत्का निमित्त कारण ईश्वर, उपादान कारण परमाणु, और साधारण कारण काल, दिशा, जीवोंके कर्म आदि। यह न्यायशास्त्रकी रीति है। यहाँ एक शंका है। नैयायिकोंका नियम है कि उपादान कारणके गुण कार्यमें उतरते हैं। यदि परमाणु जगत्का निमित्त कारण हो तो परमाणुके गुण जगत्में आने चाहिये। परमाणु अति सूक्ष्म है। जगत् भी अति सूक्ष्म ही होना चाहिये। परमाणु निरवयव हैं इससे जगत् भी निरवयव ही होना चाहिये। परमाणु नित्य है अत जगत् भी नित्य ही होना चाहिये। परमाणु अदृश्य है, जगत् भी अदृश्य होना चाहिये। इस शकाका समाधान नैयायिक बहुत ही युक्तिपूर्वक करते हैं। मैं आपको उस जगलमें नहीं ले जाना चाहता। साधारण रीतिसे आपको इतना ही जान लेना है कि परमाणु साक्षात् जगत्का कारण नहीं है। परमाणुसे द्व्यणुक, त्र्यणुक (त्रसरेणु), चतुरणुक आदि क्रमिक विकार होते हैं, तब स्थूल जगत् उत्पन्न होता है। इसलिये जगत्का साक्षात् कारण परमाणु नहीं कहलाता है, उसके विकार ही साक्षात् कारण कहे जाते हैं। विकारोंमे जो धर्म रहते हैं वे ही जगत्में आते हैं। ये विकार अति सूक्ष्म नहीं हैं। नित्य नहीं हैं। निरयव नहीं हैं। अदृश्य नहीं हैं। इसलिये जगत् भी अति सूक्ष्म नहीं है, नित्य नहीं है, निरवयव नहीं है, अदृश्य नहीं है। नैयायिक जगत्की सत्ता दो प्रकारसे मानते हैं, कार्य जगत् और कारण-जगत्। कार्य जगत् यह है, जिसे हम सब देखते हैं, अनुभव करते हैं। यह अनित्य है। कारण जगत् परमाणु रूप है। परमाणुओंमें पहलेसे ही यह जगत् अति सूक्ष्म रूपमें बीज रूपसे

रहा है। परमाणु नैयायिकोके मतके अनुसार नित्य है। इससे यह कारण-जगत् भी नित्य ही है। परमाणु यही पञ्चभूत है। परमाणुओंमें पृथ्वीके भी परमाणु हैं और जल, तेज, आकाशके भी परमाणु हैं। अतः परमाणु-पुञ्ज ही पञ्चभूत पुञ्ज है। कारणके सम्बन्धमे आपको स्पष्ट ज्ञान हुआ ही होगा कि निमित्त कारण, उपादान कारण और साधारण कारण ये तीन कारण हैं। नैयायिक इसे दूसरी भाषामे भी उपस्थित करते हैं:— समवायी कारण, असमवायी कारण तथा निमित्त कारण। उपादान कारण ही समवायी कारण है। समवाय नामका नैयायिकोंने एक सम्बन्ध माना है। वह सम्बन्ध नित्य होता है। घट उत्पन्न होता है, तब उस घटमे मृत्तिका समवाय सम्बन्धसे ही रहती है। कभी ऐसा नहीं होता कि मट्टी घडेमे न हो और घडा बन जाय। असमवायी कारणकी कल्पना नैयायिकोंकी अपनी ही है। दूसरे दार्शनिक इसे नहीं मानते। असमवायी कारणका लक्षण यह है कि "जो कारण कार्यके साथ अथवा कारणके साथ समवाय सम्बन्धसे एक वस्तुमे रहकर कार्य उत्पन्न करे वह असम-वायी कारण है।" इसके लिये एक दृष्टान्त दूँ। पट कार्य है इसे आप जानते हैं। पटमें तन्तुकी समवायिकारणता है, परंतु तन्तुसंयोग पटका असमवायि कारण है। क्योंकि पटरूप कार्यके साथ तन्तुरूप एक द्रव्यमें समवाय सम्बन्धसे तन्तु संयोग रहता है। इस पक्षमें निमित्त कारण कुम्भकार तो होता ही है, पर चक्र, चीवर आदि भी निमित्त कारण ही माने जाते हैं।

इस प्रकारसे नैयायिक जगत्का निमित्त कारण ईश्वरको मानते हैं, अर्थात् ईश्वर ही जगत्कर्त्ता है। उदयनाचार्य अपनी न्याय कुसुमाञ्जलि नामक अत्युत्तम ग्रंथमें एक कारिका—एक श्लोक द्वारा सुन्दर पद्धतिसे जगत्कर्त्ता ईश्वरकी सिद्धि करते हैं। वह श्लोक यह है—

कार्योयोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वकृदव्ययः॥

इसका साराश इस प्रकार है। घटरूप कार्यको देखकर उसके उत्पादक कुम्भकारकी कल्पना करनी ही पडती है, क्योंकि कार्य, कर्त्ता बिना था नहीं सकता। वैसे ही जगत्‌रूप कार्यको देखकर उसके किसी कर्त्ताकी कल्पना करनी ही चाहिये। जगत् भी कार्य है, अतः कर्ताके बिना इसका अस्तित्वमें आना शक्य नहीं है। यह प्रथम युक्ति। दूसरी युक्ति—सृष्टिके आरम्भमें दो परमाणु इकट्ठे होते हैं तब द्वयणुक उत्पन्न होता है। इसी प्रकारसे तीन परमाणु एकत्र हों तब त्र्यणुक, चार एकत्र हों तब चतुरणुक। परन्तु इनको इकट्ठा करनेवाला कौन? परमाणु तो जड हैं। जडमें स्वतः क्रिया हो नहीं सकती। इसलिये कोई इकट्ठा करनेवाली शक्तिको अवश्य मानना ही पडेगा। वही शक्ति जगत्कर्त्ता ईश्वर। तीसरी युक्ति—यह समस्त विश्व किस आधार पर रहा है? यह गिर क्यों नहीं जाता? इसको धारण करनेवाला जो होगा वही ईश्वर। और भी, जगत्का प्रलय भी तो होता ही है। इसका प्रथत्न करनेवाला जो होगा वही ईश्वर। चौथी युक्तिः—ससारका यह अर्थ है कि संचरण करनेवाला, चलनेवाला। जगत्का भी यही अर्थ है। जो चला जाय वही जगत्, गति करानेवाला। चले जानेके लिये नियम करनेवाला अर्थात् प्रलय करनेवाला कोई होना ही चाहिये। ऐसी सुन्दर रचना करनेवाला कोई तो होगा ही। इसमें गति डालने-वाले की कल्पना होनी ही चाहिये। जिसकी कल्पना करेंगे वही ईश्वर। पाचवीं युक्तिः—वेदवाक्य आज तक अबाधित रहे हैं। ये इसलिये अबाधित रहे हैं कि इनका कर्ता ईश्वर है। वेदकी अबाधितता देखकर भी ईश्वरकी कल्पना करना आवश्यक है। छठी युक्तिः—वेदोंमें जगत् कर्त्ताका वर्णन हुआ है। उससे उसकी सिद्धि होती है। सातवीं युक्तिः—जैसे महाभारत आदि वाक्योंका—काव्योंका रचयिता देखनेमें आता है वैसे ही वेदरूप वाक्यका भी कोई रचयिता होना चाहिये। जो उसका रचयिता वही ईश्वर। आठवीं युक्तिः—द्वयणुकादिकी उत्पत्तिको संख्या अपेक्षित है। दो परमाणुसे द्वयणुक, तीन परमाणुसे त्र्यणुक। इस रीतिसे

जो संख्या आवश्यक है उसकी पूर्त्तिके लिये किसी ज्ञानी चेतनकी आवश्यकता है वही ईश्वर है। द्वयणुकादि मे जो परिमाण उत्पन्न होता है वह भी सख्याके बलसे ही होता है। यहाँ भी संख्या-ज्ञान के लिये चेतनकी आवश्यकता है। वही ईश्वर। नवमी युक्तिः—मनुष्य धर्म करता है, अधर्म करता है। धर्माधर्म तो यहीं नाश हो जाते हैं परन्तु इसमेंसे एक अदृष्ट उत्पन्न होता है। उसका नाश शीघ्र नहीं होता। अदृष्ट जड है, अचेतन है। उसमें फल देनेकी शक्ति नहीं ही होती। यदि कोई कर्मफल देनेवाला चेतन न हो तो किये हुए कर्म निष्फल जायेंगे। इसलिये अदृष्ट के अनुसार फल देनेवालेकी कल्पना ही ईश्वरकी कल्पना है। इस श्लोक का अन्य रीतिसे भी व्याख्यान होता है। मैंने तो सामान्य रीतिसे एक व्याख्यान आपको सुनाया है। आजका विषय आपको बहुत कठिन लगेगा, परन्तु कुछ चिन्ता नहीं। आपको कठिन वस्तु सुनने की टेव पडे यह अच्छा ही है। आज इतनाही।

२९-६-५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(१५)

इस जगत्की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है अथवा किस प्रकार होती है यह विचारना और जानना आवश्यक है। इसमे समय जाय, यह भी प्रभु स्मरण ही है। प्रभुस्मरण "रघुपति राजाराम" करनेसे ही नहीं होता, स्मरणकी बहुत सी रीतियाँ हैं। यह भी एक रीति है। जगत्के विचारमे जगत् कर्त्ताका भी विचार होता ही है। जगत् कर्त्ता, ही तो प्रभु। इसलिये बिना घबड़ाये सभी सुनना चाहिये। हम जिस घरमे रहते हों उस घरका इतिहास हम न जानते हों तो अज्ञानी कहे जायेंगे। आप जिस शहरमे रहते हों, जिस देशमें रहते हों, जिस गाँवमे रहते हों,

उसका इतिहास आपके हृदयमें होना ही चाहिये। यह बुद्धिकी बात है। इसी प्रकार हम जगत्में रहते हैं, हम स्वयं जगत्का एक अङ्ग बनकर रहते हैं। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्र, ग्रह नदी, समुद्र, वन, वृक्ष, लता, गुल्म आदि किस प्रकार प्रकट होते हैं, इनका प्रकट करनेवाला कौन है, यह जानना अत्यावश्यक है। तोतेकी तरह वर्तना यह योग्य नहीं है क्योंकि हम मनुष्य हैं, बुद्धिमान् प्राणी हैं। संसारमें बहुतसी वस्तुएँ स्थूल हैं, बहुत सी सूक्ष्म हैं, बहुतसी स्थूलतर और स्थूलतम वस्तुएँ हैं। परमात्मा सबकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है। जगत्की वस्तुओंके विचारसे ही उसका विचार हो सकता है। जगत् ही परमात्माको पहचाननेका एकमात्र साधन है। जगत्की सुन्दरता ही उसकी सुन्दरताका परिचायक है। हिमालय पहाड़का गुरुत्व उसके गुरुत्वका ज्ञापक है। आकाशका महत्त्व ही उसके महत्त्वका परिचायक (ज्ञापक) और स्मारक है। इससे उसका विचार अर्थात् जगत्का विचार और जगत्का विचार अर्थात् उसका विचार। वह सर्व शक्तिमान् है, इस कथनमें प्रमाण क्या है? वह परमदयालु है यह और कथन कैसे सिद्ध किया जा सकता है? केवल जगत् और जगत्के इतिहाससे। इसलिये जिसको जिस प्रकारसे अपने ऋषि, मुनि, योगी, यति, भक्त जानते थे, जिस प्रकारसे जान सके थे, उसी रीतिसे हम भी जाननेका प्रयत्न करें।

परमात्मा कैसा होगा? इस प्रश्नका आजतक कोई ठीक उत्तर नहीं है। योगी लोग जान गये पर हमें नहीं बता गये। भक्त भी जान गये थे पर वे भी हमें नहीं बता गये। यति, महात्यागी, ज्ञानी, उसे पहचान गये, पर हमें नहीं बता गये। अब तो अपने प्रयाससे ही हम उसे पहचान सकेंगे। कोई क्या कहकर ईश्वरकी पहचान करायेगा? आप किसीसे पूछते कि गुड़ कैसा है? तो वह आपको गुड़का जन्मइतिहास कह सुनायेगा। खेतमें ऊखके टुकडे कैसे डाले जाते हैं, कैसे पानी सींचा जाता है, कैसे पैदा किया जाता है, किस प्रकार उसका रस निकालनेमें आता है, और किस रीतिसे भट्ठीपर

कढाईमे वह रस तपाकर, उकालकर, घट्ट बनाकर गुड़ बनाया जाता है। कहनेवाला इतना ही कह सकता है, उसका आकार, प्रकार, रग, रूप भी कह सकेगा। पर उसका स्वाद तो नहीं ही कह सकेगा। मुख्य वस्तु जो जाननेकी है वह स्वाद ही है। रूपरंगका ज्ञान गौण ज्ञान है। गुणग्राही केवल गुण खोजता है। जैसे गुडका स्वाद कोई बता नहीं सकेगा, वह सदा स्वसवेद्य ही रहेगा। वैसे ही परमेश्वरको भी कोई बता नहीं सकेगा। इस जगत्‌के इतिहाससे तो उसे सर्वांशमे तो हम नहीं ही जान सकते। केवल उसकी बुद्धिमत्ता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ताका ही ध्यान हमको आ सकता है। वस्तुतः वह क्या है यह तो स्वयसंवेद्य ही रहेगा। यह तो कोई पवित्रात्मा, शालग्राम जैसा पवित्र महापुरुष जान सकेगा। वह भी जानकर हमलोगोंको बता नहीं सकेगा। वे लोग जिन साधनोंके द्वारा उसे जान सके, उन सावनोंका नामरूप वे दे गये हैं। आपको जाननेकी इच्छा हो, और उन साधनोंमेसे कोई अनुकूल साधन आपको मालूम पडे, तो उसका ग्रहणकर उसे जाननेका स्वय प्रयत्न करें। वह साधन अनुकूल न पडे तो अनुकूल साधन उत्पन्न करें। पर यह अनुकूल साधन यदि सच्चा ही साधन होगा तभी वह मिलेगा। किसी वस्तुको पानेके लिये, जाना या चलना—केवल गमनक्रिया या चलनक्रिया ही आवश्यक नही है, प्रत्युत वह वस्तु किस दिशामे है, उसका ठीक ज्ञान प्राप्तकर उसी दिशामे गमन करनेसे या चलनेसे वह मिल सकेगा। प्रतिकूल गमनसे–वह पूर्व दिशामे हो और आप पश्चिम दिशामे खोजने निकले, तो किस प्रकार आप उसे प्राप्त कर सकेंगे? इसलिये खूब सावधान रहें। वह कितना विलक्षण है, कितना अद्भुत है, यह जाननेके लिये केनोपनिषद्‌की यह श्रुति सुनें—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् अन्यदेव तद् विदिताद् अथो अविदितादधि ॥"

वह आँखसे, चक्षुसे देखा नहीं जा सकता। वाणीसे कहा नहीं जा

सकता। मन उसे नहीं जान सकता। उसका सामान्य ज्ञान और विशेष ज्ञान किसीको हो ही नहीं सकता। किस प्रकार कोई उसका उपदेश करे? वह तो ऐसा विचित्र है कि इस समय उसे किसी प्रकारसे कोई जान भी जाय तो वह तत्काल ही अज्ञात जैसा ही बना रहता है। वह ज्ञातसे भी भिन्न और अज्ञातसे भी भिन्न। अतः ये ऋषि पाँच वार भी यह कहते थके नहीं कि "नेद यदिदमुपासते" वह यह नहीं है जिसकी तुम उपासना करते हो।

हमलोग आज उसे प्राप्त करनेके लिये, उसे पहचाननेके लिये यह प्रतिमारूप साधन पा सके हैं। पर यह तो अपूर्ण साधन है। यह उसको प्राप्त करनेका साधन नहीं है। उसके लिये प्रेम, श्रद्धा, भक्ति आदि सीखनेका एक नम्र साधन है। वह भी गन्दा बन गया है। मूर्ति-पूजन अर्थात् केवल दुकानदारी। पुजारीका ध्यान हमेशा पैसे हीं मे रहता है। कौन कितना दे गया? आज कितने पैसे चढ़े? कलसे आज कितने अधिक या कम आये? आजकी मूर्तिपूजामें यही ध्यान, यही स्मरण, यही गिनती, ऐसी मूर्तिपूजासे आपको क्या मिलता है? कुछ प्राप्त करना ही हो तो श्रद्धा, भक्ति और अनन्य प्रेम सीखना ही चाहिये।

आपके ध्यानमें न हो तो ध्यानमें आना चाहिये कि जिस साख्य-दर्शनके अनुसार जगत्का विचार करनेके लिये मैं कबसे बोल रहा हूँ, वह ईश्वरकी सत्ता (अस्तित्व) को अस्वीकार करता है। साख्यदर्शन आज दो प्रकारसे उपलब्ध होता है, एक ईश्वरका अस्वीकार करता है और दूसरा ईश्वरका स्वीकार करता है। आज अनीश्वरवादी साख्य ही विशेष प्रचारमें है। वह ईश्वरके बिना भी काम चला लेता है। सृष्टि बनानेके लिये ही ईश्वर चाहिये। उसकी सृष्टि दूसरे प्रकारसे बन ही जाती है। अतः वह ईश्वरको नहीं मानता। इसका पूर्णरूपसे विचार तो अब आगेके दिनोंमें करूँगा। आज तो यह ईश्वरके स्मरणकी बात चल रही है। इससे प्रसङ्गवश मैंने आपको संक्षेपमें इस सम्बन्धमें कह दिया है।

दूसरा एक दर्शन है जिसका नाम योगदर्शन है। वह भी ईश्वरको मानता प्रतीत होता है। पर उसका ईश्वर हिन्दू ईश्वरके जैसा नहीं है। वह कहता है, "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः" जिसे कभी कोई क्लेश न हो, जिसके ऊपर कोई कर्म भोगनेका भार न हो, ऐसा पुरुष विशेप अर्थात् कोई विशिष्ट जीव ईश्वर कहलाता है। इस मतके अनुसार जो जीव क्लेश और कर्मविपाकमे से छूट जाय वह ईश्वर हो सकता है। यह ईश्वर बहुत महत्त्वका नहीं है। वह जगत्का कर्ता है या नहीं, इस विपयमे योगदर्शन मौन रहता है। आपको ऐसे भी ईश्वरकी चाह हो तो उसके अङ्गीकार करनेमें कोई बाधक नहीं होगा। जो जिसे अच्छा लगे वही उसका ईश्वर। जगत्में कोई ऐसा नहीं है कि जो पहचान कर कहे कि यह ईश्वर नहीं है। अनेक प्रकारका ईश्वर है तब यह भी एक प्रकार। जैनधर्मका ईश्वर ऐसा ही है। मुझे लगता है कि मैं ऐसे ईश्वरको अधिक मान दे सकूँगा। जगत्में तो ऐसे अनेक विशिष्ट जीव होंगे ही जो क्लेशकी परम्पराकी या कर्मविपाककी कोई गणना नहीं करते होंगे। जीवन्मुक्त-आत्मा ऐसे ही होते हैं। वे शरीरधारी होते हुए भी, प्रारब्ध भोगते हुए भी, सब क्लेशोंसे और कर्मविपाकोसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। ऐसे ईश्वर अनेक हो सकते हैं और उनमे से किसी एकको हम अपनी उपासनाके लिये पसंद कर सकते हैं। वह चेतन देव होगा। वह हमारे दुःखोंको सुनेगा, वह हमारे हृदयको स्पर्श करेगा, वह आँखके आँसुओंको भी पोछेगा, और उत्तममार्ग हमको बतायेगा। मन्दिरका ईश्वर यह काम नहीं कर सकता। तो भी आपको वही अच्छा लगता हो तो आप वहाँ ही चिपके रहें पर अपना भविष्य मत बिगाड़ें।

एक दूसरा दर्शन है, उसका नाम है मीमासादर्शन। उसका कर्ता जैमिनि मुनि हैं। मीमासादर्शन एक प्रसिद्ध और अत्यन्त उपयोगी दर्शन है। उसकी अतितम अभिवृद्धि हुई है। विकसित दर्शनोंमेंसे वह भी एक है। मीमासाका जो अनुसरण करे वह मीमासक कहलाता है। मीमासकोंमें

भी दो मत हैं, पुराने मीमांसक ईश्वरको नहीं मानते थे। नवीन मीमांसक ईश्वरको स्वीकार करते हैं। प्राचीन ऐसा मानते थे कि ईश्वरको माननेकी आवश्यकता केवल दो कार्योंकी सिद्धिके लिये ही होती है। एक तो जगत्‌निर्माण और दूसरा कर्मफलप्रदान। जो ईश्वरको न मानें तो जगत्‌की उत्पत्ति किस प्रकार? और कर्मफलकी प्राप्ति कैसे? क्योंकि कर्मके दो विभाग हैं, शुभ और अशुभ। शुभकर्मके फलकी इच्छा तो हर एकको ही होती है, परन्तु अशुभ कर्मके फलकी किसीको भी इच्छा नहीं होती। चोर कभी नहीं चाहता कि उसे कोई पकड़ ले और दण्ड मिले, फिर भी फल मिलते देखा जाता है। यह फल देनेवाला कोई होना चाहिये। वही ईश्वर। मीमांसक कहते हैं कि भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ, भोग्यपदार्थ इन तीन प्रकारोंका ही जगत् है। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारक आदि भोग्यपदार्थमें ही—भोग्य-विषयमें ही आ जाते हैं। यह जगत् उत्पन्न नहीं होता। यह अनादि है। इसका प्रलय भी नहीं होता। खण्डप्रलय भले ही हो पर महाप्रलय कभी भी नहीं। आज एक वृक्ष टूट पड़ा, कल एक पहाड़का शिखर टूट पड़ा था, कल कुछ दूसरा ऐसा ही होगा, इसीका नाम खण्डप्रलय। पर ऐसा कभी नहीं होता कि जगत् सर्वथा ही न रहे। जब जगत् अनादि है, उत्पत्ति रहित है, तब उसकी उत्पत्ति करनेवालेकी चिन्ता व्यर्थ ही है। कर्मका फल कर्म स्वयं दे देता है। ठोकर लगेगी तो दुःख होगा ही। आँख मूँदकर असावधानीसे चलोगे तो ठोकर लगेगी ही। वैसे ही कर्म-फलके लिये भी ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है। दूसरा ऐसा कुछ कारण नहीं है कि जिसके लिये ईश्वर माननेकी आवश्यकता हो।

न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन ईश्वरका स्वीकार करता है और वही जगत्‌का निमित्त कारण है। यह आप पहले जान चुके हैं। आज इतना ही।

२०–६–५० को मोम्बासा में दिया गया प्रवचन।

भागवत कथा

(१६)

आज हम, कपिल भगवान्के साख्यदर्शनके अनुसार जगत्की रचना किस प्रकार हुई इसका विचार करनेवाले हैं। यह विषय सम्भवतः आपको नीरस लगे, फिर भी आप सुनेंगे, ऐसी आशा तो मै रखता ही हूँ।

आपने समझा है कि नैयायिक अर्थात् गौतम और कणाद जगत्की रचनाके लिये तीन तत्त्वोंका स्वीकार करते हैं—ईश्वर, जीव, परमाणु। आपको स्मरण तो होगा ही कि तीन प्रकारके कारण होते हैं—निमित्तकारण, उपादानकारण, साधारणकारण अथवा समवायिकारण, असमवायिकारण, निमित्तकारण। जगत्के सर्जनमें ईश्वरनिमित्तकारण है। परमाणु उपादान कारण है, और काल, दिशा, आकाश जीवोंके कर्म ये सब साधारणकारण हैं। ये तीनों जगत्को उत्पन्न किया करते हैं। साख्यदर्शन नैयायिककी भाँति तीन तत्त्व स्वीकार नहीं करता। उसके मतानुसार दो ही तत्त्वसे जगत्की उत्पत्ति हो जाती है। साख्यका मार्ग सरल है। साख्य ईश्वरका स्वीकार नहीं करता। साख्यके आचार्य भगवान् कपिल भागवतके अनुसार स्वयं ईश्वर अथवा ईश्वरावतार थे। इससे उन्होंने जगत्की रचनाका भार ईश्वरके शिरसे अलग किया। ईश्वरके इस भारको हलका करनेका काम केवल कपिलाचार्यने ही किया है, ऐसा नहीं है। मीमासकोंने भी ऐसा ही किया है। पीछेसे जैनाचार्योंने भी यही किया है। जगत्-रचनाकी खटपटमें से ईश्वरको जैन-दर्शनने भी बचा लिया है। जैनदर्शन ईश्वरका स्वीकार तो करता है, पर जगत्कर्ताके रूपमें स्वीकार नहीं करता। जैन-ईश्वर वीतराग है। जगत् बनानेमें किसीको मूर्ख और किसीको पण्डित, किसीको दरिद्र, किसीको लक्ष्मीपात्र, किसीको अन्धा, किसीको बहरा बनाना ही पड़ता है। इससे उसे राग-द्वेषकी आवश्यकता पड़ेगी ही। इस प्रकार ईश्वरमें राग-द्वेष मानना ही पड़ेगा। इससे ईश्वरको वीतराग मानकर ससार और संसारी जीवोंकी खटपटसे उसे मुक्त रखनेका प्रयत्न हुआ है। कदाचित्

राग-द्वेष न भी माना जाय, वह अपने नियमानुसार वीतराग होकर ही यह सब करता हो तो भी, उसे चित्रगुप्तका वहीखाता तो अवश्य सुनना ही पडेगा। उसे कुछ तो स्मरण करना ही पडे, इतना भी काम ईश्वरको क्यों करना चाहिये? इससे वह वीतराग ही रहे, यही अच्छा है। जैन-मतके अनुसार जगत्‌की उत्पत्ति होती ही नहीं है। जगत् अनादिकालसे ऐसाका ऐसा ही चला आ रहा है, इसलिये ईश्वर शुद्ध रह सकता है। नैयायिकोंने इस दोषका निवारण किया है। वे इसे सुनकर मौन नहीं रहे। वे कहते हैं दो मजदूर काम करते हों। एक मजदूरने थोड़ा काम किया, दूसरे मजदूरने अधिक काम किया। थोड़ा काम करनेवालेको थोडी मजदूरी मिली और अधिक काम करनेवालेको अधिक मजदूरी मिली। इसमें न है राग, न है द्वेष। इसमें शुद्ध न्याय है। किसीको मूर्ख, किसीको पण्डित, किसीको निर्धन और किसीको सधन बनानेमे ईश्वरको राग-द्वेष होता नहीं है। प्रत्युत पूर्वजन्मोंमें किये हुए पुण्य-पापका यथोचित फल देनेमें ईश्वरने शुद्ध न्यायका आश्रय लिया है। जितनी मजदूरी उतना ही पैसा, यही न्याय है। मजदूरीसे कम पैसा देना भी पाप है और अधिक देना यह भी अधर्म है। इससे ईश्वरने, कर्मानुसार ही जीवोंको फल देकर अपने धर्मको सम्हाला है। साख्यने भी जगत्‌की रचनासे ईश्वरको पृथक् रखा है, अर्थात् उसने ईश्वरका अङ्गीकार ही नहीं किया। उसने थोडी ही सामग्रीसे जगत्‌को बना दिया है। यदि दो ही तत्त्वोंसे जगत्‌की निर्बाध उत्पत्ति होती हो तो अधिक तत्त्व किसलिये मानें? जितने अधिक तत्त्व उतनी ही अधिक असुविधा। थोडेसे ही पेट भरता हो और अपेक्षित पुष्टि मिलती हो तो बहुविध व्यञ्जनोंकी क्या आवश्यकता। यही है कपिलका हार्द। इससे कपिला-चार्यने पुरुष और प्रकृति दो ही तत्त्व स्वीकृत किये हैं। पुरुषका अर्थ परमेश्वर नहीं, जीव है। प्रकृतिकी व्याख्या फिर करूँगा। यहाँ इतना ही जान लें कि वह एक जड़ पदार्थ है। उसमेंसे ही यह समस्त आश्चर्यमय जगत् उत्पन्न हुआ है।

अब विचारनेको रहता है कार्य-कारण भाव। आप समझ गये हैं कि कारणके बिना कोई कार्य नहीं होता। बिना बीजके वृक्ष पैदा नहीं होता। मट्टीके बिना घड़ा नहीं बनता। सूतके बिना वस्त्र अस्तित्वमें नहीं आता। अतएव सांख्यके माने हुए दो माने तत्त्वोंमें कारणकी खोज करनी चाहिये। सांख्यके मतानुसार निमित्तकारण कौन? और उपादानकारण कौन? कपिल कहते हैं कि जीव सदा स्वरूपतः असङ्ग है। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः।" उसका किसी वस्तुके साथ सङ्ग-सम्बन्ध नहीं होता। पानी मिट्टीमें समा जाता है और उसके स्वरूपको बदल डालता है। पानी आटेमें भी समा जाता है और उसे रोटी बनानेकी योग्यता दे देता है। इस प्रकारसे जीव किसीमें या किसी जीवमें कोई समा नहीं जाता है, और इसमे कार्य-कारणके सम्बन्धसे उसे अलग रक्खा गया है। अग्निमें शीतलताकी कल्पना करें तो भी उसमें वह आनेकी नहीं। इसी प्रकार जीवकी असङ्गताके बदले उसमें ससङ्गताकी कल्पना करेंगे तो भी वह ससङ्ग बन सके ऐसा नहीं है। फिर भी निमित्तकारणत्वका विचार फिर करूँगा। पहिले उपादनकारणका विचार करें। सांख्यके मतमें उपादान और कार्यमें भेद नहीं है। जो कारण है वही कार्य है। प्रलयकालमें प्रकृति अव्यक्त अवस्थामें रहती है। यही कारणअवस्था। सृष्टिकालमें वही अव्यक्त प्रकृति व्यक्त अवस्थामें आती है। अतः प्रकृति तो एककी एक ही है, केवल इसकी अव्यक्त और व्यक्त ऐसी दो अवस्थाएँ ही अलग होती हैं। इससे प्रकृति ही कारण और वही कार्य। कार्य और कारण दो वस्तुएँ ही नहीं हैं। अमुक कालमें अमुक संयोगोंके कारण वह कारण कहलाती है और अमुक कालमें अमुक संयोगोंके कारण वह कार्य कहलाती है। प्रकृतिकी अव्यक्त अवस्था उपादानकारण है और व्यक्तअवस्था कार्य है। किसी भी इन्द्रियसे जिसका अनुभव किया जा सके, उसे व्यक्त कहते हैं। इन्द्रियोंसे जो न जानी जा सके उसे अव्यक्त कहते हैं। अव्यक्त प्रकृतिमेंसे व्यक्त जगत्का उद्भव होता है अर्थात् व्यक्त प्रकृति ही जगत्, प्रकृति ही जगत्का कारण। अब यह

प्रश्न रहता है कि प्रकृति अव्यक्त दशामें से जगत् दशामें अर्थात् व्यक्त दशामें किस प्रकार आती है? प्रकृति जड है—क्रियाशून्य है। जड स्वयं क्रिया नहीं कर सकता। मोटर जड है, सायकल जड है, रथ जड है, इससे इन तीनोंमें स्वतःक्रिया नहीं होती। ड्राइवर चेतन है, उसका सम्बन्ध होते ही मोटर चलने लग जाती है। सायकिलिस्ट जब सायकिलका हैण्डल पकड़कर चलाने लगता है तब उसमें क्रिया उत्पन्न होती है। रथमें जब घोड़ा या घोडे जुड़ते हैं, उसमें क्रिया होने लगती है। हम देख सके कि चेतनके सम्बन्ध विना जडमें क्रिया नहीं होती। इसी प्रकार पुरुष चेतन है। प्रकृति जड है। प्रकृति और पुरुषका सम्बन्ध होते ही प्रकृतिमें क्रियाका आरम्भ हो जाता है। चुम्बकके साथ जब लोहका सम्बन्ध होता है तब अचेतन, निष्क्रिय लोहेमें क्रिया होने लगती है। चुम्बकमें शक्ति अधिक हो तो लोहा आकृष्ट होकर चुम्बकके पास आता है, अधिक शक्ति न हो तो दूर रहकर भी हिलता रहता है—हिलनेकी क्रिया करता है। वैसे ही चेतन पुरुषके सम्बन्धसे प्रकृति क्रियाशील बनती है। फिर तो अनन्त प्रकारके अनन्त धर्मवाले और अनन्त गुणवाले अनन्त पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं। विविध रूपरंगवाली वस्तुएँ अपने आप पैदा होने लगती हैं। ईश्वरवादमें भी, ईश्वर यन्त्र लेकर जगत्की विविधता का आविष्कार करता हुआ माना नहीं जाता। अपनी शक्तिका ही उपयोग करता है। चनेकी नाक टेढ़ी करनेमें और गेहूँका पेट फाडनेमें ईश्वरको हथियारका उपयोग नहीं करना पड़ा है। शक्तिका ही उपयोग हुआ है। यद्यपि लोग ऐसा कहते हैं कि चना और गेहूँ अपनी अपनी श्रेष्ठताका वर्णन करते हुए लड़ पडे। दोनों ब्रह्माजीके पास गये और बोले कि महाराज! हम दोनोंको उत्पन्न करनेवाले आप ही हैं, इसलिये निर्णय करें कि हम दोनोंमें से श्रेष्ठ कौन? अधिक उपयोगी और स्वादिष्ट कौन? चना या गेहूँ? ब्रह्मा विचारकर बोले, चना तू मेरे सामने से हट जा। क्योंकि तुझमें जो अपूर्व स्वाद रहता है उसका स्मरण करके मेरे मुँहमें भी पानी आता है। तेरा

उपयोग भी अनोखा है। ऐसा कहनेसे चनेका विजय हुआ और गेहूँका पराजय। खुशीके मारे चनेकी नाक टेढ़ी हो गयी और दुःखके और लज्जाके कारण गेहूँका पेट फट गया। जो हो, प्रकृति सभी विविधताको जन्म दे देती है। ६॥ बजनेको आया है। समय पूरा होता है। इसलिये आज सक्षेपमें भी स्पष्ट करके बताना चाहिये कि साख्यमे कार्य-कारणमें भेद नहीं है—अभेद है। जो कारण है वही कार्य है, जो कार्य है वही कारण है। साख्यवादी इस भेदको जिस रीतिसे प्रतिपादन करते हैं वह कल कहूँगा (नहीं, आज ही समझाइए की आवाजें) अच्छा, तब आगे बढ़े, (१) जो जिससे भिन्न होता है वह उसका धर्म नहीं होता। जैसे—गाय और घोड़ा दोनों एक दूसरेसे भिन्न हैं, इससे गाय घोड़ेका या घोड़ा गायका धर्म नहीं होता; किन्तु पट यह सूत्रका धर्म है, अर्थात् सूत्रका ही एक अवस्था विशेष पट है। इससे सूत्र और पटमें अभेद है—भेद नहीं। सूत्र कारण है, पट कार्य है। दोनोंमे अभेद है। (२) जहाँ उपादान और उपादेयभाव होता है वहाँ दोनोंमें भेद नहीं होता। उपादान अर्थात् उपादानकारण, उपादेय अर्थात् उपादानकारणमें से उत्पन्न होने वाली वस्तु। तन्तु और पटमें भेद नहीं है क्योंकि इन दोनोंमें उपादान-उपादेय भाव रहता है। पर घट और पट ये अभिन्न नहीं हैं—भिन्न हैं। इससे घट, पटका उपादानकारण अथवा उपादेय कार्य नहीं बनता। जहाँ भेद होता है वहाँ सयोग और वियोग हुआ करता है या रहा करता है। जेमे कि कुण्ड और बदर ये दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु हैं, इसलिये इन दोनोंका कभी संयोग होता है—कभी वियोग। हिमालय और विन्ध्याचलका सदा वियोग ही रहता है क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। पट और तन्तु भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इससे उनमें न संयोग रहता है और न वियोग। वियोग अर्थात् अप्राप्ति। (४) जो जिससे भिन्न होता है वह उससे गुरुत्वान्तर कार्यका ग्रहण करता है। लघुत्व-गुरुत्व—हलकापन और भारीपन ये दो धर्म हरएक पदार्थमें सापेक्ष रहा ही करते हैं। दूसरे द्रव्योंमें जो गुरुत्व होता है वह गुरुत्वान्तर कहलाता है। "क" मे भी एक गुरुत्व है और "ख" में

भी एक गुरुत्व है। पर यदि किसी एकका गुरुत्व बतलाना हो तो वह गुरुत्वान्तर कहायेगा। उस गुरुत्वान्तरका जो कार्य होगा वह गुरुत्वान्तर कार्य कहलाता है। भिन्न पदार्थ गुरुत्वान्तर कार्यका ग्रहण करता है। जैसे कि आप एक वस्तु लें। तराजूमें उसे तौलनेके लिये रखें। एक तरफ कोई माप (सेर) रखें। यदि उस वस्तुमें भी सेर भर ही वजन होगा तो दोनों पलड़े समान ही रहेंगे। कोई भी नीचे या ऊँचे नहीं जायगा। पर जब उस वस्तुमें सेरसे अधिक वजन होगा तो वह जिस तुलामें रखी होगी वह नीचे जायगी। अर्थात् उस वस्तु में रहा हुआ जो गुरुत्व, उसका कार्य बनता है। अवनति—नीचे झुकना। इस अवनतिरूप कार्यसे तुलादण्ड—तराजूकी डंडी नीचे झुक जाती है। इसीका नाम है गुरुत्वातर कार्यका ग्रहण। तुलादण्ड वस्तुनिष्ठ गुरुत्वके कारण अवनतिरूप कार्यका ग्रहण करता है। तन्तु और पटमें ऐसा नहीं होता। उसी तुलामें एक ओर पट रखें और दूसरी ओर पहलेसे ही वजन किया हुआ सूतका माप रखें, अर्थात् यदि पहले सूत्र मापा गया होगा तो उसका वजन यदि एक सेर होगा तो पटका भी वजन एक ही सेर होगा, न्यूनाधिक नहीं। अतः समान गुरुत्ववाला होनेसे पट तन्तुसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। इनमें से कोई भी गुरुत्वान्तर कार्यका ग्रहण नहीं करता। इस कारणसे साख्य कार्य-कारणमें अभेद मानता है। घटमें मिट्टीको पृथक् नहीं किया जा सकता। मिट्टीसे घटको भी पृथक् नहीं किया जा सकता। यदि पृथक् करनेका प्रयास करेंगे तब वह घट ही नहीं रहेगा। ऐसे ही सूत्रसे पट और पटसे सूत्रको पृथक् नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों अभिन्न हैं।

एक शंकाका मुझे उत्तर भी देने दें। मैं पहले कह आया हूँ कि "जैसे रथ और घोड़ेके सम्बन्धसे रथमें क्रिया उत्पन्न होती है वैसे ही चेतन और प्रधान (प्रकृति) के संबंधसे प्रकृतिमें क्रिया उत्पन्न होती है।" इसके ऊपर कोई प्रश्न कर सकता है कि रथमें क्रिया उत्पन्न करनेके लिये घोड़ामें क्रिया आवश्यक होती है। घोड़ा चलता है इसलिये रथ चलता है। पर चेतनके लिये ऐसा नहीं कहा जाता। वह तो निष्क्रिय

है। वह चलता नहीं। उसमे कोई भी नहीं होती। गमनक्रिया भी नहीं होती। तो प्रधानमें (प्रकृतिमे) क्रिया किस प्रकार आयी ? इसका उत्तर प्रत्येक वस्तुमें अलग-अलग धर्म होता है। अश्वमें क्रिया करने का धर्म रहा हुआ है इससे वह क्रिया करता है। और उसकी क्रियाके विना रथ में क्रिया हो नहीं सकती। यह रथका धर्म है। चुम्बकमें कोई क्रिया होती नहीं फिर भी उसके संबधसे लोहेमें क्रिया होती है। इन दोनोंमें ऐसे ही धर्म रहते हैं। घोडा रथमें क्रिया देकर अलग हो जाय तो रथ नहीं चलेगा। रथको चलनेके लिये घोडेकी क्रियाका सातत्य (नैरन्तर्य) अपेक्षित है। पर घडीके लिए ऐसा नहीं है। घडीमें एक बार चाभी दे दें अतएव वह चौबीस घंटे अथवा एक सप्ताह चलती ही रहेगी। क्योंकि उसमे ऐसा ही धर्म रहता है। प्रधानमें—प्रकृतिमें इस प्रकार का धर्म रहा हुआ है कि चेतनके सम्बन्धसे स्वय क्रिया हुआ करे। चेतनकी क्रियाकी उसे आवश्यकता नहीं पडती। यह तो वस्तुके स्वभावपर आधार रहता है।

अब सांख्यकी प्रकृतिका स्वरूप थोडेमे वर्णन करके इसे समाप्त करता हूँ। "सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः" सत्व, रजस्, तमस् ये तीनों गुण जब तक समान अवस्थामें रहते हैं तब तक वह प्रकृति कहलाती है। प्रकृति अर्थात् मूलकारण। जब इसकी साम्य अवस्था समाप्त होती है और विषम अवस्था प्राप्त होती है तब तो जगत्‌निर्माणका कार्य आरम्भ हो जाता है "प्रकृतेर्महान् महतोहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि...'प्रकृतिविषम' अवस्थामें जब पहुँचती है तब सर्व-प्रथम महतत्त्व उत्पन्न होता है। महतत्त्वमे से अहंकार उत्पन्न होता है और इसी क्रमसे आगे बढता है और स्थूल पदार्थ उत्पन्न होने लगते हैं।

१–७–५० को मोम्बासा में दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(१७)

भागवतका जो श्लोक मंगलवारको आरम्भ हुआ था उसे मैं आज रविवारको पूरा करनेको हूँ, क्योंकि कल मेरे मौन और उपवासका दिन है। भागवतके श्लोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें ही इतने दिनतक जगत्की उत्पत्तिका वर्णन हुआ है। शास्त्रोंको यदि स्पष्ट रीतिसे न समझा जाय, उनकी गहराईमें नहीं उतरा जाय तो वे क्या कहते हैं यह समझमें ही न आवे। शास्त्र अगाध हैं। उसके रचयिता रहे नहीं। इससे उनके शब्दोंके अर्थ आज उन लोगोंके पाससे जाने जा सकें यह असम्भव है। जिसे जो सूझता है वह उस अर्थको मान लेता है। विद्या और विद्वत्ताका अन्त नहीं है। जिस विद्वान्को जिस शब्दका जो अर्थ अच्छा लगता है वह, उस अर्थको अपनी मानसिक योग्यताके अनुसार मानता है। भागवतका गुजराती भाषान्तर हुआ है। उस भाषान्तरको सुननेसे भागवतका पूर्ण भाव समझा नहीं जाता। भागवत कठिन ग्रन्थ है। "विद्यावतां भागवते परीक्षा" भागवतमें विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परीक्षा हो जाती है। क्योंकि उसमें सांख्य, योग, मीमांसा, ब्रह्ममीमांसा, न्याय ये सब हैं। इन सब दर्शनोंको जो न जानता हो वह इस महान् ग्रन्थका अर्थ नहीं ही समझ सकेगा। समझानेकी तो बात ही अलग रही। उसमें दशमस्कन्ध तो भागवतका हृदय है। श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं कि दशमस्कन्धकी भाषा सामान्य भाषा नहीं है, वह समाधिभाषा है। समाधिस्थ होकर ही वह भाग लिखा गया है। जो वस्तु जैसी हो, जिस रीतिसे रची गयी हो, उसे उसी रीतिसे सुननेसे उसका भाव हृदयङ्गम हो सकता है, दूसरे प्रकारसे नहीं।

कल आप समझ सके होंगे कि सांख्यदर्शन ईश्वरको नहीं मानता। उसने तो ईश्वर को छोड़कर पुरुष और प्रधान-जीव और प्रकृति इन दो ही तत्त्वोंको माना है। जीवके लिये दर्शनशास्त्रियोंमें बड़ा मतभेद है।

कोई कहता है कि जीव विभु-परिमाणवाला है। कोई कहता है कि अणु परिमाणवाला है और कोई कहता है कि वह मध्यम परिमाणवाला है। विभु-परिमाण अर्थात् बडेसे बडा परिमाण। परिमाण अर्थात् माप। जिसका परिमाण सब पदार्थोंसे बड़ा हो वह विभु कहलाता है। पंचभूतोंसे बने संसारमें आकाश सबसे अधिक बड़ा भौतिक पदार्थ है। इससे उसका विभु-परिमाण है। गौतम जीवको विभु-परिमाणवाला मानते हैं, और अनेक मानते हैं। जिस प्रकार ईश्वर विभु और व्यापक है, उसी प्रकारसे जीव भी समस्त जगत्‌मे व्यापक है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, आदि सभी प्राणियोंका जीव अलग-अलग है और विभु है। यह गौतमका अर्थात् न्यायदर्शनका मत है। जो जीव "क" मे है, वही "ख" मे है, वही 'ग" में और "घ" मे भी है। इस प्रकार "ख" का जीव 'क', 'ग', 'घ' मे भी है। इसी प्रकार 'ग' और 'घ' के लिए भी समझना चाहिए। सबका जीव सबमें है। 'क' का जीव 'ख' 'ग' में है और 'ख' 'ग' का जीव 'क' में है। यहाँ इस न्यायमत पर एक शङ्का की जाती है कि यदि सबका जीव सबमे हो तो सबके सुख-दुःखका भान सबको होना चाहिए। एकके हृदयके भाव सबके हृदयमें उत्पन्न होने चाहिए। एकको जो ज्ञान हुआ वह सबको होना चाहिए। ऐसा नहीं होता। इसका क्या कारण? नैयायिक इसका यह उत्तर देते हैं— जीवकी विभुता प्रत्येकके सुख-दुःखके अनुभवमें कारण नहीं बनती। अकेला जीव कोई भी ज्ञान प्राप्त नहीं करता। ज्ञानका साधन तो मन है। मन न होता तो जीवको ज्ञान होता ही नहीं। इसीसे तो न्याय-मतमें जीव ज्ञानाश्रय है, ज्ञानस्वरूप नहीं। वह मन सब जीवोंके लिए एक ही नहीं है। मन अनेक है। मन भी शरीरका ही एक अवयव है। प्रत्येक शरीरमे जिस प्रकार आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं, उसी प्रकार मन भी हरएक शरीरमें अलग है। जिस मनके साथ जो जीव जुडा हुआ है उसी मनके भावोंको वह अनुभव करता है, अन्यके नहीं। मनके अभावमे जीवको अमुक ज्ञानका अभाव ही रहता

है। इसीलिए जब सुषुप्ति अवस्था में, गाढ निद्राकी दशामें जीवको कुछ ज्ञान नहीं होता, उस समय मन सब व्यापारोंसे अलग रहता है। ज्ञानके लिये जीवके साथ मनका सम्बन्ध होना आवश्यक है। विभु जीवका भी सम्बन्ध एक ही मनके साथ होता है; सबके साथ नहीं। इससे वह एक ही शरीरके सुख-दुःख आदि को जान सकता है। जैसे विद्युत्-प्रवाह सर्वत्र व्यापक है पर जहाँ बल्ब होगा और कोई बाधक नहीं होगा वहाँ ही प्रकाश होगा। छोटा बल्ब होगा तो अल्प प्रकाश होगा और बड़ा बल्ब होगा तो अधिक प्रकाश। ऐसे ही जहाँ मन होगा वहाँ ही ज्ञान हो सकता है। एक शरीरस्थ जीवको ही मन मिला है। वह अणु-परिमाणवाला है। जीवके समान विभु-परिमाण नहीं है। इससे सब जीवोंको सबका ज्ञान नहीं होता। और भी, सुख दुःखके अनुभवके लिये अदृष्ट भी चाहिये। जिसे जिस सुख-दुःखका अदृष्ट होगा उसीको उस सुख-दुःखका अनुभव होगा। सभीका अदृष्ट समान नहीं हो सकता। इस कारणसे भी सभी, सभीके सुख-दुःखका अनुभव नहीं करते। वेदान्ती भी जीवविभुवाद मानते हैं। उनका भी सर्वज्ञानकी आशङ्का का यही समाधान है। यहाँ एक दूसरी सूचना कर दूँ। योगी लोग अपनी मानसिक शक्तिको सतेज बनाते हैं-बढ़ाते हैं तब वे दूसरेके हृदयकी बातोंको भी जान लेते हैं। जान लेते हैं इतना ही, पर वे उस हृदयके सुखदुःख आदि भावोंके भोक्ता नहीं बनते। जीवके सम्बन्धमें अभी मैंने जो कहा है उसमेंसे यौगिक शक्तिको अलग करना है। उस शक्तिसे तो चाहे जितनी व्यवहित वस्तुका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। अपने पूर्वज उसी शक्तिके द्वारा गगनविहार करते थे और खगोलको पूर्णरीतिसे जान सकते थे। अस्तु, अपने प्रकरणमें आवें। सांख्य जीवका अणुपरिमाण और बहुत्व मानता है। इस सिद्धान्त पर पूर्वकी शङ्काके होनेका कोई कारण नहीं। जीव अणु है। दूसरे शरीरोंके साथ उसका संबंध ही नहीं है। जिनके साथ संबंध है उन शरीरके सभी विषयोंसे वह जीव, मनकी सहायतासे परिचित रहता ही है। पर इस अणुवादके ऊपर जैनदर्शनको फुंफलाहट है। वह कहता है कि यदि जीव

अणु ही हो तो वह अवश्य ही एक देशीय होगा। एक देशीय जीव शरीरके एक प्रदेशमें ही रहेगा। चाहे सिरमें, चाहे हाथमें, चाहे पाँवमे, चाहे आँख, कान, नाकमें। वह जिस प्रदेशमें रहेगा उसीका ज्ञान उसको हो सकेगा। दूसरे प्रदेशका ज्ञान वह प्राप्त नहीं कर सकेगा। और तब "शिरसि मे वेदना, पादे मे वेदना" मेरे मस्तकमें पीडा है, मेरे पगमें पीडा है, वह किस प्रकार उसे कह सकेगा? और जान सकेगा? परन्तु जानता तो कहता भी है। जिस प्रदेशमें होगा उसकी पीडाको ही जान सकेगा, दूसरे प्रदेशकी नहीं। इसलिये जीव विभु भी नहीं, अणु भी नहीं, वह मध्यम परिमाण वाला है। मध्यम परिमाण अर्थात् शरीरसमान परिमाण। हाथीके शरीरका जीव हाथीके बराबर और मच्छरके शरीरका जीव मच्छरके बराबर, चींटीके शरीरका जीव चींटीके बराबर और ऊँटके शरीरका जीव ऊँटके बराबर। मनुष्यके शरीरमें वह हरएक मनुष्यकी ऊँचाई, मोटाई, चौड़ाईके समान है। जीवको अणु मानने वालोंमें विशिष्टाद्वैतवादी भी हैं। विशिष्टाद्वैती जैन दर्शनकी इस शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं:—जीव अणु है, इसमे संशय नहीं, पर उसको जो "मेरे मस्तकमें पीडा होती है या मेरे पगमे पीड़ा होती है" यह जो ज्ञान होता है उसका कारण अलग है। विशिष्टाद्वैत जीवका एक स्वरूप भूत ज्ञान मानता है, जीव अणु है पर उसका ज्ञानविभु है, वह सारे शरीरमें रहता है, वह ज्ञानसे है, जीव एक देशमें रहकर भी उस ज्ञानको पाता है। जिस प्रकार दीपक एक प्रदेशमें रहकर भी अपने प्रकाशसे सारे घरको प्रकाशित करता है इसी प्रकारसे जीव एक देशमे रहकर भी स्वरूप भूत ज्ञान द्वारा समस्त सुख-दु:खको जानता है। मध्यम परिमाणवाले जीवको स्वरूपतः संकोच-विकासशाली माननेमें अनेक दार्शनिक भूलते हैं। एक ही जीव जब छोटे शरीरमें रहता है तो छोटा होता है और मोटे शरीरमें वह मोटा होता है, वही जीव जब हाथीके शरीरमें होता है तब हाथीके समान होता है और चूहेके शरीरमें चूहेके समान होता है। इसका नाम सकोच-विकास। जीवमें यदि संकोच और विकास मानें तो वह

अनित्य हो जायगा। क्योंकि संकोच विकास चेतनका धर्म नहीं है, यह जड़ धर्म है, जीव जड़वत् अथवा जड़ ही हो जायगा। यद्यपि विशिष्टा-द्वैतवादियोंका जीवका ज्ञान भी संकोच विकासशील ही होता है, फिर भी वह ज्ञान विकारी या अनित्य नहीं माना जाता। क्योंकि उसका ज्ञान तो उतनाका उतना ही रहता है, पर अवकाशका अनुसरण करके उसका विस्तार होता है। अथवा उसका ज्ञान भले संकोच विकासशाली होनेसे विकारी रहे, उसके कारण जीव विकारी और संकोच विकासशील नहीं बनता, इसलिये स्मरण रहे कि जीवका जो ज्ञान संकोच विकासशील माना जाता है वह स्वरूप भूतज्ञान नहीं, पर धर्म भूतज्ञान, विशिष्टाद्वैत-ज्ञानको दोनोंसे मानता है द्रव्य रूपसे भी और गुण रूपसे भी।

यहाँ इतना दूसरा भी जानना चाहिये कि वैष्णवोंके चार वैदिक सम्प्रदाय हैं। श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, और सनक सम्प्रदाय। श्रीसम्प्रदायके दो महान् आचार्य हो गये हैं, दक्षिण भारतमें श्रीरामानुजाचार्य, और उत्तर भारतमें श्रीरामानन्दाचार्य। ब्रह्मसम्प्रदायके आचार्य मध्वाचार्य, रुद्रसम्प्रदायके आचार्य श्रीविष्णु स्वामी, सनकसम्प्रदायके आचार्य निम्बार्काचार्य; विष्णु स्वामीके ही सम्प्रदायको थोड़े हेर-फेरके साथ श्रीवल्लभाचार्यने माना है। यह बात अणुभाष्यके अंतमें लिखे लेखसे मालूम होती है। मध्वसम्प्रदाय दक्षिणमें आज भी जीवित है, उसीका एक रूपान्तर श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुका सम्प्रदाय बंगालमें और थोड़ा-बहुत अन्य प्रान्तोंमें विद्यमान है। उसे गौडिया सम्प्रदाय भी कहते हैं, निम्बार्क सम्प्रदाय जहाँ-तहाँ भारतमें अमुक अंशमें फैला हुआ है। श्रीवल्लभा-चार्यके सम्प्रदायका गुजरातमें आधिपत्य है, अन्यत्र भी है। श्रीमहा-प्रभुकी बैठक तो शायद ही किसी प्रान्तमें न हो, सबसे अधिक विस्तार श्रीसम्प्रदायका है। सभी सम्प्रदाय अधिकांशमें जीवके अणुत्वको ही मानते हैं। क्योंकि ये भागवत सम्प्रदाय हैं—भक्ति सम्प्रदाय हैं। भक्ति सम्प्रदायमें जीवका अणुत्व अधिक अनुकूल है। भगवान् व्यापक हैं। जीवको भी 'विभु' माननेसे उपासनामें विघ्न पड़ता है। भगवान्की शक्तियोंसे अल्पशक्तिधारी

जीव ही भगवान्की भक्तिके लिये अधिक योग्य हो सकता है। मध्वाचार्य जीवको अज्ञान, मोह, भयादि दोषोंवाला है ऐसा मानते हुए, उसके तीन भेद मानते हैं—मुक्तियोग, नित्य संसारी और तमोयोग्य। देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती, उत्तम मनुष्य ये पाँच मुक्ति योग्य जीव माने जाते हैं। कर्मानुसार ऊँच-नीच गति प्राप्त करके स्वर्ग या नरकमे अथवा पृथ्वीपर गमनागमन करता हुआ मध्यम मनुष्य नित्य ससारी जीव कहलाता है। दैत्य, राक्षस, पिशाच और अधम मनुष्य ये तमोयोग्य जीव कहलाते हैं। निम्बार्क श्रीसम्प्रदायानुकूल ही जीवस्वरूप मानते हैं। वल्लभ सम्प्रदायका जीव थोड़ा विलक्षण रूप धारण करता है। इस मतके अनुसार जब भगवान् लीला करनेकी इच्छा करते हैं तब वे स्वय ही अपने कितने ही गुणोंको छिपाकर जीवरूपसे प्रकट होते हैं। भगवान् अपना ऐश्वर्य छिपाकर जीवमे दीनता प्रकट करते हैं। यशको छिपा देनेसे जीवमे दीनता प्रकट करते हैं। श्रीको छिपानेसे जीवको सब दुःखोंका आश्रय बनाते हैं। ज्ञानको छिपानेसे देहादिमें आत्मबुद्धि जीव रखता है और आनन्दके लोपसे भी जीव दु.खोंका आश्रय बनता है। श्रीके तिरोधानसे उत्पन्न हुआ जीव और आनन्दके लोपसे उत्पन्न हुए जीवमें अन्तर यह है कि श्रीके लोपसे धनाभाव प्रयुक्त दुःख आता है और आनन्दके लोपसे मानसिक दु.खानुभूति प्राप्त होती है। वैष्णव सम्प्रदायोंका यही जीव है। ये सब अणु हैं। इस प्रकारसे जीवाणुत्वमे कोई भेद आचार्य नहीं मानते हैं। जीव और ईश्वरके सम्बन्धमे भेद मालूम होता है। उसका वर्णन आज नहीं करूँगा। उसका प्रसंग आनेपर करूँगा। अब आप समझ गये होंगे कि वैदिक सम्प्रदायोंमे दो मत हैं— विभुवाद और अणुवाद। विभुवादमे भी दो मत हैं—एक-जीव-विभुवाद और अनेक-जीव विभुवाद। नैयायिक तो अनेक जीव विभुवाद मानते हैं और अद्वैत वेदान्तवादी अधिकांशमें एक-जीव-विभुवाद मानते हैं। समय पूरा होनेको आया। भागवतका श्लोक तो आज भी पूरा नहीं हुआ। तो अब मङ्गलवारको।

२–८–'५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(१८)

जो विषय कठिन मालूम होते होंगे, अरुचिकर भी कदाचित् किसीको लगते होंगे उनकी समाप्ति हो गयी है। भागवतके जिस श्लोककी व्याख्याके लिये इतने दिन गये हैं उस श्लोकको मैं फिरसे कहता हूँ—

मन्ये कुतश्चिद् भयमच्युतस्य,
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ॥
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्,
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥

कवि योगीश्वर ने निमिराजासे कहा कि भगवानके चरणकमलकी उपासना ही प्रत्येक भयसे मुक्त करती है। क्योंकि वह स्वयं भयमुक्त है। ससारके महान् भय जन्म और मरणमेसे बच जानेके लिये भगवत्-चरणके आश्रयके सिवा दूसरा उपाय हो नहीं सकता। भगवदुपासना ही जीवको हर एक भयमेंसे बचा सकती है। उपासना अर्थात् तन्मयता। तन्मयता अर्थात् अभेदबुद्धि। अभेदबुद्धिका तात्पर्य यहाँ जीव-ब्रह्मका अभेद नहीं है, परन्तु उपास्य, उपासक, उपासनाकी त्रिपुटीका विस्मरण होना और केवल उपास्यदेवका ही भान रहना। अपनेको उसीमे विलीन कर देना ही अभेदबुद्धि है। जहाँ तक उपासक उपास्यके साथ अपना भी स्मरण करता है वहाँ तक भक्तिकी पूर्णता नहीं कही जाती। जहाँ अपना भी विस्मरण हो, इतनी तन्मयता हो तभी वह भक्ति कहलाती है। व्यासजीकी वर्णनकी हुई नवधा भक्तिमें मैंने कहा है तदनुसार पूर्व की आठ क्रियाएं तो भक्तिमें नहीं ही परिगणित हो सकतीं। वे तो केवल साधन ही बनी रहती हैं। मुख्य भक्ति तो उस श्लोकमें आत्मनिवेदन ही है। आत्मनिवेदन ही तल्लीनता है। अपनेको प्रभुके चरणोंमें अर्पित कर देना, अपनेको भगवानमें विलीनकर देना, यही आत्मनिवेदन है। अनन्तकालसे मायाके कारण जीव अपनेको भगवान्के चरणोंमें अर्पित नहीं कर सकता। पर जब भक्तिके भावसे, उस ओर चलनेसे, उस ओर

वृत्ति जानेसे, हृदय बदलता है तब आत्म-निवेदन सुगम वस्तु बनती है। अभेदका अर्थ शंकराचार्यने जो किया है वह अभेद, भक्तिके लिये आरम्भमे उपयोगी नहीं है। शंकर ब्रह्मके तीन स्वरूप मानते हैं, ब्रह्म, ईश्वर और जीव। इन तीन स्वरूपोंको माननेका कारण उपनिषद्का तत्त्वज्ञान है। उपनिषद् एक बार कहती है कि "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" ब्रह्म कलाहीन है, क्रियाहीन है और शान्त है। दूसरी बार कहती है—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति" उसी ब्रह्मसे ही यह समस्तभूत-भौतिक जगत् उत्पन्न होता है। उसीसे इसको जीवन मिलता है। अन्तमे उसीमें ही यह समस्त जगत् प्रविष्ट हो जाता है। समाजाता है। उसे निष्क्रिय भी कहना और जगत् की उत्पत्ति भी उसीसे बतलाना, सामान्य दृष्टिसे अत्यन्त विरुद्ध मालूम पडता है। इससे ब्रह्म को तीन विभागोंमे विभक्त करनेमें आया। ब्रह्म अर्थात् सर्वोपाधि विनिर्मुक्त। जिसमें मायाका स्पर्श भी नहीं, वही सच्चिदानन्द ब्रह्म। ईश्वर अर्थात् मायोपाधिकब्रह्म—मायाकी उपाधिवाला ब्रह्म वह ईश्वर। उपाधि अर्थात् जो वस्तु जो स्वयं जेसी है वैसी ही रहे पर अपने पास रही हुई वस्तुके स्वरूपको बदल डाले। विशेषण भी विशेष्यके स्वरूपमें कुछ परिवर्तन करता है। नीरङ्ग (बिनारङ्गके) घटमें नीले या पीले रङ्गका सम्बन्ध होते ही वह नीरङ्ग घट सरङ्ग घट (रङ्गवाला) बन जाता है। इसीको स्वरूपमे परिवर्तन कहते हैं। पर उपाधि और विशेषणमे एक अन्तर है। विशेषण स्वरूपमें प्रवेश करता है। दण्डी पुरुष अर्थात् दण्डवाला पुरुष। दण्डी पुरुष कहते ही दण्डरूप विशेषण पुरुषके साथ जुड जाता है। अर्थात् विशेषण अपनेको भी बतलाता है और पुरुषको भी बतलाता है। कैसा पुरुष? तो, दण्डवाला, इससे "दण्ड-विशेषण, दण्डीशब्द दण्डविशिष्ट पुरुषको कहता है। परन्तु उपाधि स्वरूपमें प्रवेश नहीं करता। वह तो उपहितको = उपाधिवालेको जिसे उपाधि

लगती है—उसे बताकर स्वयं अलग ही रहता है। जैसे वेदान्त अन्तःकरणको साक्षीका उपाधि मानता है। अन्तःकारण जितने देशमें स्वय रहता है उतने ही देशमें स्थित चेतनको साक्षी संज्ञा देता है। किन्तु इस साक्षीके स्वरूपमें अन्तःकरणका प्रवेश नहीं होता। स्वच्छ श्वेत स्फटिक मणिसे दूर रहकर, जपापुष्प, अपने रङ्गसे स्फटिकको सरङ्ग बनाता है, किन्तु उसका प्रवेश स्फटिकमणिमें नहीं होता। इससे जपाकुसुम उपाधि कहलाता है। अब समझमें आया होगा कि माया की उपाधिवाला ब्रह्म ही ईश्वर है। ऐसा कहनेसे माया ब्रह्ममें प्रवेश नहीं करती। पर जैसे जपाकुसुम (गुलाब) स्फटिकमें अपने रङ्ग को दिखाता है वैसे माया भी अपना प्रभाव चेतनके ऊपर अमुक अशमें दिखाती है। और इसीसे उस औपाधिक ईश्वरमें कर्तृत्वका उदय होता है। और वही औपाधिक ईश्वर जगत्का कर्त्ता बनता है। उसीको उद्देश्य करके श्रुति ने कहा है कि **"यतोवा इमानि भूतानि"** इत्यादि। अद्वैतवेदान्त मतमें ईश्वरके समान जीव भी औपाधिक है। उसकी उपाधि अविद्या है। अविद्या और मायामें अन्तर है। मलिन सत्त्वप्रधान अविद्या कहलाती है। शुद्ध सत्त्वप्रधान माया कहलाती है। सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीन गुणोंमें से सत्त्वगुण जब निर्बल बनता है और दूसरे दो गुण जब प्रधान मुख्य बन जाते हैं तब उस बलाबलकी अवस्थाको अविद्या कहते हैं। और जब सत्त्व गुण दूसरे दो गुणोंको दबाकर स्वयं प्रधान बनता है तब उस बलाबल की अवस्थाको माया कहते हैं। माया ईश्वरकी उपाधि कहलाती है। मायामें सत्त्वगुणकी प्रधानता होती है। सत्त्वगुण ज्ञानजनक होता है। इसीलिये ईश्वरमें सर्वज्ञत्व होता है। अविद्या जीवकी उपाधि है। इसलिये ज्ञानके अभावसे जीवमें अल्पज्ञत्व, अज्ञत्व आदि रहते हैं, यह औपाधिक ईश्वर, भक्तिके लिए कामका नहीं है, भक्तोंका ईश्वर तो निरुपाधिक निरञ्जन है।

जीवको बहुत समयसे मैं, तू बोलनेकी आदत पड़ी है। मैं अर्थात् जीव। तू का अर्थ भी जीव। ये दोनों सर्वनाम जीवके लिए ही प्रयुक्त होते

है। कितनी ही वार लोग कहते हैं कि मै बीमार हूँ, मैं स्वस्थ हूँ। आप समझ गये हैं कि मैं अर्थात् जीव। जीवका कोई रूप नहीं होता, वह चेतनावान् तत्त्व है। वह ब्रह्म ही है। उसमें कुछ बिगडा नहीं है। उपाधियोंने थोड़ा काम बिगाडा है। आत्माको न अस्वस्थता होती है और न स्वस्थता। फिर भी लोग कहते हैं कि मै बीमार हूँ, मैं नीरोग हूँ, मैं मोटा हूँ, मै पतला हूँ। यह व्यवहार तादात्म्य सम्बन्धके कारण होता है। तादात्म्य अर्थात् भेद होते हुए भी भेदकी प्रतीतिका न होना। शरीर और आत्मामें स्पष्ट भेद है। शरीर जड़ है। आत्मा अजड, चेतन है। जड़ और चेतनमें अभेद नहीं हो सकता। फिर भी अभेद प्रतीत होता है इसलिये शरीरकी रोगी, नीरोगी आदि दशाओंको आत्मा अपनी मान लेता है। यह जीवतत्त्व भी वेदान्तकी दृष्टीसे ब्रह्म ही है। सच्चिदानन्द परब्रह्म तो मायासे सर्वदा परे है। अनादि और अनन्त है। अखण्ड और सर्व व्यापक है। जगत्के कर्तृत्व, भर्तृत्व, संहर्तृत्व आदि धर्मों वाला मायोपाधिक जो ब्रह्म है वह ईश्वर कहलाता है, इस भेदका कारण है उपनिषदें। उसे मैंने पहले ही समझाया है। उपनिषदोंके वदतोव्याघातको दूर करनेके लिये ईश्वरकी सृष्टिकी गयी है। अथवा अनादिकालसे चला आता हुआ ईश्वर ऐसे वदतो-व्याघातको निर्मूल करनेके लिये ही आज भी अस्तित्ववाला है। वदतो-व्याघातका अर्थ है परस्पर-विरुद्ध कथन।

मायाकी उपाधिसे उत्पन्न हुएकी भाँति प्रतीत होता ईश्वर उत्पन्न हुआ नहीं है, यह अनादिकालसे ऐसा ही है। पर यह मायोपाधिक ईश्वर अनन्त नहीं है। ज्ञान होने पर उसका नाश होता है। जीवकी भी यही दशा है। वह भी अनादि और सान्त है। यह ईश्वर ब्रह्मका विवर्त है, परिणाम नहीं। एक दिन मैंने आपसे कहा था कि परिणाम तात्त्विक अन्यथा भावका नाम है। समसत्त्ववाला अन्यथा भाव परिणाम कहलाता है। दूधका दही बना, दहीकी छाछ बनी, छाछमें से मक्खन निकला और माखनमें से घृत आया, ये सब अन्यथा भाव कहे जाते हैं,

एक वस्तु दूसरे प्रकारसे हो जाय तो उसे अन्यथाभाव कहते हैं। दूध जिस धर्म-गुणके साथ था उस धर्म-गुणको छोडकर वह दही बनता है। उस दहीमें उस दूधकी चिकनाई और सफेदीको छोड़कर दूसरा कोई धर्म नहीं रहा। यह दोनों धर्म भी विकृत होकर दहीमें आये हैं। अतः दूधका कोई धर्म दहीमें नहीं है ऐसा कहेंगे तो भी असत्य नहीं होगा। यह अन्यथाभाव तात्त्विक है—वास्तविक है, मिथ्या नहीं है। यह दही अब किसी भी उपायसे दूध नहीं होगा। इसे ही अन्यथा भाव समसत्ताक कहते हैं। वेदान्तमें वस्तुके लिये तीन सत्ताएँ मानी गयी हैं:—पारमार्थिक सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता, और व्यावहारिक सत्ता। पारमार्थिक सत्तावाला केवल ब्रह्म है, दूसरा कुछ नहीं है। भ्रमसे प्रतीत होती हुई वस्तुओंकी, या स्वप्नमें प्रतीत होती हुई वस्तुओंकी प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। सत्ता अर्थात् अस्तित्व। रस्सीका साँप तो है ही पर वह सत्य नहीं है। भ्रमसे उत्पन्न हुआ है। अतः वह प्रातिभासिकका अर्थ-प्रतिभास मात्र जिसका हो, वास्तविकता न हो। तीसरी सत्ता व्यावहारिक होती है। यह भी मिथ्या ही है। पर जहाँ तक जीवको तत्त्वज्ञान न हो वहाँ तक ये जगत्के पदार्थ रहते हैं। इसीसे सब व्यवहार चलते हैं। इसलिये यह व्यावहारिक कही जाती है। दूध और दही दोनोंकी व्यवहारिक सत्ता है। व्यवहारके लिये दूध भी है और दही भी है। इसलिये दोनोंकी सत्ता समान सत्ता हुई—दोनोंकी व्यवहार सत्ता हुई। दूधका दही हो गया इसे अन्यथा भाव कहते हैं। वह अन्यथाभाव समान सत्तावाला है।

अतः वह परिणाम कहलाता है। रातमें एक रस्सीको टेढ़ी-मेढ़ी जमीनपर पड़ी हुई देखकर अन्धकारके कारण, वैसेही सर्पके संस्कारके कारण वह रस्सी सर्परूपमें भासित होती है। वह प्रातिभासिक है, वास्तविक नहीं। अतात्त्विक अन्यथाभाव प्रातिभासिक कहलाता है। डोरीका अन्यथाभाव तो हुआ है पर वह वास्तविक नहीं है। अन्धकार दूर होते ही वह डोरी सर्परूपमें नहीं मालूम होती। डोरीरूपमें ही मालूम होती है। इसे विषमसत्ताक अन्यथाभाव भी कहते हैं। क्योंकि

डोरी और सर्प इन दोनोंकी समसत्ता नहीं है—विषम सत्ता है। रज्जु (डोरी) की व्यावहारिक सत्ता है और सर्पकी प्रातिभासिक सत्ता है। रज्जु व्यवहारके लिये सत्य वस्तु है। सर्प व्यवहारके लिये सत्यवस्तु नहीं है। वैसे ही ईश्वर भी विवर्त है, परिणाम नहीं है। अमुक कारणसे अधिष्ठानभूत ब्रह्म ब्रह्मरूपसे प्रतीत नहीं होता, ईश्वररूपसे प्रतीत होता है। इससे ब्रह्म और ईश्वरकी विषम सत्ता है। ब्रह्म परमार्थ है, ईश्वर प्रतिभासमात्र है। जो लोग ईश्वरको व्यावहारिक सत्ता वाला मानते हों उनके मतमें भी ब्रह्म और ईश्वरमें विषम सत्ता ही है, समसत्ता तो नहीं ही है। यदि ईश्वर ब्रह्मका परिणाम हो तो ब्रह्मका अस्तित्व ही समाप्त हो जाय। जैसे दूध जब दहीरूपमें परिणत होता है तब दूधका अस्तित्व नहीं होता। वह समाप्त हुआ होता है। कभी उसका पुनरुज्जीवन नहीं होता, हो नहीं सकता। उसी तरह ब्रह्म भी अस्तित्वहीन बन जाय और परिणाम प्राप्त पदार्थ भी चिरस्थायी नहीं होता। यदि ईश्वर परिणामही हो तो वह भी थोड़े समयमें अपना अस्तित्व खो दे। तब तो सारा जगत् ब्रह्महीन एवं ईश्वरहीन बन जाय, और ऐसी दशा यदि जगत्‌की हो तो जगत् की क्या हानि होगी यह फिर कभी कहूँगा।

यहाँ मुझे एक दूसरी वस्तु भी बतानी चाहिये और आपको उसे सुनना चाहिये। श्री वैष्णव सम्प्रदाय अर्थात् विशिष्टाद्वैतमतमे यह जगत् भ्रम नहीं है। प्रतिभासमात्र नहीं है। जगत् ब्रह्मका विवर्त्त नहीं है। परन्तु जगत् ब्रह्मका परिणाम है। परिणाम दो प्रकारका होता है, सद्वारक और अद्वारक। द्वार मानकर जो परिणाम माना जाता है वह सद्वारक परिणाम कहलाता है। द्वारको बिना माने जो साक्षात् परिणाम होता है वह अद्वारक परिणाम कहलाता है। जगत् ब्रह्मका सद्वारक परिणाम है, अद्वारक नहीं। द्वार है अचित् प्रकृति। प्रकृति ईश्वरका शरीर है। परिणाम प्रकृतिमें होता है। अतः प्रकृति परिणामका द्वार है। इसीको द्वार बनाकर ब्रह्म परिणामको प्राप्त होता है। अर्थात् शरीरीमें परिणाम नहीं है, शरीरमें है। पर शरीरी और

शरीरमे अभेद होनेसे वह जगत् ब्रह्मका या ईश्वरका परिणाम माना जाता है। परिणाम पक्षमें जो दोष है वह ब्रह्ममें नहीं आता क्योंकि परिणाम ब्रह्मे हुआ ही नहीं, वह द्वारभूत प्रकृतिमें हुआ है। भागवतके ऊपर अद्वैतवाद और साख्यका बहुत बड़ा प्रभाव है। इसलिये मुझे कहने दें कि यह जगत् ब्रह्मका विवर्त है, परिणाम नहीं। इस जगत् में जीव भी अपनी थोडी सत्ता चलाते ही हैं। ऊँचनीच की, स्पृश्य-अस्पृश्यकी, ग्राह्य-अग्राह्यकी भावना ईश्वरने उत्पन्न नहीं की यह जीवका ही सर्जन है। जिसे जो ठीक लगा वह ग्राह्य बना। जिसे जो प्रतिकूल प्रतीत हुआ वह अग्राह्य बना। ऊँचनीचकी भी बात ऐसी ही है। यहाँ एक कथित ब्राह्मणको और एक कथित क्षत्रियको खड़ा करें, उन दोनोंको जो पहचानता न हो उससे कहें कि अलग अलग करके बताये कि कौन ब्राह्मण है और कौन क्षत्रिय है तो वह नही ही बता सकेगा। क्योंकि मनुष्यमे इस भेद की उसने कल्पना नहीं की, दूसरेने कल्पना की है। जिसकी जो कल्पना होगी उसको वही पहचान सकता है और उससे हानि-लाभ भी वही पा सकेगा। यदि यह कल्पना ईश्वरीय वस्तु होती तो जैसे ईश्वरकी प्रत्येक वस्तुमें भेद है, भेदकधर्म है, उस धर्मसे प्रत्येक वस्तु अलग अलग पहचानी जाती है और पहचानमे आती जा रही है, वैसे ही ब्राह्मण और क्षत्रिय को देखते ही पहचान जाना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, ब्राह्मण शरीर मे और चण्डाल शरीर मे कोई भेदक धर्म रहता ही नहीं है। आपने भारतसे यहाँ परदेशमे आकर थोडी मनुष्यता सीखी है, ऐसा मालूम होता है। आपकी दृष्टि मे से ऊँच-नीचका भाव हटता जा रहा है, यह जान कर वेदान्त को संतोष होता है। ऐसा करेंगे तभी आप परदेशमें टिक सकेंगे और जीवनमे सफलता प्राप्त कर सकेंगे। यद्यपि अभी आपके विवेकका मन्द आरम्भ है। इस मन्द आरम्भ से काम नहीं चलना है। अभी तो बहुत लगभग सम्पूर्ण मार्ग पार करने को पड़ा है। सभी भ्रमों का उन्मूलन होना ही चाहिये। भ्रम जीवनके विकासके लिये बड़ा विघ्न है। हमारे भ्रमने मनुष्यको

मनुष्य माननेके लिये अस्वीकार कर दिया है। भारतमें एक बड़ा समाज आपके लिये नीच और अस्पृश्य होकर पड़ा है। उसकी अभी भी कोई नहीं सुनता। किसी भी मनुष्यको योग्यताके द्वारा योग्य मानना चाहिये। यही शिक्षित जगत्‌का मार्ग है। किन्तु भारतीय संस्कृतिमें यह बड़ेसे बड़ा कलङ्क है कि अयोग्य भी योग्य माना जाता है। जगद्वन्द्य महात्मा गांधीजीने इस कलंकको धो डालनेके लिये अपना पवित्र जीवन खपाया था। वे युग-विधाता, युग महापुरुष थे। उनकी दृष्टिमें कोई उच्च नहीं था, कोई नीच नहीं था। साम्प्रदायिक विषमता भी वे इसी तत्वज्ञानसे हटा सके थे, कोई धर्म श्रेष्ठ नहीं है। कोई धर्म अपकृष्ट नहीं है। सभी धर्म अपनी अपनी जगह पर सत्य हैं। धर्म ईश्वरकी पैदाकी हुई वस्तु नहीं है। अपने ही पैदा किये हुए इस तत्त्वको आप ठीक तरहसे समझेंगे और हिन्दू या मुसलमान या यहांके मूल निवासी सभीको आप अपना भाई मानेंगे तभी आप सच्चे भारतीय बनेंगे, और भारतकी संस्कृतिको उज्ज्वल कर सकेंगे। श्लोकका अर्थ आज मैं नहीं कह सका, समय पूरा हुआ है। अब अगले दिन।

४–७–'५८ को मोम्बासा में दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(१९)

अभी भागवतका वह श्लोक पूरा नहीं हुआ है। योगेश्वर कवि राजा निमिको कहते हैं—

उद्विग्नबुद्धेः असदात्मभावाद्।
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः॥

कि जिसके चित्तमें शान्ति नहीं है, जिसका चित्त सर्वदा व्याकुल ही रहा करता है, बुद्धि भी भ्रान्त रहती है, क्षणभरके लिये भी वह शान्त नहीं रहती है, ऐसे मनुष्यको भी यदि भगवद्भक्तिकी प्राप्ति हो तो अवश्य ही उसकी उद्विग्नता, व्याकुलता, अस्थिरता, दूर हो और तब भय भी निवृत्त

हो। व्याकुलता रहती ही क्यों है? इसका विचार करें। इस श्लोकमें ही व्याकुलताके कारणका निर्देश हुआ है। वह यह है—'असद्रात्मभावान्" असत्में सद्बुद्धि धारण करके जीनेके लिये मनुष्य अभ्यस्त हो गया है। ऐसी विपरीत बुद्धि, ऐसा विपर्ययज्ञान क्यों उत्पन्न होता है इसका वेदान्तकी दृष्टिसे विचार करें। मैं वेदान्तकी दृष्टिसे ही विचार किया करता हूँ उसका कारण है। अन्य रीतिसे यथार्थ उत्तर मिलता नहीं है। भक्तिमार्गकी पद्धतिसे विचार करें तो इतना ही उत्तर है कि भगवान्की ऐसी ही इच्छा होगी अथवा तो प्रारब्धमें ऐसा ही होगा। मैं इन दोनों उत्तरोंमें तनिक भी विश्वास नहीं रखता हूँ। भगवान् ऐसा क्रूर नहीं हो सकता कि वह प्रत्येकके लिये अनिष्ट इच्छा ही किया करे। भगवान् तो सम्पूर्ण जगत् है। तो क्या वह सबके लिये समस्त विश्वके लिये अशान्तिकी ही इच्छा रखता होगा? यदि वह ऐसा ही करता हो तो ऐसे भगवान्की आवश्यकता ही क्या है? तब तो वह एक सामान्य मनुष्यकी भी अपेक्षा निकृष्ट माना जा सकता है। प्रारब्धका विचार तो केवल अधीर मनुष्योंका कार्य है "दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति" दैवका आश्रय लेनेवाला निर्बल मनवाला हुआ करता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

दैव दैव आलसी पुकारा।
कायरके मन एक अधारा॥

जिसको पूर्ण प्रयास करना नहीं है, जिसके प्रयासमें कहीं कुछ त्रुटि रह जाती है, उसका विचार करना नहीं है। समयका अनुसरण भी नहीं करना है वही दैवरूप लाठी पकड़कर चलनेकी इच्छा रखता है। प्रारब्ध और ईश्वरेच्छा लगभग एक ही वस्तु है। आपको गीताका ज्ञान प्रदान करने वाले अनेक मिलते हैं। घर-घरमें गीताका पुस्तक होगा ही। उसमेंसे कुछ भी ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आप कहाँ प्रयत्न करते हैं? गीताके दो श्लोक मैं आपके सम्मुख रखता हूँ। आप उन्हें सुनें और विचार

करे। पाँचवे अध्यायका एक चौदहवा श्लोक है और एक २५वा—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

भगवान् किसीको भी कहते नहीं हैं कि तुम यह कर्म करो। किसी भी क्रियाके द्वारा किसी वस्तुको कोई प्राप्त करे, वह वस्तु चाहे शुभ हो अथवा अशुभ, इस खटपटमे भगवान् नहीं पडते। इस श्लोकके प्रथम पादसे दो वस्तुओंको स्पष्ट किया गया है। भगवान् किसीके लिये किसी वस्तुका निर्माण करता नहीं है। एवं किसी वस्तुको प्राप्त करनेके लिए किसीको कर्ता भी नहीं बनाता। एक तीसरी वस्तुका भी भगवान् निषेध करते हैं। लोग मानते हैं कि जीव जो कुछ पाप अथवा पुण्य कर्म करते हैं भगवान् ही उस कर्ताको उन कर्मोंका फल देता है। इस धारणाका भगवान् कृष्ण निषेध करते हैं। वह कहते हैं कि कर्मके फलके संयोगको भी वह नहीं बनाते। अर्थात् किसीको भी भगवान् पाप फलके साथ या पुण्य फलके साथ वह नहीं जोड़ते। कर्मका स्वभाव ही है कि वह फल प्रदान करता ही रहता है। जलका स्वभाव ही है कि वह नीचे बहे। अग्निका स्वभाव है कि वह जलते समय ऊपर जाय। चुम्बकका स्वभाव है कि वह लोहेको क्रियाशील बनावे। उसी प्रकार कर्मका स्वभाव है, उसका कर्म है कि वह कर्ताको कुछ न कुछ फल दे। कर्म सम्बन्धमे प्रचलित भ्रमोंको दूर करके पुनः श्रीकृष्ण कहते हैं—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

भगवान् न तो किसीके पापको लेता है और न किसीके पुण्यको। जो लोग मानते हैं कि मेरे सत्कर्मका भगवान् अङ्गीकार करेगा वे अवश्य ही भ्रान्त हैं। गीतामें जो यह कहा गया है कि भक्तिसे समर्पित पत्र, पुष्प आदिका मैं ग्रहण करता हूं वह तो प्रलोभनमात्र है। लोग किसी भी प्रकारसे सत्कर्मका आचरण करें, इसके लिए ही यह श्लोक भी एक प्रमाण है।

यहाँ इस श्लोकमें भगवान् स्पष्ट ही कहते हैं कि लोगोंका ज्ञान अज्ञानसे ढँक गया है। ज्ञानहीन लोग अथवा मूर्ख लोग कुछ समझते ही नहीं हैं और चाहे जो कुछ मान लिया करते हैं। अथर्ववेदमें जो कहा गया है कि वह परमात्मा जिससे शुभ कर्म कराना चाहता है उससे उसे कराता है और जिससे अशुभ कर्म कराना चाहता है उससे उसे कराता है" वह तो केवल ईश्वरमें विश्वास रखकर सत्कर्म करानेके लिए लिखा गया है। उसका दूसरा कोई भी प्रयोजन नहीं है। अतः आप भगवान्से ऐसी आशा कभी न रखें कि वह किसीके पाप कर्मोंको धो डालता है। वह ऐसा करता ही नहीं है। वह क्या करता है, इसके साथ आपका क्या संबंध ? आप तो उसे साक्षी बनाकर उत्तमोत्तम कर्म करते रहें। इसके अतिरिक्त आपको उसके विषयमें कुछ जाननेकी आवश्यकता ही नहीं है। अतएव मैं वेदान्तका आश्रय ढूंढता हूँ और वेदान्तकी पद्धतिसे ही प्रत्येक वस्तुका विचार करना चाहता हूँ।

मनुष्य आया है पशुयोनिमें से ही। अतः उसके संस्कार भी अभी पशु जैसे ही हैं। क्रोध करना, लाटी मारना, पेटमें छुरी घुसा देना, नख मारना, दाँतसे काटना, ये सब पशुओंके ही धर्म हैं। मनुष्य जब पूर्ण मनुष्य बन जायगा तब ये सब पशुधर्म अवश्य ही अदृश्य हो जायेंगे। हमने बुद्धको देखा। क्राइस्टको देखा। महात्मा गांधी को भी देखा। ये सब पूर्णताको प्राप्त हुए मनुष्य थे। आप कब वैसे बनेंगे, कौन जाने। आप जब इस उच्चकोटिमें पहुँचेंगे तो आजकी अपनी परिस्थितिका स्मरण करके अवश्य ग्लानिका अनुभव करेंगे। पशुयोनिमेंसे ही आनेके कारण हमारे पूर्वज भी पशुओंके ही संस्कारका बीज हममें बोते हैं। उनका एक भी व्यवहार ऐसा नहीं होता, एक भी आचरण उनका ऐसा नहीं होता, कोई भी कार्य ऐसा नहीं होता जिसमें पशुताका अंश न हो। अपने पूर्वजोंको हम पशु कहना नहीं चाहते परन्तु वे लोग बालकोंमें जिन संस्कारोंका सिञ्चन करते हैं वे पशु जैसे ही होते हैं। अतएव जैसी और जितनी विवेक शक्ति चाहिये, हममें जागरित नहीं होती है।

उन लोगोंके उपदेशानुसार ही हम धर्मको या अधर्मको समझते और पहचानते हैं। तब कभी धर्मको अधर्म और अधर्मको भी धर्म हम मान लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो अज्ञान हमारे अन्तःकरणमें रहा हुआ होता है, वह अधिक गाढ बनता है। उसके प्रतापसे हम सत्को असत् और असत्को सत् मानते हैं। जिस शरीरको हम नित्य चितामें जलते हुए देखते हैं, भूमिमे गाडते हुए देखते हैं, उसको अपना सर्वस्व मानकर हम जीते हैं। हम ऐसा मानते हैं कि देह ही आत्मा है। देह ही हमको पूर्णानन्द-प्रदाता है। जगत्को ही हम सुखधाम मानते हैं। परलोककी हमें कभी चिन्ता होती ही नहीं। अतएव एक भी मानवोचित विशुद्ध कर्म मनुष्य कर नहीं सकता। इसीलिये अर्थात् असदात्मभावात् असत् जो जगदादि हैं उन्हींमे आत्मबुद्धि रखनेसे बुद्धि व्याकुल रहा करती है। जगत्के पदार्थ-जगत्के सम्बन्ध स्थिर रहते ही नहीं हैं। वे आते हैं और चले जाते हैं। हमारा प्रेम तो उन्हींके साथ निबद्ध होता है। उन्हींके प्रेममें हम जन्मकालसे ही डूबे रहते हैं। अतः उनके जानेसे दुःख, शोक, संताप, मनमें उत्पन्न होते रहते हैं। उसके परिणाममें बुद्धिमे उद्विग्नता रहती है। यदि जगत्से पराङ्मुख हो सके तो उसके लिये ही प्रयत्न करें। अच्युत अविनाशी परमात्माकी चरणसेवा करें। चरणसेवाका अर्थ पैर दबाना नहीं किन्तु उसकी आज्ञाका अनुसरण करना। उसकी इच्छाके अनुसार चलना यही उसकी सेवा है। यद्यपि उसकी कभी कोई इच्छा होती नहीं, उसमें किसी भी इच्छाका प्रादुर्भाव नहीं होता परन्तु हम जानते हैं कि सत्कर्म करनेसे हमें सत्फल मिलता है और मिलेगा, सत् संस्कार मिलेंगे। सत् चित्त और सती चित्तवृत्ति मिलेगी। ऐसा समझकर सत्कर्ममें प्रवृत्त होना और प्रवृत्त रहना ही उसकी इच्छाका अनुसरण है। आप जैसा मानते हैं कि भगवान् गोपियोंके साथ क्रीडा करता था, चीरहरणलीला करता था, महाभारतमें युधिष्ठिरसे असत्य बोलवाता था, यह सब कुछ है नहीं। भगवान् ऐसे कर्म कभी ही कर नहीं सकता। परन्तु आप चाहे जिसे भगवान् मान ले, चाहे जिसे परमेश्वर

मान लें, चाहे जिस कर्मको धर्म मान लें, इसका आज कोई उपाय नहीं है। जिनको आप भगवान् मानते हैं, किसीके कह देनेसे ही तो ? आप जानते हैं कि वह भगवान् एकाध कलाधारी होगा। जहाँ अनन्तकलाका निधि पड़ा हो वहाँ एक, दो, चार, दस, बारहकी तो बात ही क्या है ? भागवत कहता है कि श्रीकृष्ण एक कलाका अवतार। एक कलाधारीकी लीला देखकर, आप रासलीला करनेमें, करानेमें पुण्य मानते हैं, चीरहरणलीला करने और सुननेमें भी पुण्य मानते हैं। असत्य बोलनेमें और सुननेमे भी धर्म मानते हैं। इसका तो कोई उपाय नहीं। विवेक और विज्ञानकी आवश्यकता है। गीताकी तो आप घरमें रखकर पूजा करनेमे ही धर्म मानेंगे। गीताकी कितनी ही पाटशालाएँ इस देशमे भी चल रही हैं। आपके शहरमें भी गीतापाठशाला है ही। उसमें तोताभट्टीय ज्ञान के अतिरिक्त आपको कुछ मिलता नहीं है। कोई बालिका एक श्लोक गीताका बोल जाय तो उसे पारितोपिक देनेकी अतुलित पद्धति पड़ गयी है। मूर्खताका कभी कहीं अन्त नहीं होता है। इसका कोई विचार नहीं करता है कि एक बाला गीताका एक श्लोक बोल गई अथवा एक अध्याय बोल गयी उससे उसे क्या और कितना प्रकाश मिला। उसकी शक्तिका अपव्यय और दुर्व्यय होता है। ससुरालमें जानेपर तो यह सब उसे भूल ही जायँगे। उनको गीताके श्लोकोंका अर्थ समझाकर उसके अनुसार आचरण करनेकी प्रेरणा यदि मिली होती तो वे कन्याएँ गीतामें से ज्ञानरत्न प्राप्त करके अन्धकारके भयङ्कर पाशमेंसे अवश्य वह मुक्त हो सकतीं। परन्तु ऐसा होता नहीं है। आपको बहकानेवाले बहुत मिलते हैं। विभिन्न प्रकार के पत्थरों को देखने का मोह अभी आपमें रह गया है। आप अभी पत्थरोंको ही श्रृङ्गारित करने और प्रसन्न करनेके लिये प्रयत्नशील हैं। कोई कह दे कि यह पत्थर भगवान् है, तब आप अविलम्ब उसके सामने एकाध पैसा, पाई रख देंगे, चढ़ा देंगे। रत्न-सिंहासन बना देंगे। आपको यह कहनेवाला कोई मिलनेवाला ही नहीं कि किसी पापाणके सामने पैसा चढ़ानेसे या रत्नसिंहासन बना देनेसे

आपका कल्याग कभी भी होने को नहीं, आप उस पाषाणके सामने अपना शुद्ध हृदय यदि चढा दिये होते, शुद्ध-प्रेमका अर्पण आपने वहाँ किया होता, तो अवश्य आपका कल्याग होता। पत्थर और पानी की बात नहीं, बात तो ज्ञानकी है। प्रह्लाद पत्थरमेंसे ही भगवान् को प्राप्त कर सका था। उसने भगवान्‌को कभी भी मोतीका हार नहीं पहनाया था। कभी उसने भगवान्‌को रत्नसिंहासन पर नहीं बैठाया था। उसकी श्रद्धा अपार थी। उसकी भावना अखण्ड थी। उसका भगवान् उसकी आँखोंके आगे क्रीडा करता था। जहाँ और जिधर उसकी आँख जाय वहाँ और उधर उसका भगवान् ही दृष्टिगोचर होता था। अतएव वह उसी पत्थरके स्तम्भमेंसे ही अपने उद्धारक को प्रकट कर-करा सका था। आपको तो जादूगरके जादूसे ही प्रसन्न होना है। उतनेसे ही कृतार्थता प्राप्त करनी है। बुद्धिके साथ शत्रुता सिद्ध करनी है। अज्ञानकी परम्परा को ही बढाना और सुरक्षित रखना है। आपको भगवान् कहाँसे मिलें? आप ज्ञानवान् बनें, बुद्धिशाली बनें, विवेकी बनें और सच्चे भक्त बनें। आप अपने आचार-विचारको पवित्र बनावें। राग-द्वेप से अलग रहें। शत्रु और मित्रकी भावनासे परे हो जायँ। हिन्दु और मुसलमान, स्पृश्य और अस्पृश्यकी भेद बुद्धिको तिलाञ्जलि दें। भगवान् अवश्य आपका कल्याण करेगा।

आप मेरी बात सुनकर कदाचित् मुझे नास्तिक भी कहने और मानने लगें। क्योंकि आपके पास अपना कोई विचार नहीं है। लोग कह जायँ, समझा जायँ कि ऐसा करनेमें या ऐसा कहनेमें नास्तिकता है तब आपको वैसे ही प्रतीत होने लगेगा। मेरी दृष्टिमें तो वे लोग नास्तिक हैं जो लोगोंके अज्ञानमें वृद्धि करते हैं। लोगोंके पाससे अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये जो प्रजाको अन्धकारमें रखते हैं, वे नास्तिक हैं। आप व्यर्थकी बातमें पड़ें नहीं। व्यर्थकी बात सुनें नहीं। गीतामें श्रीकृष्णने वेदकी इधर-उधरकी बातोंको माननेवालोंकी निन्दाकी है। उन लोगोंको गालियाँ दी हैं जो वेदकी बातमें पडते हैं और तल्लीन रहते हैं। उन्हें अज्ञानी और

अमरि भी कृष्णने कहा है। वेदवाक्योंका तिरस्कार किया है। इससे क्या आप उन्हें नास्तिक कहनेका साहस कर सकेंगे? जो ऐसी वैसी बातों के कहनेसे कृष्ण नास्तिक नहीं समझे जाते हैं। मैं धर्ममार्गको, उचित-मार्गको समझानेके कारण क्यों नास्तिक माना जाऊँगा? आप आस्तिक नास्तिकके विचारमें पड़े ही नहीं। आपको जो मीठे-मीठे शब्दोंको सुनावे वह आस्तिक और एक आदमी आपकी निर्बलताओंकी ओर आपका ध्यान दिलावे वह नास्तिक। इसीका नाम विपरीत बुद्धि है। यह विपरीत बुद्धि जिनके पास होगी उनका नाश होगा। इस नाशमेंसे बच जानेके लिये ही आपको सतर्क रहना चाहिये। मैं तो आपके लिए खतरे की घण्टी ही बजा सकता हूँ। सावधान होना या न होना, आपके हाथकी बात है। जगत् में अनन्त वस्तुएँ पड़ी हैं। आश्चर्यान्वित कर दें, ऐसी अनेक वस्तुओं को जगत्में जन्म मिला है। एक पत्थर ऐसा भी हो सकता है कि जो पानीमें डुबानेसे भी न डूबे। समुद्रके तट पर ऐसे पत्थर जहाँ-तहाँ अनेक पड़े रहते हैं। एक आदमी कहींसे ऐसे एक पत्थरको उठा लावे। उस पर "राम" लिख दे। उस पत्थर को एक पानी के पीपेमें रख दे या छोड़ दे तो अवश्य ही डूबेगा नहीं, प्रत्युत तैरेगा। वह पत्थर नहीं है, केवल आकार उसका पत्थरका है। ऐसे पत्थरको पानीमें तराकर कोई आपसे कहे कि देखो रामके नामके प्रतापसे पत्थर तैर रहा है तब आपके पास कोई उत्तम उत्तर होना चाहिये। आप कह सकते हैं कि यदि रामनामके प्रतापसे वह पत्थर तैरता हो, दूसरा पत्थर भी क्यों नहीं तरे। एवं एक लोहा भी क्यों नहीं तैरे। एवं ऐसी बात करनेवालेके शरीरमें रामनाम लिखकर, उसके गलेमें २५ मनका एक पत्थर बांधकर उस पत्थर पर भी रामनाम लिखकर नाइल नदीमें छोड़ दें। वह तैरता है या नहीं, यह तमाशा भी आपको देखनेको मिलेगा। ऐसी व्यर्थकी बातों-में यदि आप पड़ेंगे तो आपका यह जीवन भी, यह जन्म भी व्यर्थमें चला जायगा। दुःखका बीज आप अपनेहाथों ही क्यों बोते हैं? कल्याण मार्ग की खोज करें। सत्यका मार्ग ढूँढें। चमत्कारोंसे आप चमत्कृत न हो जायँ। बहुतसे जादूगर भी बहुतसे चमत्कार दिखाते हैं। आप आचार

की पूजा करे, विचार की पूजा करे, सत्य की पूजा करें और दम्भको धिक्कार दें। पापण्ड और पापण्डीके पास आप नहीं जायँ, इसीमे कल्याण है, बस।

ता० ५–८–'५० ई. को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(२०)

आज बारहवाँ दिन है। भागवतका एक श्लोक भी मै पूरा नहीं कर सका। भय जगत्‌मेंसे ही आता है, यह एक सिद्धान्त है। वह जगत् किस प्रकारसे आया है कि जिससे वह भयसे परिपूर्ण है, इसे बतानेके लिये मै आपको जगत्‌की उत्पत्तिकी ओर ले गया था। वेदान्तके सम्बन्धमें तो पहलेके दो दिनोंमें ही आपसे बहुत कुछ मैंने कहा है। संक्षेपमें फिर आप उसे सुन लें। अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्, भ्रान्तिका, अविद्याका फल है। जगत् नहीं है पर भान होता है। मृगजलमें पानी नहीं होता तो भी तृपातुर मृग को प्रतीत होता है। रज्जुमें सर्प नहीं है, रज्जु सर्प नहीं है, तो भी अन्धेरेमें प्रतीत होता है। सीपमें रजत नहीं है, सीप रजत नहीं है, तो भी उसकी प्रतीति होती है। क्या किया जा सकता है? भ्रमकी कोई ओपधि नहीं है। भ्रमसे ही, जो नहीं है वह संसार प्रतीत होता है। ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं तो भी ब्रह्मके अतिरिक्त विशाल जगत् भासित होता है। जो मिथ्या हो, भ्रान्तिसे उत्पन्न हो, वह न होने पर भी भयमे डालता है। रस्सीका झूठा सर्प भी मनुष्यको घबड़ा देता है। स्वप्नके भयङ्कर पदार्थ चीख पड़ा देते हैं। आँखमेंसे आँसू गिरने लगें, ऐसा हो जाता है। इसके लिये क्या किया जाय? स्वभाव है। जगत्‌की निस्सारता समझमे आवे तभी मनुष्य परम-तत्त्वकी ओर जानेको लालायित हो। और तभी यह श्लोक समझमे आवे। इस श्लोकमें कहा गया है कि हरिके चरण कमलकी उपासना करनेसे ही सबकी सांसारिक भीति निवृत्त होती है। संसारके भयसे

मनुष्य अनन्तकालसे व्याकुल हो रहे हैं। भयके कारण काँप रहे हैं। उस भयसे बचनेका उपाय परमेश्वरकी उपासना है, ऐसा भागवत कहता है। उपासनाका क्या अर्थ है उसे आप समझ गये हैं। परमात्माकी आज्ञा और इच्छाका अनुसरण यही मुख्य उपासना है। सत्य और सदाचारका सर्वथा पालन, यही सच्ची उपासना।

उपनिषद् ज्ञानमार्गका प्रतिपादन करते हैं, यह ठीक, परन्तु वे भक्ति-मार्गको छोड़ नहीं देते "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इस श्रुतिमें कहा गया है कि ब्रह्मके आनन्दको जाननेवालेको कहींसे भय नहीं होता। यह मै जानता हूँ कि "आनन्दं ब्रह्म" इस श्रुतिके अनुसार "ब्रह्मणः" यह अभेदबोधक षष्ठी विभक्ति है। तो भी मै कहता हूँ कि वही भेदबोधक भी है। आप कहेंगे कि एक ही विभक्ति भेद बोधक और अभेद बोधक भी कैसे हो सकती है? मैं इस रीतिको तो कभी बताऊँगा। अभी तो इतना ही कह दूँ, तो पर्याप्त होगा कि श्री शकराचार्य–स्वीकृत अभेदवादके अतिरिक्त भी वेदान्तके वाद हैं। उनमें विशिष्टाद्वैत सबसे अधिक प्रबलवाद है। अद्वैतवादका वही मुख्य और समर्थ प्रतिभट है। उस वादके अनुसार इस श्रुतिमें भेदार्थक ही षष्ठी है, और इससे यह श्रुति भक्तिमार्गका ही उपदेश करती है। अथवा श्री शंकरके मतके अनुसार भी औपाधिक भेदका निदर्शन यह षष्ठी करती है। इस प्रकारसे यह भागवत्का श्लोक और वह श्रुति दोनों एक ही रेखापरसे प्रयाण करते हैं। भगवत्–चरणारविन्दकी भक्ति करनेवाले और ब्रह्मके आनन्दका अनुभव करनेवालेमे कहीं भी अन्तर और विरोध नहीं है। अद्वैतवादके प्रमाणसे भी ऐसा ही लगभग कहा जा सकता है। अधिकार-भेदसे अर्थभेद करनेमें बड़ी बुद्धिमत्ता रहती है। भक्त अधिकारीके लिये उस श्रुतिमें श्रुतषष्ठी भेदार्थक ही है। पर अद्वैतवादी ज्ञानीके लिये वह अभेदार्थक है। अभेदार्थक है अर्थात् प्रथमार्थमें षष्ठी है। इस प्रकार मनको उद्विग्न कर डालनेवाला कोई कारण रह नहीं जाता। पर यहाँ एक दूसरी बातका विचार करना है। श्रुति कहती है

कि ब्रह्म के आनन्दको जाननेवालेको कहीं से भय नहीं होता। आनन्दकी प्राप्ति और भयका क्या सम्बन्ध ? एक प्रबल विरोधीकी सत्ता एक निर्बल विरोधीको निवृत्त करती है, ऐसा ही नियम है। अग्नि और जलका विरोध है। इसलिये प्रबल अग्नि निर्बल जलका अथवा प्रबल जल निर्बल अग्निका नाश कर सकता है। जल अधिक होगा तो अग्निका वह नाश करेगा। अग्नि अधिक होगा तो वह जलका नाश करेगा। प्रकाश और अन्धकारका विरोध है। इसलिये प्रकाश अन्धकारका नाश करता है। आनन्द और भयके साथ तो कोई प्रतिस्पर्धा मालूम नहीं होती, इससे विरोध भी नहीं प्रतीत होता। फिर आनन्दके अनुभवसे भयनिवृत्ति किस प्रकार ? आनन्द और भयमें प्रतिद्वन्द्विता नहीं है प्रत्युत मैत्री है। आनन्द अपने पास आनेके लिये भयको बुलाता है। ऐसाही हम लोकमें देखते हैं। आनन्द अर्थात् सुख। जहाँ सुख है, विलास है, लक्ष्मीका गमनागमन है, लक्ष्मीका विलास है वहाँ निद्रा नहीं है, शान्ति नहीं है, प्रेम नहीं है, श्रद्धा नहीं है, निर्भयता नहीं है। क्योंकि वहाँ प्राणभय, धनापहरणभय, अग्निभय, चोरभय, बैंक फेल होनेका भय, आदि भयही रहते हैं। इस प्रकारसे तो आनन्द और भयका समानाधिकरण अबाधित बनता है। फिर आनन्द भयको निवृत्त किस प्रकारसे करेगा ? गरीबकी झोपड़ीमें चोरका भय नहीं है, इसलिये वहाँ बन्दूक नहीं है, बन्दूकधारी नहीं है, चौकी-पहरा नहीं है, चौकीदार नहीं है, पहरेदार नहीं है, वहाँ शान्ति है, जागरण नहीं है। वहाँ भय नहीं है। वहाँ आनन्द नहीं है वहाँ तो गरीबी है। वहाँ बच्चे भूखों मरते हैं, घरके स्त्रीपुरुषको, बालबच्चोंको शरीर ढकनेके लिये वस्त्र नहीं है। ओषधि-उपचारके लिये पैसा नहीं है। इससे डाक्टर नहीं है, वैद्य नहीं है, आनन्द नहीं है इसलिये दुःख है। आनन्द और दुःखका विरोध होगा इससे दुःखकी सत्ताने आनन्दकी सत्ताका बहिष्कार घोषित किया है। इससे आनन्द और दुःखका विरोध तो समझमें आता है। पर आनन्द और भयका विरोध किस प्रकारसे ? विरोध न हो तो आनन्दसे भयकी

निवृत्ति नहीं होगी। और यदि ऐसा हो तो श्रुति निरर्थक हो जाय। इस शङ्काका समाधान बहुत कठिन नहीं है। यदि आप यह समझ जायँ कि भय भी एक दुःख ही है तो शङ्काका अवकाश ही नहीं रहता। दुःखके अनेक प्रकार हैं और अनेक मार्ग हैं। दुःखकी कोई नियत सीमा नहीं है, नियत प्रकार नहीं है और नियत मार्ग नहीं है। भय भी दुःखका एक प्रकार है। राग, द्वेष, शोक, मोह, आदि जैसे दुःख हैं, वैसे ही भय भी एक दुःख है। इसलिये आनन्दके साथ उसकी प्रतिद्वन्द्विता सिद्ध है। इसीलिये ब्रह्मानन्दका अनुभव होनेके पश्चात् भयकी—भयरूप दुःखकी निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्मानन्द क्या है इसका भी थोड़ा सा विचार कर लें। आनन्द यह ब्रह्मका अर्थात् अपना स्वरूप है। वह स्वरूप ढँका हुआ है मालूम नहीं पड़ता। सारा विश्व भी अपना स्वरूप है वह भी हमको ज्ञात नहीं होता। न समझनेके कारण ही हम जगत्में भेद-बुद्धि रखते हैं। भेदबुद्धि सर्वदा राग द्वेष का कारण बनती है। जहाँ राग द्वेष होता है वहाँ भय अवश्य होता है। जहाँ राग होता है वहाँ परिणाममें प्रेम, आकर्षण, व्याकुलता, आदि होते हैं। इस प्रेमका भङ्ग कभी न हो जाय, यह भय सदा जागरित रहता है। प्रेमसे भय पाकर ही एक मनुष्यने कहा है—

> प्रेमैव मास्तु यदि तत्पथिकेन नैव,
> तेनापि चेद्गुणवता न समं कदापि ॥
> तेनापि चेद् भवतु नैव कदापि भङ्गो
> भङ्गोपि चेद् भवतु वश्यमवश्यमायुः ॥

किसीके साथ प्रेम न हो तो अच्छा। कदाचित् प्रेम किसीके साथ होजाय, तो वह पथिकके साथ, मुसाफिरके साथ तो कभी न होना चाहिये। कदाचित् पथिकके साथ भी प्रेम हो जाय तो वह गुणवान् तो नहीं ही होना चाहिये। कदाचित् गुणवान् पथिक के साथ भी प्रेम हो जाय तो फिर वह कभी टूटना नहीं चाहिये। और यदि टूट जाय तो

मर जानेके लिये आयुष्यपर अपना अधिकार होना चाहिये। अस्तु। जहाँ द्वेष होता है वहाँ तो प्रत्यक्ष ही सर्वानुभूत भय होता ही है। द्वेष शत्रुत्व का जन्मदाता है। शत्रु कब, कहाँ, किस प्रकारसे हमको सतावेगा, इसका भय सदा जीवको रहता ही है। यदि भेदबुद्धिका नाश हो जाय तो, राग-द्वेषका भी विनाश हो जाय। यदि राग-द्वेषका नाश हो जाय तो उससे उत्पन्न भयका नाश हो। भयका नाश हो तो स्वरूपभूत आनन्दका प्राकट्य हो। आनन्दका प्राकट्य होनेके साथ ही सर्वदुःखोंका अन्त होता है। इसलिये ब्रह्मानन्द अर्थात् परत्वबुद्धि निवृत्तिपूर्वक निरन्तर आनन्दानुभव। इस प्रकारसे जब सर्वत्र आत्मदृष्टि जन्म लेती है, पर-बुद्धिकी निवृत्ति होती है, तब स्वतः भय निवृत्त होता है। अपनेसे अपनेको भय नहींही होता, "परस्माद् वै भयं भवति" परायेसे ही भय होता है। पराया तो कोई रह नहीं जाता, भय कहाँसे? इस प्रकार ब्रह्मानन्दको जाननेवालेको कभी भय होता ही नहीं है। भेदज्ञान ही बन्धन है। अभेदज्ञान ही मुक्ति है। अभेदज्ञानमें ही भयकी निवृत्ति है। भेदज्ञान में भयकी अनुवृत्ति रहती है। भेद कुछ तात्त्विक पदार्थ नहीं है, यह अध्यात्मजन्य है। माँ बाप या दूसरे, बचपनसे ही बालकको भाँति-भाँतिकी वस्तुओंका नाम लेकर डराया करते हैं, और उनमेंसे एक वस्तु 'बाबा' भी है। "देखो बाबा आया पकड़कर ले जायगा" ऐसा कहकर बाबाको भी उसके भयका साधन बना डालते हैं। इसलिये वह बाबासे भी डरता है, माँ-बाप स्वयं संस्कारी होते नहीं। अतः जिसके पाँव पड़ते हैं, जिसे महाराज जी, बापजी कहते हैं, जिसे प्रेमसे भोजन कराते हैं भेंट-पूजा देते हैं, उसे बाबा ऐसे असभ्य शब्दसे बालकोंको परिचित कराते हैं। भयके संस्कार माँ-बाप ही डालते हैं। बालपनमें बच्चा साँपको पकड़नेके लिये दौड़ता है। बिच्छूको भी पकड़ता है। चाहे जिस वस्तुको पकड़ता है। सर्वथा ब्रह्मस्वरूप उस निर्भय बालकको माँ-बाप डरपोक बना देते हैं। साँपके साथ खेलनेकी इच्छा रखनेवाला वही बालक फिर तो चूहेसे भी डरता है, कीड़ी,

मकोडीसे भी भय खाता है। साँप और बिच्छूसे बालकको बचाइये अवश्य, पर केवल बचाइये, और ऐसी रीतिसे चुपचाप बचाइये कि उसके हृदयमे भयका संस्कार उत्पन्न न हो। जैसे यह भयका मिथ्या संस्कार बालकोंमें माता-पिता डालते हैं, ऐसे ही माता-पितामें भी इसी प्रकारके और इससे भी बुरे संस्कार पाखण्डी गुरु उपदेशक डाल जाते हैं। इससे लोग धर्मको अधर्म तथा अधर्मको धर्म समझनेके लिये विवश होते हैं। फिर तो सत्य सुननेके लिये उनमें साहस ही नहीं रहता। फिर सत्य बोलनेका साहस तो हो ही कहाँ से ? अनादिकालसे प्रवृत्त अविद्याको ही धनके लोभी गुरु बढाते हैं। उसे दूर करनेकी इच्छा भी उनको नहीं होती। गुरुतो ऐसा होना चाहिये कि जो शिष्यके शोकको हर ले। शिष्यके कल्याणकी ही भावना जिसके मनमें हो वही सच्चा गुरु है। शास्त्रमें कहा है—

गुशब्दस्त्वन्धकारःस्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥

गुरुमें दो अक्षर हैं, गु और रु, गु का अर्थ है अज्ञान, रु का अर्थ है निवर्तक। जो अज्ञानको निवृत्त करे वही गुरु। भागवतमे भी कहा है—

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्।
पिता न स स्यात् जननी न सा स्यात् ॥
दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात्।
न मोचयेद्य समुपेतमृत्युम् ॥

"जो शिष्यको, जन्म मरण रूप बन्धनोंको काटकर शोक रहित न बनाये, वह गुरु ही नहीं है। सन्मार्गका प्रदर्शन गुरु ही करे। गुरु जीवनमें एक महान् वस्तु है। इसलिये सच्चे गुरुकी ही खोज करनी चाहिये। मन्त्र सिखानेवाला गुरु नहीं होता पर मन्त्रमे कहे अनुसार स्वयं चलनेवाला और शिष्यको बलपूर्वक चलानेवाला गुरु कहलाता है। इसलिये सच्चे गुरुकी शरणमें जावेंगे तो भयका नाश होगा।

एक छोटी सी आपकी शङ्काको दूरकर इस विषयको आज पूरा करूँगा। श्रुतिमें कहा है कि ब्रह्मानन्दको जाननेसे भयकी निवृत्ति होती है। मैंने कहा है कि भयका नाश होनेसे आनन्दका प्राकट्य होता है। आपको इसमें थोड़ा विपरीत कथन प्रतीत होगा, पर विपरीत जैसा कुछ नहीं है। भय स्वयं दुःख भी है और दुःखका कारण भी है। यह तो समझ सके होंगे। अतः भयको दुःखका कारण मानकर ही उसकी निवृत्तिकी आवश्यकता पर मैंने भार दिया है। दुःखका कारण भय दूर हो तो ही आनन्द प्रकाशित हो। यह भय स्वयं ही अविद्या है। अविद्याकी निवृत्ति ब्रह्मरूप या ब्रह्मानन्दरूप है, ऐसा वेदान्तका सिद्धान्त है।

६–८–'५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(२१)

राजा निमिने योगेश्वर कविसे प्रश्न पूछा था कि ससार किंवा संसारका भय किस प्रकारसे निवृत्त हो सकता है? उस प्रश्नके उत्तरमें कविके कहे हुए एक श्लोककी व्याख्या आपके सामने हो गयी। अब एक दूसरा श्लोक सुनें—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्याद्,
ईशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं,
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

एक श्रुति है "परस्माद्वै भयं भवति, द्वितीयस्माद्वै भयं भवति" यह श्रुति आपने मेरे पाससे पहले भी सुनी है। भागवत इस श्रुतिके अनुसार ही कहता है कि—मायाका स्वामी है परमेश्वर। उसकी

मायाका अन्त नहीं है। अन्त नहीं है अर्थात् वह अनेक रूपमें भासित होती है। मायाके कारण ही जीव जगत्में फँसता है। जगत्में फँसता है अर्थात् वह भगवान्से अलग पड़ जाता है। यद्यपि भगवान् सर्वव्यापी है। उससे कभी भी कोई वस्तु अलग नहीं रह सकती। फिर भी यहाँ अलग रहनेका अर्थ है ईश्वरकी सत्ता और व्यापकताको भूल जाना, इसका नाम है अलग रहना। अज्ञानके राज्यमें ऐसा ही होता है। सत्संग छूटता है, सत्य छूटता है, भगवान् भी छूट जाता है, स्वरूपकी भी विस्मृति होती है। ज्ञानमार्ग हो या भक्तिमार्ग हो, दोनोंमें वस्तुतः भेदभावका तो निषेध ही किया गया है। भागवतके इसी प्रकरणमें निमि राजासे कवि योगेश्वरने जो कहा है वह मनन करने योग्य है। जैसे-जैसे शास्त्रका मनन करेंगे वैसे-वैसे अज्ञानान्धकार दूर होता जायगा। हरिने कहा है—

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान् यो न द्वेष्टि न हृष्यति।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः॥

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः।
वासुदेवैकनिलय स वै भागवतोत्तमः॥

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

भागवत अर्थात् भगवद्भक्त। भगवद्भक्त के तीन भेद हैं, उत्तम, मध्यम, प्राकृत = सामान्य = निम्नश्रेणीका। मध्यम भक्त वह है, जो ईश्वरसे प्रेम करता है, ईश्वराधीनके साथ मैत्री करता है। मित्र पर कृपा करता है और शत्रुकी ओर उपेक्षा बुद्धि रखता है। जो भगवान् की पूजा तो करना चाहता है पर उसके भक्तों की अथवा दूसरों की पूजा नहीं करना चाहता। अर्थात् जिसके मनमें ईश्वर भक्तोंके लिये प्रेम और आदर नहीं

है। अन्य किसीका भी आदर नहीं करना चाहता वह प्राकृतभक्त अर्थात् तीसरी श्रेणीका भक्त है। उत्तम श्रेणीका भक्त तो उसे कहते हैं कि जो शरीरधर्म-निर्वाहके लिये देश और कालका अनुसरणकर संसारके विषयों-का उपभोग कर लेता है, फिर भी उनसे उदासीन रहता है। वह विषयों से न प्रेम रखता है और न द्वेष रखता है। सबको भगवान्‌की ही माया मानता है। माया अर्थात् शक्ति। मायाका सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। इससे वह भगवत् संबंधिनी कही जाती है। उसी मायासे यह संसार और संसारके विषय उत्पन्न होते हैं। इसलिये वे विषय भगवत्-संबधि सम्बन्धी कहलाते है जो वस्तु भगवान् के सम्बन्धी का सम्बन्धी हो उसके साथ राग, द्वेष हो नही सकता। इससे भगवान्‌की मायाकी ही यह सब क्रीड़ा है—खेल है ऐसा मानकर जो न तो करता है वस्तुद्वेष और न करता है वस्तुप्रेम वह भगवद्भक्तों मे उत्तम भक्त है। विशेषतः जिसके हृदय में भगवद्भक्तिके सिवा दूसरी कोई भली या बुरी इच्छाका उदय नहीं होता, भगवत्कैङ्कर्यके अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें जिसकी रुचि नहीं होती और सदा भगवान्‌मे ही लीन रहता है वही भगवद्भक्तोंमें उत्तम भक्त है। और भी, जिसे ऐसा अभिमान न हो कि मेरा जन्म श्रेष्ठकुलमें हुआ है, अथवा नीचकुल मे हुआ है, जिसे ऐसा भी अभिमान न हो कि मैंने अश्वमेधादि अच्छे-अच्छे कर्म किये हैं और जिसे यह भी भान नहीं होता हो कि मैंने कुछ नही किया वही भक्त है। किंच, वर्ण, आश्रम, जाति इनका सम्बन्ध केवल देहके साथ है, आत्माके साथ नहीं। इसलिये चाहे जिस वर्णमे (ब्राह्मण, क्षत्रियादिमें) चाहे जिस आश्रम मे (ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रमादिमें) और चाहे जिस जातिमें (अवान्तर जाति विभागमें) कोई उत्पन्न हुआ हो, उस वर्ण, उस जाति, उस आश्रम और उस जातिमे जो फँसता नहीं है वह भगवान्‌का प्रिय है। विशेषतः जिसके चित्तमें, जिसके मनमे ऐसा भेद नहीं रहता कि यह मेरा है यह पराया है, जो सब भेदों को छोड कर प्राणिमात्रमें समभाव से रहता है वह भगवान् के भक्तोमे उत्तम भक्त है। मैं बार-बार कहता हूँ कि भगवद्भक्ति किञ्चित् भी सुगम वस्तु नहीं है

और भगवद्भक्त बनना तनिक भी सुगम नहीं है, ये दोनों बहुत ही कठिन हैं। अज्ञानी लोग, अपनेको भक्त कहनेके लिये लोगोंको प्रेरणा करते हैं। विद्वान् समझते हैं कि यथार्थ भक्त बनते अनेक जीवन व्यतीत हो जाते हैं, बहुत कठिन है।

श्रीभागवत्‌के ये सभी प्रसङ्ग हमको भेदभावसे पृथक् रहनेका उपदेश करते हैं। यह ब्राह्मण और यह शूद्र, यह हिन्दू और यह मुसलमान ये सब भावनाएँ अज्ञानके कारण उत्पन्न होती हैं। सभी भगवान्‌की प्रजा हैं। समय के अनुसार सभी धर्म भगवान्‌के ही धर्म हैं। कहीं भी भेद रखना यह आत्मसत्ताके अपमान करनेके समान है। भागवत्‌का जो श्लोक आज कथाप्रसङ्गमें चल रहा है वह यही कहता है। भेदबुद्धि रखनेसे ही जगत्‌में भयका जन्म होता है। भेदबुद्धि उसी-को होती है जिसने ईश्वरका बहिष्कार घोषित किया हो। ईश्वरको माननेवाले हृदय में, ईश्वरपर विश्वास रखनेवाले हृदयमें कभी भी भेदबुद्धि उत्पन्न होही नहीं सकती। उसे तो पूर्ण विवेक होगा ही कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है। ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है। "सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुगपानी" गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है कि सम्पूर्ण विश्व सीताराममय है। भगवद्भक्तकी दृष्टिमें उपास्यदेवके समान दूसरी कोई वस्तु हो नहीं सकती। जिसे भयसे मुक्त होना हो, जिसे भयप्रिय न लगता हो, भयको जो दुःखरूप मानता हो, उसे भेदबुद्धिका—पर-बुद्धि का, द्वितीय बुद्धिका शीघ्र ही त्याग करना चाहिये। श्रुति अपनी माता है। जैसे माता अपने पुत्रको कुमार्ग में जाता देखकर या बिना मार्ग के जाते देखकर बारंबार बलात्कारसे भी पुत्रको रोकती है और प्रेमपूर्ण शब्दोंसे उपदेश करती है, वैसे ही भगवती श्रुति भी जीवोंको बार-बार समझाती है कि 'वत्स! भेदको तू भूलजा। भेद तेरे जीवनका उद्देश्य नहीं है। भेदके साथ तू सदा जी नहीं सकेगा, तेरा नाश हो जायगा।'

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"

जो मनुष्य इस जगत्में भेद तो क्या, भेदके समान भी देखता है, कल्पित भेदबुद्धि भी रखता है, वह मरता है, फिर जन्म लेता है, फिर मरता है, फिर जन्म लेता है। कभी भी जन्म-मरणकी परम्परामें से निकलता नहीं है। अतः जीव-ब्रह्मका भेद, जीव-जीवका भेद, तथा ब्रह्म-जगत् का भेद छोड़ देना चाहिये। जीव-ब्रह्मका भेद समाप्त हो तभी जीव-जीवका भेद नष्ट होगा। जब जीवको भासित होगा कि ब्रह्मके अतिरिक्त मेरा कोई अस्तित्व नहीं है तब वह अपनेको भूलेगा, ब्रह्ममें लीन होगा। ब्रह्म अर्थात भगवान्। ब्रह्ममे लीन होनेके पश्चात् उसे जीव-जीवका भेद प्रतीत नहीं होगा। लवण और जल जब अभिन्न बनते हैं, लवण जब पानीकी सत्तामें अपनी सत्ताको विलीन कर देता है तब वह जल-रूप ही बन जाता है। उसका अस्तित्व और जलका अस्तित्व उस समय अलग नहीं होता। अतः जीव जब ब्रह्मलीन बनता है तब अपना अस्तित्व वह खो देता है। उस अवस्थामे जीव ही नहीं रहा तब कौन किसको किससे भिन्न देखेगा या समझेगा? जीव-जीवका भेद अस्त होनेपर जगत्को देखनेवाला कोई नहीं रह जाता। इससे जगत् और ब्रह्मका भेद भी समाप्त हो जाता है। यदि हम अपने ऋषियों और मुनियोंकी परम्परामें विश्वास रखते हो तो यह भी विश्वास रखना चाहिये कि हमको इस जगत्से दूसरे जगत्में जाना है। परलोक जैसी कोई वस्तु है ही। परमेश्वर जैसा कुछ तो है ही। और, यदि हम ऐसा विश्वास रखेंगे तो उसकी प्राप्तिके लिये भी हमें प्रयत्न करना ही चाहिये। कारण कि अपने पूर्वज उस ओर जानेका प्रयास करते रहे हैं और उपदेश भी करते रहे हैं।

वेदान्तने इस भेदको मिटानेके लिये अत्यन्त प्रयास किया है। भक्तिको भी यह भेद मिटाना है। ज्ञान और भक्ति दोनों ही भेद मिलनेका प्रयास करते हैं। परन्तु दोनोंके प्रयासमें अन्तर है। वेदान्त युक्ति और श्रुतिप्रमाणसे भेद निर्मूल करनेका प्रयास करता है। परन्तु भक्ति केवल भक्तिसे ही भेदके उच्छेदकी इच्छा रखती है। भक्तिका प्रयास शीघ्र

सफल नहीं हो सकता क्योंकि जगत्में भक्तिके लिये कोई स्थान नहीं है। मूर्खजन जिसे भक्ति कहते और समझते हैं वह तो भक्ति ही नहीं है। भक्ति हो तो भेद नष्ट हो। भक्ति नहीं है अतः भक्त नहीं है। भक्त नहीं है, अतः भेद रहेगा ही। वेदान्तका प्रयास सफल बनता है। वेदान्तमे एक वाद है जिसे अवच्छेदवाद कहते हैं। इस अवच्छेदवादकी परम्परामें एक दृष्टि सृष्टिवाद है। दृष्टिसृष्टिवादका अर्थ है कि जगत् नहीं है, जगत्मे कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जीव अपने अज्ञानसे अपने लिये आवश्यकतानुसार जगत् बना लेता है। जगत्की वस्तु भी उतनी ही बना लेता है जितनोंकी उसे आवश्यकता है। हिमालय पर्वत है, इसे सिद्ध करनेके लिये यहाँ किसीके पास भी क्या साधन है ? गङ्गा नदी है, इसे आप कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? कोई उपाय नहीं है। दृष्टिसृष्टिवाद कहता है, हिमालय भी नहीं है, गङ्गा भी नहीं है। परन्तु जब किसीको उसकी आवश्यकता होती है तब उसकी आँखके सामने हिमालय दृष्टिगत होने लगता है। उस समय जीव हिमालयको अपनी अविद्यासे बना लेता है। अपने समस्त व्यवहार उस आविद्यक हिमालयसे वह चलाने लगता है। एक उदाहरण, जादूगरके पास अङ्गूठी होती है या नहीं, परन्तु हम उसे देख नहीं सकते। अपनी कलासे जब वह उसे प्रकट करता है, तब हम उसे देख पाते हैं। आपके घरमें आपको एक घट प्रतीत होता है। उसमें आप ठंडा जल भर रखते हैं। आप सो गये। तब घट चला गया, रहा नहीं। यदि होता तो आपको प्रतीत होता। आप जब जागृत् अवस्थामें आते हैं तब भी आपको वह घट प्रतीत नहीं होता। आपका ध्यान भी उस ओर नहीं है। यदि घट होता तो अवश्य ही उसपर आपकी दृष्टि पडती, उसका ध्यान होता। परन्तु जब आपको तृषा लगती है, शीतल जलकी आवश्यकता होती है, तब आप अपने अज्ञानसे उस जलपूर्ण घटको उत्पन्न करते हैं। शीतलजलका तब पान करके शान्त होते हैं। पुनः वह घट अदृश्य होगया। जब-जब आपको उस जलपूर्ण घटकी आवश्यकता होती है तब-तब आप उसे नया पैदा करते

हैं। आपको जो ऐसा प्रतीत होता है कि वह वही घट है, नया नहीं है, उसी भूतलमें है, वैसा ही है, उसमें वही जल है, वह तो आपका भ्रम है। उस नवीन उत्पन्न हुए घटमें और प्रथम उत्पन्न विनष्ट घटमें इतना अधिक सादृश्य होता है कि आप कह ही नहीं सकते, जान ही नहीं सकते कि वह वही घट है या नूतन। जल और स्थलमे इतना अधिक सादृश्य उत्पन्न हो गया था कि दुर्योधन समझ ही नहीं सका था कि यह जल है या स्थल? यह स्थल है या जल? देश, काल, वस्तु ये तीनों मिलकर जीवको भ्रान्त बनाते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ढेढ, भङ्गी, चमार, हिन्दू, मुसलमान, पारसी आदि मनुष्यके स्वाभाविक भेद तो नहीं हैं। परन्तु मनुष्य की अविद्याने इन भेदोंको मनुष्यके लिये पैदा किया है। प्रत्येक जीव अपने अज्ञानसे जिस वस्तुको जन्म देता है वह उसीके लिये होती है, दूसरोंके लिये नहीं। अन्धकारमें रज्जू-सर्प सबके लिये भयप्रद या हानिप्रद नहीं होता। जिसकी अविद्याने उस रज्जू-सर्पको उत्पन्न किया है, उसीके लिये वह दुःखद है, वही चीत्कार करेगा, वही कापेगा, वही सर्पवधके लिये अस्त्र-शस्त्र ढूंढ़ेगा, वही व्याकुल बनेगा। दूसरा आदमी तो वहां हो उसी घरमे निर्भय सोता रहेगा, आनन्दका अनुभव करता रहेगा। उसके लिये वह सर्प है ही नहीं। वेदान्त कितनी सुन्दर युक्तिका प्रयोग करके मानवजातिको राग द्वेष, नीच-ऊँचकी भावनासे दूर लेजानेका प्रयास करता है। उसमें वेदान्त सफल होता है। मै आपको भी कहता हूँ कि आप वेदान्तकी पद्धतिसे विचार करें। आपका भ्रम और आपकी भेदबुद्धि अवश्य अदृश्य बनेगी। आपको भ्रम हुआ है, आप अविद्यासे गृहीत हैं, अतएव आपको अधिष्ठान—सत्यवस्तु—जिसमें आपको भ्रम हुआ है वह वस्तु—प्रतीत नहीं होती है। आपमेंसे कोई ब्राह्मण हैं, कोई वणिक हैं और कोई पाटीदार हैं। आत्मा तो आपमेंसे कोई नहीं है। वेद तो कहता है कि "पुरुष एवेदं सर्वम्" यह सब पुरुष ही है। पुरुष अर्थात् आत्मा। वेद आप सबको आत्मा कहता है। आप अपनेको ब्राह्मण या वणिक् कहते हैं।

कहाँ है आपका वेदोंपर विश्वास ? आप जिस ग्रन्थको अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं उसकी आज्ञाका भी आप स्वीकार नहीं कर सकते। यहाँ तक आपको अविद्याका नशा चढ़ा है। मूर्ख लोगोंने आपको पुराणके मूर्खभोग्य उद्यानमें लेजाकर बन्दकर दिया है। वहाँ आपको सत्यका दर्शन हो ही नहीं सकता। आप भागवत् सुनते हैं, इसकी अपेक्षा उपनिषद् सुनें तो अधिक लाभ होगा। भागवत् निकृष्ट ग्रन्थ नहीं है। बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। परन्तु अन्ततोगत्वा वह भी तो पुराण ही है। सब पुराणोंकी अपेक्षा भागवत् बहुत सुन्दर पुराण है। परन्तु आपको अधिक यही सुननेको मिलता है कि आप भगवान्‌की भक्ति करें। भक्तिका सत्यरूप आपके समक्ष प्रकट नहीं होता है—नहीं किया जाता है। इसीलिये आप "पुनि-पुनि अक्षत पुनि-पुनि पानी" प्रतिदिन उसी अक्षत (चावल) और उसी जलको चढ़ाकर, भक्ति करके कृतार्थ बनते हैं। उपनिषद् ऐसी भक्तिके लिये आपको कभी भी प्रेरणा नहीं करेगी। वह तो आपको संयमी बनावेगी, निर्दोष बनावेगी और मनुष्य बनावेगी।

ता० ७-७-'५० के दिन मोम्बासामें किया हुआ प्रवचन।

भागवत-कथा

(२२)

एक मनुष्य रात्रिमें इतना अधिक खाता है कि वह असुरमें गिना जाय। एक मनुष्य शरीरसे इतना काम लेता है जितना बैलसे। एक मनुष्य असंयमी जीवन व्यतीत करनेके कारण अत्यन्त निर्बल मस्तिष्क-वाला बन गया है। एक मनुष्य रात-दिन चिन्तामें ही डूबा रहता है। ऐसे ही लोग रातमें निद्रामें स्वप्न देखते हैं। स्वप्नमें वे एक ही वस्तु नहीं देखते—विविध अनेक वस्तुओंको देखते हैं। भिन्न-भिन्न पशु, पक्षी, हाथी, घोड़ा, नदी, नाला, पर्वत, जंगल, झाड़ी, स्त्री, पुरुष, मेला, मान, अपमान, अपनी इष्ट वस्तु-अनिष्ट वस्तु, अपना इष्टदेव, यह सब उनके

स्वप्नकी सामग्री हैं। ये ही पदार्थ स्वप्नमें देखे गये हैं। कितनी ही बार स्वप्नमें कोई सर्प देखता है, डर जाता है, चीत्कार करके बैठ जाता है। निद्रा जाती है, सर्प भी जाता है। वह स्वस्थ बनता है। इनमेंसे मैं एक भी ऐसी बात नहीं कह रहा हूँ कि जिसका आपको अनुभव न हुआ हो या न होता हो। आप कह सकेंगे कि स्वप्नके देखे हुए पदार्थोंमें से आपके पास एक भी रहा हो। आप अस्वीकार ही करेंगे। तब वे पदार्थ गये कहाँ? आप जानते हैं? आप इसका भी अस्वीकार ही करेंगे। तो, क्या वे पदार्थ थे? आप हाँ करेंगे। तो, क्या वे पदार्थ सत्य थे? आप अस्वीकार ही करेंगे। इन स्वप्नके पदार्थोंके समान ही यह जगत् भी और जगत्के पदार्थ भी क्यों न हों? आप कहेंगे कि स्वप्नके पदार्थ तो क्षणिक होते हैं और जगत् तो स्थायी है। अतः जगत् और जगत्के पदार्थ स्वप्नके पदार्थोंके समान नहीं माने जा सकते। अच्छा, इस कथनमें क्या आप भूलते नहीं हैं? एक बालक जन्म लेता है और थोडी ही देरमें मृत्युको प्राप्त होता है। क्या उसके लिये यह जगत् क्षणिक नहीं है? और यदि क्षणिक है तो स्वप्नवत् नहीं है, ऐसा आप कह सकेंगे? किंच, एक मनुष्य रात्रिमें ६ या ७ घंटे सोता है, वह सारी रात एकके पश्चात् दूसरा स्वप्न देखा करता है। कभी-कभी तो वह एक ही प्रकारका स्वप्न अपनी सम्पूर्ण निद्रामें देखता है। जागता है, जलपान करता है, फिर सो जाता है और पुनः उसी प्रकारका स्वप्न देखता है। इस रीतिसे स्वप्नका एक नियत काल हुआ। यदि कोई छह महीने तक सोता रहे तो उसके स्वप्न पदार्थ भी छह महीने तक टिके रहेंगे। उसके स्वप्नका उतना काल। इसी प्रकार जीवन भी—ज्ञानहीन, विवेकहीन जीवन भी एक स्वप्न है। जीवनकाल स्वप्नकालकी अपेक्षा लम्बा होता है। अतः दीर्घ समय तक ये जागतिक पदार्थ दिखायी देते रहते हैं। इसका भी एक नियत समय है। एक मनुष्य ऐसा भी हो सकता है कि जिसे कभी स्वप्न आता ही न हो। स्वप्न किसे कहते हैं, यह भी वह न जानता हो। अतः उसके लिये

स्वप्नके पदार्थ नहीं हैं। इसी प्रकार एक मनुष्य ऐसा भी हो सकता है जिसे अविद्याका लेश भी न हो। उसकी दृष्टिमें या तो वह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत ही नहीं होगा अथवा क्षणिक ही प्रतीत होगा। अतः जागतिक पदार्थ और स्वप्न पदार्थमें कुछ भी अन्तर नहीं है। इसी तत्त्वको समझानेके लिये भागवत् कहता है—

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वय,
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा।
तत्कर्म सङ्कल्पविकल्पकं मनो,
बुधो निरुन्ध्यादभयं तत. स्यात्॥

द्वैत नहीं है, तो भी प्रतीत होता है। इस प्रतीति का स्थान है मन। यदि मन शान्त हो सके तो जगत् और प्रतीयमान द्वैत सब कुछ शान्त हो जाय। परन्तु मन शान्त होता नहीं है। इसकी शक्ति अपार है। इसका माहात्म्य लोकोत्तर है। जगत्के मानवोंने ईश्वरको देखा नहीं है तो भी उसके महात्म्यकी गीत वे गाते रहते हैं। उसे प्रसन्न रखने के लिये पूजा-पाठ किया करते हैं। मनके महात्म्यको लोग प्रतिदिन देखते हैं, अनुभूत करते हैं। इसके पराक्रमकी कथा सुननेके लिये कहीं जाना नहीं पड़े। घरमें ही बैठकर दिनभर और जीवनभर इसकी कथा सुना करें, उसका अनुभव किया करें तो भी श्रम न प्रतीत हो। कभी भी अन्त न हो ऐसा इसका पराक्रम। तोभी लोग इस मनकी पूजामें कभी तल्लीन नहीं होते। कृष्ण भगवान् जैसे समर्थ योगेश्वर भी जिसके लिये कहते हैं कि वह "बलवत् दृढम्" बहुत बड़ा बली और दृढ़ है, उसे प्रसन्न करनेके लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करता है। यह मनुष्य का पागल पन है। "मनसैव विज्ञानीयात" श्रुति भी ब्रह्मज्ञानके लिये जिस मनको उपयुक्त बताती है, उसकी आराधना किसीको भी सूझती नहीं है, अच्छी लगती नहीं है। भागवत् कहता है कि "मनको रोको निर्भयता प्राप्त होगी।" मनके रोकनेका अर्थ है मनकी पूजा, मनकी आराधना

मनकी पूजा पत्र-पुष्पसे नहीं हो सकती। पत्र-पुष्प तो मनुष्य पूजाके साधन हैं। ईश्वरको माननेवाले ईश्वरको भी मनुष्य जैसा ही मान बैठे हैं। ईश्वरको मानवतासे तनिक भी आगे ले जानेकी इच्छा किसीको भी नहीं होती। मनुष्य जन्म लेता है अतः ईश्वरको भी जन्म दे दिया गया। मनुष्य मरता है अतः ईश्वरको भी मारा गया। मनुष्य विवाह करता है अतः ईश्वरका भी विवाह कर डाला। मनुष्य बच्चा पैदा करता है अतः ईश्वर को भी बच्चा पैदा करनेवाला बना दिया। मनुष्यको शत्रु-मित्र होते हैं अतः ईश्वरके भी शत्रु-मित्र बना दिये गये। मनुष्य युद्ध करता है, ईश्वरसे भी युद्ध करा दिया। मनुष्य मूर्छित होता है अतः ईश्वरको भी युद्धमें मूर्छित बना दिया। मनुष्य मनुष्यको घर बुलाता है, ईश्वरको भी अपने घर बुलानेका आरम्भ हुआ—"आगच्छ परमेश्वर" हे परमेश्वर आवो, पधारो। आगन्तुक मनुष्यको हस्तपादादिप्रक्षालनके लिये जल दिया जाता है अतः ईश्वरके लिये भी अर्घ्य-पाद्यकी योजना हुई। मनुष्यको फल-फूल अर्पित किये जाते हैं अतः ईश्वरके लिये भी "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्" अर्पित होने लगे। मनुष्यको रहनेके लिये घर चाहिये, अतः ईश्वरके लिये भी घरका प्रबन्ध हुआ—मन्दिर उसका नाम पड़ा। इस मूर्खतापूर्ण पूजासे ईश्वर-परमेश्वरका कोई भी सम्बन्ध नही है। ऐसी पूजासे वह कभी सन्तुष्ट नहीं होता—कभी सन्तुष्ट नही हुआ है। उसे इससे प्रसन्नता भी नहीं होती है। उस ईश्वर की पूजा आप करे, उससे पूर्व मनकी पूजा करे। सत्यसे, सदाचारसे, श्रद्धासे, अनन्त विशुद्ध प्रेमसे, परोपकारसे, दीनोंकी सेवासे, सद्विचारसे आप मनकी पूजा कर सकते हैं। ईश्वरकी पूजाके लिये वस्तुतः जो सामग्री चाहिये, वही सामग्री मनः पूजाके लिये भी चाहिये। वेदने जिसके लिये कहा कि "यज्ज्योतिरन्तरमृतम्" वह आन्तरिक प्रकाश है, हृदयका प्रकाश है, अमृत है, कभी मर नहीं सकता। ऐसे अमृत मनको, ज्योतिःस्वरूप मनको, सावधान होकर आप पूजे, उसकी सेवा करें, उसे पवित्र बनावे, मनको प्रसन्न करें। सर्वकल्याणकी सिद्धि स्वय ही हो जायगी।

अहंकार त्याग करें, पाखण्डका त्याग करें, दंभका त्याग करें, किसीकी अवगमना या अवमानना न करें, मैं महान् हूँ, मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ ऐसा अभिमान न करें, इन उपायोंसे आपका मन पवित्र हो जायगा। सत्यज्ञान तो आपको तभी स्फुरित होगा जब आपको अपनी अज्ञानताका भान होगा। उस समय आपके समक्ष एकबार आकर उपस्थित होंगे आपके वे उपद्रवी कर्म। उस समय आपने जिस पाखण्डको बढ़ाया है, उसके लिये, दम्भके लिये, लोभके लिये, मोहके लिये, वञ्चनाके लिये आपको लज्जा होगी, पश्चात्ताप होगा। उस समय आपको वास्तविक ज्ञान होगा कि—

> नैवास्य कश्चिद्भविता नायं भवति कस्यचित्।
> पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः॥
> अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ।
> पथि सङ्गतमेवैतद्भ्राता माता पिता सखा॥

जीवका कोई अन्य साथी है ही नहीं। स्त्री, कुटुम्बीजन, मित्र, ये सब तो मार्गमें मिल गये हुए साथी हैं। उस समय आपको विश्वास होगा कि यह संसार अनित्य है। यहाँ आप जिसे अपना प्रियजन मानते थे, वह कुछ नहीं है। आप जिसे पूर्वमें स्थिर मानते थे वह तो गाड़ीके चक्रके समान प्रतिक्षण ऊपर-नीचे, जानेवाली, घूमनेवाली वस्तु है। माता, पिता, भाई, मित्र, ये सब, जब आप यात्राके लिये निकले, तब मार्गमें, अर्धमार्गमें मिल गये हुए साथी हैं। ऐसा ज्ञान जब आपको होगा तब आपकी आँख खुलेगी। दूसरोंके लिये आप बैल बने हैं, दूसरोंके लिये आप असत्य बोलते हैं, दूसरोंके लिये ही क्रूरता, कपट, छल, वञ्चना आप करते हैं और दूसरोंके लिये ही, दूसरोंके साथ आप द्वेष करते हैं और आपकी सभी इच्छाएँ दूसरोंके लिये ही प्रवर्तमान हैं, ऐसा ज्ञान जिस दिन आपको होगा उस दिन आप अकस्मात् बोल उठेंगे कि—

जानामि काम त्वां चैव यच्च किञ्चित्प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम्॥
काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥

"हे अभिलाष, तुझे क्या प्रिय है, यह मैं जान गया। तुझे प्रिय थी मेरी वेदना। तुझे प्रिय थे मेरे शोक और सन्ताप। तुझे प्रिय था मेरा विनाश। अब मैंने तुझे अच्छी तरहसे जान लिया, पहचान लिया। अब तो मैं ऐसा करूँगा कि तू जड-मूलसे ही उखड जायगा। तुझे मैं जिलाता था और तू मेरा अहित सोचता था। अब तो मैं तुझे जीने नहीं दूँगा और मेरे जीवनको नष्ट नहीं होने दूँगा।"

मैं आपके सामने ये सब बातें करता हूँ परन्तु मैं मानवजातिको पहचानता हूँ। मैं जानता हूँ कि आपके हृदयमें ये मेरी शास्त्रीय बाते आज स्थान प्राप्त नहीं कर सकेंगी। आप जगत्के सुखके अभ्यासी हैं। परन्तु आपको इतना ध्यानमें रखना ही चाहियेकि इस सासारिक सुखोंके पीछे-पीछे दुःखोंका समाज आ रहा है। आप हैरान हो जायँगे। लाखों और करोड़ों मानवोंने इस जगत्के सुखोंकी परीक्षाकी है। इसमें सार नहीं है। जीवनका यही और इतना ही रहस्य नहीं है। इससे भी आगे आपको जाना है और जाना पडेगा। आप आज जायें या काल्ह, यह तो घटनाओंके ऊपर आधारित है। मैं तो आपको आपके पूर्वजोंका सन्देश सुनाने यहाँ आया हूँ। मैं सुनाता रहूँगा। यह मेरा धर्म है। आप कभी भी तो मेरी बातका स्मरण करेंगे ही।

मै आपके सामने तीर्थ, व्रतकी बात नहीं करता हूँ। भागवत भी इस झगडेमें अधिक पडता नहीं। आप जाकर तीर्थमें स्नानकर आवें और आपके पाप धुल जायँगे, नष्ट हो जायँगे, यह मुझसे नहीं ही कहा जायगा। अज्ञानियोंकी भाषा मैं नहीं बोलना जानता। आपको गङ्गास्नान करना हो और आपके पास धन हो तो आप जाकर नित्य स्नान करें,

इसमें मुझे कोई कष्ट नहीं है। परन्तु यदि आप उस स्नानसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हों तो इसमें मेरा भारी विरोध है। हमारे शास्त्रकारोंमें से एक भी शास्त्रकार नहीं कह रहे हैं कि गङ्गास्नानसे मुक्ति मिलती है। पुराण बोलते हैं। परन्तु उनके बोलनेका बहुत महत्व नहीं है। पुराणोंके सम्बन्धमें मैं एक दिन आपको समझा चुका हूँ। उससे अधिक कुछ कहनेको नहीं रह जाता। आपको ही परीक्षा करनी है। पुराण कहते हैं—

गङ्गा गङ्गेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति॥

"जो मनुष्य ८०० कोश दूरसे भी गङ्गा, गङ्गा, इस रीतिसे बोलता है, वह सब पापोंसे छूटकर विष्णुलोकको प्राप्त होता है।" अच्छा, आप यह भी तो मानते ही हैं कि सभी दुःख आपके पापोंके ही फल हैं। कोई अन्धा बने, कोई काना बने, कोई निर्धन बने, कोई कोढ़ी बने, किसीको बालबच्चा न हो, आपके मतसे और पुराणोंके मतसे यह सब पापका ही फल है। तब आपमेंसे कोई एक "गङ्गा-गङ्गा" बोलकर देखें कि उसकी गयी हुई आँखें पुनः मिलती हैं, उसका कोढ़ मिटता है, उसके घर बालबच्चे खेलने-कूदने लग जाते हैं, निर्धन मनुष्य धन प्राप्तकर लेता है। प्रत्येक वस्तुकी परीक्षा करनी चाहिये। परीक्षाकर लेनेके पश्चात् ही उसे या किसी भी बातको माननेमें बुद्धिमत्ता है। आप कदाचित् मुझे नास्तिक कह देंगे, तो उससे मेरा क्या बिगड़ेगा? यदि मैं आपके पास कुछ धनकी आशासे आया होता तो इस शिवमन्दिरमें बैठकर आपको ऐसा स्पष्ट और सत्य उपदेश कर ही नहीं सकता। मुझे आपको राजी करने, प्रसन्न रखनेकी बात तब करनी पड़ती। परन्तु संन्यासी ऐसा पाप कर नहीं सकता। व्यासगद्दीपर बैठकर मैं आपको मूर्खमार्गमें जानेकी प्रेरणा नहीं कर सकता। हमारे पूर्वज महती तपश्चर्या करके, शास्त्र लिखकर हमें दे गये हैं। मैं उन शास्त्रोंका अभ्यासी हूँ। उनका

मर्मज्ञ हूँ। मेरा धर्म है कि मैं आपको सच्छास्त्रोंका उपदेश सुनाऊँ और समझाऊँ। अतः मुझे तो पुनः पुनः आपसे कहना है कि—

सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं तीर्थमार्जवमेव च॥

आप सत्य बोले, सत्य ही सुनें, सत्यका ही आचरण करे, अपराधीको दण्डदेनेकी क्षमता होनेपर भी उसे क्षमादान दे, अपने सभी इन्द्रियोंको यथाशक्ति विषयवासनासे दूर रखे, सभी प्राणियोंके ऊपर निर्हेतुक दया करें और नम्र बने, यही सच्चा तीर्थ है। इस तीर्थमे यदि आप स्नान करेंगे तो मुझे तो कुछ भी मिलनेका नहीं। अतः मेरा कोई इसमें स्वार्थ नहीं है। आप काशी, प्रयाग, जाकर गङ्गास्नान कर आवे और इसे ही तीर्थ मात्र मान लें तो मेरा कुछ बिगड़नेका नहीं है। लाभ, अलाभ, हित, अहित, आप अपने ही हाथोंसे अपने लिये भी और अन्योंके लिये भी पैदा करसकेंगे। मेरे जैसा तो आपको केवल सत्य-मार्गकी सूचनामात्र कर सकता है। भागवतको सुनानेवाले तो अपने पेटके लिये आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप भागवत सुनें। और आप सुनेंगे ही क्या? आपको तो एक व्यसन पड़ गया है कि जहाँ सप्ताह हो वहाँ जाना और थोडा सा गप्पे मारकर हाथ हिलाते हुए घर पहुँच जाना। पोथीपर थोड़ेसे पैसे चढ़ा देंगे। इससे अधिक सप्ताहसे आप क्या प्राप्त करते हैं? सप्ताह सुननेवाले इस मन्दिरमें क्या कह सकेंगे कि उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, असत्य, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोंका त्याग किया है! यदि ये सब कीचड़ सूख नहीं गया है तो आप मोक्षकी इच्छा किस रीतिसे कर सकते हैं? आप इसका विचार करते हैं? आप अन्योंको समझा सकेंगे? अतः आप व्यसनोंसे बच जायँ। जैसे चाय पीना एक व्यसन है, बीड़ी-सिग्रेटके व्यसनी लोग एक दूसरेको धूआँ उड़ाते देखकर झट उसके पास "कैसे हैं?" ऐसा कहते हुए पहुँच जाते हैं, गंजेड़ी लोग, गाँजा पीते हुए किसीको देखकर खाँसते-खाँसते तुरन्त

ही "क्यों गुरु" ऐसा कहते हुए उसके पास पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार आप भागवत सप्ताहका नाम सुनकर. भागवत बाचनेवाले भाईके पास पहुँच जाते हैं। यह सब व्यसन है। इसमेंसे आप छूट जायँ। भागवतको आप सुनें तो मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ही। मुक्ति आपको अवश्य मिलेगी; परन्तु भागवतके उपदेशके अनुसार आचरण करनेके लिये आपकी तैयारी होगी तब।

८-७-५० के दिन मोम्बासामें किया गया प्रवचन।

भागवत कथा

(२३)

कल तुमको भागवतने बतलाया कि जगत्में भेद नहीं है, फिर भी मालूम होता है, इसकी निवृत्ति का मार्ग भी कल कहा गया है। आज आगे सुनो—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत् किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥

भागवत कहता है कि, जगत्में जो कुछ है, वह केवल परमात्मा है, दूसरा कुछ नहीं। श्रुति भी कहती है कि एक परमात्माके सिवा यहाँ जो कुछ भी दूसरा देखता है, मानता है, वह पुनः-पुनः क्लेशका अनुभव करता है। "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" जो कुछ आप आज भी देख सकते हैं, वह दूसरा कुछ नहीं है, ब्रह्म ही है। आपको दूसरा कुछ यहाँ प्रतीत होता है वह अनादिकालके भ्रमके कारण ही। भागवतका

यह श्लोक और उपनिषद्‌की श्रुति दोनों एक ही वस्तु कहते हैं। यह श्लोक कहता है कि आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, नक्षत्र, पशु-पक्षी आदि प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, लता, गुल्म आदि, नदियाँ, समुद्र जो कुछ आपको दिखायी देते हैं, अथवा दिखायी दें, वे सब प्रभुके शरीर हैं, ऐसा मानकर अनन्य भावसे, प्रभुभावसे ही उन्हें प्रणाम करना चाहिये। एक दिन मैंने आपको बृहदारण्यक उपनिपद्‌की थोड़ी श्रुतियाँ सुनायी थीं। उसमे भी आकाश, पृथ्वी आदि सबको आत्माका शरीर कहा है। शरीर का तात्पर्य इतना ही कि परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। उससे कोई वस्तु रिक्त नहीं है। आप देख सकते हैं कि जो लोग कहते हैं कि भक्ति बहुत ही सरल है, वे भूलते हैं। भक्ति, ज्ञानके समान ही कठिन है। सर्वत्र भगवद्बुद्धि होना यह सरल काम नहीं है। बिना हड्डीके जीभको हिला डालना दूसरी बात है और हृदय-मन्थन दूसरी वस्तु है। आगेका श्लोक कहता है कि जब इस प्रकारसे भगवत्साक्षात्कार जीवको हो, तो ही उसे भक्ति मिलती है, वैराग्य उत्पन्न होता है और भगवत्-तत्त्वज्ञान होता है। फिर तो वह पराशान्ति को प्राप्त कर लेता है, मुक्त हो जाता है। इन दोनों श्लोकोंको इकट्ठा करके इसमे से एक तत्त्व शोधनेका प्रयास किया जाय।

आप नहीं जानते। ज्ञानकी थोड़ीसी भूमिकाएँ हैं। ज्ञान सहसा उत्पन्न नहीं हो जाता। जैसे लौकिक अक्षरज्ञान प्राप्त करनेके लिये पहली, दूसरी, तीसरी, कक्षाये—श्रेणियाँ होती हैं, और उन श्रेणियोंके अनुसार चलनेसे ही ज्ञान मिल सकता है, वैसे ही ज्ञानकी जो ये श्रेणियाँ, सीढियाँ तैयार कीगयी हैं उनके ऊपर धीरे-धीरे पग रखकर चलनेवाला मुमुक्षु जीव अन्तमें परमपद प्राप्त करता है। वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात् प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिः चतुर्थी स्यात् ततो संसक्तिनामिका।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगास्मृता॥

शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा, ये सात ज्ञानकी भूमिकाएँ कहलाती हैं, सबसे पहले प्रथम भूमिका शुभेच्छा है, शुभकी इच्छा शुभेच्छा कहलाती है। यह भी आपको जानना चाहिये कि आपके साथ किसी मनुष्यने झगड़ा किया। उसने आपका अपमान किया। आपके मनमें उसके प्रति क्रोध या ग्लानि नहीं आना चाहिये। ऐसा असभ्य व्यवहार करनेवाला अज्ञानी है। अज्ञानीके ऊपर क्रोध नहीं किया जाता, दया की जाती है। आप परमेश्वरके आगे उसके लिये प्रार्थना करें कि प्रभु उसे सद्बुद्धि दे, उसे सन्मार्गमें ले जा, वह असभ्य व्यवहारसे अलग हो जाय। इस प्रकारसे जो अपना अहित करनेवालेके लिये भी इच्छा, उसे शुभ इच्छा कहते हैं। कभी किसीको आपसे अधिक ज्ञानमें, धनमें, पुत्रपौत्रादिजनमें, प्रसिद्धिमें, ऐश्वर्यमें, मान-प्रतिष्ठामें बढ़ा हुआ देखकर आपके मनमें विक्षेप नहीं होना चाहिये। विक्षेपके कारण उसके लिये किसी भी बुरी इच्छाके बदले आप ऐसी इच्छा करें कि परमात्माकी कृपासे जो सुखमें रह सकें, वह भले रहें। दूसरी दुःखी भाई-बहनें भी उसी प्रकार सुखी हों, प्रतिष्ठा प्राप्त करें, सदाचारका पालन करें और प्रभुकी ओर जावें। ऐसी इच्छा शुभेच्छा कहलाती है। आप यदि ऐसा मानेंगे कि मैं ही सर्वोत्तम, मेरा ही धर्म सर्वोत्तम, मैं कहूँ वह अच्छा और सत्य, तब आपके हृदयमें द्वेष हुए बिना नहीं रहेगा क्योंकि जब इच्छाका पराजय होता है, रुकावट होती है, तब मनुष्य क्रोधी बनता है। गीतामें जो कहा है कि 'काम एष क्रोध एष" इसका यही तात्पर्य है। इच्छाकी पूर्तिमें जब कोई विघ्न आता है तब इच्छा ही क्रोधके रूपमें बदल जाती है। उसके विघातसे क्रोध अवश्य उत्पन्न होता है। इसलिये आपको "सर्वत्र समदर्शनः" प्रत्येकके प्रति समान भाव रखना चाहिए। कोई मनुष्य जन्मसे ही नीच या दुष्ट नहीं होता। उसका स्वभाव दुष्टता या नीचताका पडता है तब दुष्ट या नीच बनता है। कोई धर्म नीच नहीं होता क्योंकि कोई धर्म मनुष्यको पाप करनेका उपदेश नहीं करता। यह दूसरी बात है कि

अमुक वस्तुको आप धर्म मानते हो उसे वह अधर्म मानता हो। यह तो देश, काल, बुद्धि, उपयोग, आवश्यकताके ऊपर अवलम्बित है। आप मछली खानेमे पाप मानते हैं अतः आप बंगालके लोगोंको भी मत्स्याहारसे अलग करनेकी इच्छा रखें और वह मत्स्याहार न छोड़े तो आप उसे नीच, या म्लेच्छ या अधम नहीं कह सकते। उसकी परिस्थिति ही ऐसी है, देश ही ऐसा है, उसकी आवश्यकता ही ऐसी है कि जो उसे मत्स्याहारकी ओर प्रेरित करती है। आप कन्दमूल खाते हैं। एकादशीके दिन भी आप फलाहार करते हैं। जैन-धर्म कन्दमूलको अखाद्य मानता है। आपकी दृष्टिसे वह धर्म और उसकी दृष्टिसे वह अधर्म। लड़नेको स्थान कहाँ है? आप वैदिकधर्म पालते हैं, जैन जैनधर्मके आचार पालते हैं। पृथक्-पृथक् भूमिका है। युद्धके लिए अवकाश नहीं है। आप किसी धर्मको निकृष्ट मत गिने, दोष और निर्बलताएँ आपके धर्ममें भी होंगी, दूसरे धर्मोंमें भी होंगी। तब दूसरेको ही दोष देनेका क्या कारण? इस रीतिसे तत्त्व-विचारकर सबके लिये कल्याणकी इच्छा रखना यह शुभ इच्छा कहलाती है। मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा, किसीको नहीं ठगूँगा, वञ्चना नहीं करूँगा, अनीतिके मार्गसे नहीं जाऊँगा, दम्भ नहीं रखूँगा, पाखण्ड नहीं पालूँगा, ऐसी इच्छा शुभ इच्छा कहलाती है। ऐसी इच्छाएँ जब स्वाभाविक बन जाएँ तब एक दूसरी इच्छा करना है। वह यह—

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योहं शास्त्रसज्जनैः।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥
(वाराहोपनिषद्)

शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासरूपिणी।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता मुमुक्षुत्वप्रदायिनी॥
(अन्नपूर्णोपनिषद्)।

जो भेदवर्धक न हो ऐसे शास्त्रोंका श्रवण, मनन, निदिध्यासन, सत्पुरुषोंका सङ्ग, वैराग्य अर्थात् सांसारिक वस्तु और व्यवहारमें अरुचि,

इन सबका निरन्तर संवर्धन यह पहली भूमिका अर्थात् शुभेच्छा नामक भूमिका है। शास्त्र मनुष्यजातिके मित्र हैं। ये हाथ पकड़कर बुरे मार्ग से बचा लेते हैं। परन्तु शास्त्र अनेक हैं। अनेक विचार रखने वालोंके द्वारा लिखे गये हैं। आपको तो उन शास्त्रोंका ही स्वीकार करना है जो आपके अज्ञान को, शङ्काको, भ्रमको, निरर्थक रुचियोंको आपके पाससे हटा सकें। जबतक आप सन्देह और रुचि की दासतामें रहेंगे तबतक इस प्रथम भूमिकाके लिए भी अयोग्य ही माने जायँगे। अतः आपको निर्भ्रम बनना है। निर्भ्रम बननेके लिए योग्य शास्त्रोंको ही आप मानें। यही बात सत्पुरुषोंके लिए भी जानिये। आप किसीको असत्पुरुष नहीं समझें पर ठगाना नहीं है। सत् किसे कहेंगे, यह विचार लीजियेगा। बहुत बडा विद्वान् ही वही सत्पुरुष है ऐसा कभी मत मानियेगा। एक मूर्ख भी सच्चरित्र हो तो वह सत् कहलायेगा और तुम्हारे ध्येयमें सहायकका कार्य करेगा। सत्पुरुषका खोजना कठिन काम है। एक मनुष्य अपनेको वेदान्ती, या भक्त, या योगी, या विद्वान् कहला सकता है, किन्तु यदि वह असत्यवादी हो, चोर हो, अनीतिके मार्ग पर जाता हो तो वह सत्पुरुष नहीं है। कालाबाजारी सत्पुरुष नहीं हो सकता। पागड़ी ले-लेकर मकान भाडेसे देनेवाला सत्पुरुष नहीं ही होगा। वह महान् पापी, वह महान् अधर्मी, और महान् दुराचारी है। उसे एक पाई या एक हजार या दस हजार पागड़ी लेनेका क्या अधिकार है? उसका घर है। उसे भाडेसे घर देना है। भाड़ा लेना ही है। फिर पागड़ी किस बात की? वह निर्दय है। उसके हृदयमें यह भाव नहीं आता कि मेरे पास एक चीज पड़ी है उसका उपयोग वह करता नहीं है। दूसरे भाइयोंको उसका उपयोग करना है, उसके बिना दूसरेको असुविधा हो रही है, उस समय उसे दया नहीं आती। वह केवल स्वार्थ देखता है। इसलिये वह सत्पुरुष नहीं है। इस प्रकार खूब विचारकर ही सत्पुरुषका निश्चय करना है। वह महापुरुष आपके हृदयमें रही हुई वासनाओंका नाश करेगा, करायेगा, आपको मोक्षकी ओर खींच ले

जायगा। मोक्षके उपयोगके लिये ही ये शास्त्र, सज्जन, और वैराग्यको प्राप्त करनेकी जो इच्छा वह शुभ इच्छा कहलाती है।

जगत् शुभ और अशुभ पदार्थोंसे भरा है, ऐसा लोग मानते हैं। मैं समझता हूँ कि जगत्में अशुभ कोई पदार्थ नहीं है। अपनी अशुभ इच्छाएँ ही पदार्थको अशुभ बनाती हैं। फिर भी जिसे हम अशुभ मानते हों उसके लिये कभी भी इच्छा न करें। पर उसके लिये द्वेष भी मुमुक्षुसे नहीं किया जा सकता। द्वेषकी वृत्ति ही पिघल जानी चाहिये। महात्मा गाँधीजीने लगभग ५० वर्षोंसे द्वेषवृत्तिका त्याग किया था। कितने लोगोंने उनका तिरस्कार किया पर उनके महान् और गम्भीर हृदयमें उन लोगोंके प्रति द्वेष नहीं हुआ था। अतः मुमुक्षुका धर्मद्वेष नहीं है। यह तो बड़ी पामरता है। द्वेषी मनुष्य सिंह, बाघ, वरं, सर्पसे भी भयानक प्राणी है। इस घातक पशुओंसे तो रक्षाकी जा सकती है पर द्वेषी मनुष्य ऐसा घातक होता है कि उससे बचना बडा कठिन काम है। इसलिये द्वेषादि छोड़कर, हर एक तरफसे उदासीन होकर अपने मार्गसे जानेकी ही इच्छा रखें। कल सोमवार है, परसों दूसरी भूमिकाओं पर विचार करूँगा।

२३-६-'५० को मोम्बासा में दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(२४)

परसों ज्ञानकी भूमिकाओंका आरम्भ किया था। पहली भूमिका समाप्त हो गयी है। अर्थात् केवल मेरे भाषणमें आपके जीवनमें तो अभी इसका प्रारम्भ भी नहीं हुआ।

अब दूसरी भूमिकाका विचार—

सुविचारणा यह दूसरी भूमिका है। पवित्र विचार करना, यह दूसरी भूमिकावालोंके लिये आवश्यक कर्त्तव्य है। ये भूमिकाएँ ज्ञानकी

है, अतः ज्ञानीके लिये ही ये दूसरी भूमिका है ऐसा नहीं मानना चाहिये। अच्छे विचार तो जो करे उसीको लाभ होगा, किसीको हानि होगी ही नहीं। गृहस्थ जो अच्छे विचार करे तो पतित या पापी नहीं हो जायगा, उसका भी कल्याण ही होगा। शुभेच्छाके लिये भी ऐसा ही समझना। शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसा ये तीन भूमिकाएँ मनुष्यमात्रके लिये श्रेयस्कर हैं। गृहस्थ हो या सन्यासी हो, बालक हो या युवा अथवा वृद्ध हो, ये तीन सीढ़ियाँ तो सबके लिये हैं। भारतभूमिकी यही विशेषता है। यहाँ—अर्थात भारतमें अमुक कक्षातक सभी ज्ञानी ही होते हैं। दूसरे देशका ज्ञानी और भारतका गृहस्थ बराबर ही हो सकते हैं। आबूके बाबू गिरनारके सिद्ध इस लोकोक्तिके अनुसार आबूके गृहस्थ और गिरनारके सिद्ध जैसे समान माने जाते हैं, वैसे ही दूसरे देशोंके ज्ञानी और भारतके गृहस्थ समान ही होते हैं, परन्तु इतने ही अंशमें कि दूसरे देशके विरक्तको शुभेच्छामें आरम्भ करना पड़ता है और भारतीय गृहस्थ पहलेसे तीन सीढ़ियोंतक चढ़ चुका होता है। ये तो ज्ञानके सोपान हैं। सोपानपर पैर रखते ही कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। पर, मार्ग यही है। जिसे ज्ञानमार्गमें जाना होगा अथवा भक्तिमार्गमें भी जाना होगा उसको मार्गमें चढ़ने-उतरनेके लिये ये सीढ़ियाँ पार करनी ही होंगी, गृहस्थाश्रममें से प्रस्थान होगा।

मनुने गृहस्थाश्रमका खूब ही गुणगान किया है। सभी आश्रमोंसे गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ माना गया है। इसका एक ही मुख्य कारण है। गृहस्थाश्रममें ही शेष तीन आश्रम—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ, संन्यास—रक्षण पाते हैं। प्राचीन इतिहाससे पता लगता है कि, पुराने समयमें ऋषियोंके कुलमें दस-दस हजार आर्य बालक अध्ययनके लिये, सदाचार सीखनेके लिये, ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा लेकर वेदाध्ययनके लिये आते, रहते, और विद्या तथा भिक्षा प्राप्त करते। ऋषि लोग कृषक तो थे नहीं, अन्नका व्यापार भी नहीं करते थे, घर नहीं था, घरमें वैभव भी नहीं था

शौवस्तिकत्वं विभवो न येषां व्रजन्ति तेषां दयसे न कस्मात्

कहकर भट्टिकविने ऋषियोंके अपरिग्रह व्रतका यथार्थ चित्रण किया है। इन निरन्न और निर्धन आश्रमोंमें सहस्रों बालकोंके लिये भिक्षा आकाशसे नहीं पड़ती थी, पाताल फोडकर भी नहीं लायी जाती थी। यह सब भार गृहस्थोंके ऊपर ही था। भिक्षापात्र लेकर "भवति भिक्षा देहि" कहकर ब्रह्मचारी जब गृहस्थोंके घर पहुँचते तब गृहस्थ-घरकी माताएँ आनन्दमग्न हो जातीं और भिक्षापात्रको भिक्षासे भर देतीं। इस भिक्षा-दानमे प्रेम था, उल्लास था, दयार्द्रहृदय था, और थी एक दूसरी ममता—सभी के बालक गुरुकुलोंमें—ऋषिकुलोंमें पढते थे, सभी ब्रह्मचर्य व्रत लेकर ही वेदाध्ययन करते थे, माता-पिताको ऐसा लगता कि जैसे किसीके ये बालक मेरे घर भिक्षा लेने आये हैं, हमारे बालक भी इसी भाँति किसीके घर भिक्षाके लिये फिरते होंगे। कितना सद्भाव! कितना सात्विक विचार! यह भिक्षादान एक-दो दिनका कार्य नहीं था। यह तो था समस्त जीवनका कार्य, वंशपरम्पराका कार्य। २५, ३६, ४०, ६० वर्षों तक ये ब्रह्मचारी गुरुकुलमे रहते और उनकी भिक्षा गृहस्थाश्रमी उसी प्रेमसे पूरी करते। यह अन्नदान, यह विद्यादान, छोटी सी वस्तु नहीं थी। यह तो जो दे वही जाने। दान लेनेवालेको, दान देनेवालेके भाव और श्रमका मूल्य कदाचित् न भी हो। दाता किस प्रकार अपने बाल बच्चोंके भागमें से बचा-बचा कर दूसरोंको दान देता है। यह जाननेके लिए बहुत पवित्र हृदय चाहिये। जिसका दान लेना रोजगार ही हो गया है उसका हृदय जड बन जाता है। निर्दय हो जाता है, स्वार्थी होता है, और क्रूर हो जाता है। वह तो पैसा ही गिनता है। पैसा देनेवालेके हृदयके स्वर सुनाते हुए झंकार भरे तार, उसकी दृष्टिमें कोई महत्त्व नही रखते। पर सभी ऐसे ही नहीं होते। मनुने इस आश्रमका मूल्याङ्कन किया। फिर तो गृहस्थाश्रमके ऊपर ही वानप्रस्थका भी थोडा-बहुत भार पडा, और चतुर्थ आश्रम—संन्यास आमश्रका सम्पूर्ण भार आ पड़ा। भारतवर्षके लाखों संन्यासी, साधु जीवन-निर्वाह करते हैं, बंगला बाधते हैं, विविध प्रकारके भोजनका आस्वादन करते हैं, अच्छे अच्छे वस्त्र

पहनते हैं, ट्रेनमें फर्स्ट और सेकण्ड क्लासमें यात्रा करते हैं, एरोप्लेनकी छोटी-बड़ी मुसाफिरी करते हैं, यह किसके प्रतापसे ? केवल गृहस्थाश्रमके ही प्रतापसे। तब क्यों न यह आश्रम पवित्र और श्रेष्ठ गिना जाय ? क्यों न यह आश्रम भगवद्धाम माना जाय ? क्यों न यह आश्रम भारतवर्षके मुकुटके हीरेके समान माना जाय ? भगवान् आपका कल्याण करें। आप इसी आश्रमके अध्यक्ष हैं। स्वप्नमें राज्यदान करके अपने बालक और पत्नीको बेचकर चाण्डालका दास बनकर जीनेवाला हरिश्चन्द्र गृहस्थ था। जङ्घेमें से मास काटकर देनेवाला शिबि गृहस्थ था, परोपकारके लिए युद्ध कर, शत्रुओंको हराकर आर्यजातिकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करने वाले राम और कृष्ण गृहस्थ थे। सभी आदर्शोंकी रक्षाका इतिहास रचने वाले गृहस्थ ही थे। वेदोंको कण्ठस्थ कर, वैदिक अक्षरोंको अक्षरता देनेवाले ब्राह्मण गृहस्थ ही थे। विरक्तपरम्परा तो कलकी ही बात है। इसीलिये मैंने कहा कि दूसरे देशके ज्ञानी और भारतके गृहस्थ अमुक दृष्टिसे समान ही गिने जाते हैं। ज्ञानकी पहली तीन भूमिकाओंको पार करनेका ही यह परिणाम है।

अब सुविचारणा नामकी दूसरी भूमिकाकी व्याख्याकी ओर चलें। शुभ इच्छाकी विस्तृत व्याख्याके पश्चात् सुविचारणाकी अधिक व्याख्याकी आवश्यकता नहीं ही रहती। फिर भी दिग्दर्शन कराना आवश्यक है ही। सुविचारणा अर्थात् सुन्दर प्रशस्त विचार। ऐसा विचार जो मनुष्यको आगे ले जाय। ऐसा विचार जो, अदृश्य है फिर भी दृश्यके समान भूमिकामें पहुँचा दे। ऐसा विचार, जिसका सौरभ अपनेको भी और दूसरे सबको भी नया जीवन-दान दे।

क्रुद्धः पापं न कुर्यात् कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि।
क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥
वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित् ॥

यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णं स वै पुरुष उच्यते ॥

इस विचारका एक मार्ग है। क्रोध मनुष्यको अन्धा बनाता है। अन्धा तो मार्ग पर जानेके लिये किसीकी सम्मति भी लेता है, किसीसे रास्ता भी पूछता है। किन्तु क्रोधान्ध मनुष्य सब भूलता है। न करने योग्य काम कर डालता है। माता, पिता, बडा भाई और ऐसे गुरुजनों को भी मार सकता है। सन्तजनोंको भी न बोलने योग्य कठोर शब्द बोल सकता है। उसके लिये कोई अकर्तव्य नहीं रहता और कुछ अवाच्य नहीं रहता। वह मनुष्य मिटकर दैत्य–दानव बनता है अतः उत्पन्न हुए क्रोधको जो दूसरी रीति से नहीं, पर केवल क्षमासे ही दूर कर डालता है वही यथार्थ मनुष्य कहलाता है। इस प्रकारसे विचार कर, अपने शरीर में रहे हुए अपने महान् शत्रुका जो वध करता है, पराभव करता है, नाश करता है वह ज्ञानमार्गकी द्वितीय भूमिकामें विचरण करने वाला भाग्यशाली पुरुष है।

नाग्निः नान्यानि शस्त्राणि न नः पाशा भयावहाः।
घोराः स्वार्थप्रयुक्तास्तु ज्ञातयो नो भयावहाः ॥

'अग्नि, दूसरे शास्त्र, पाश ये सब मेरे लिये उतने भयंकर नहीं हैं, जितने कि स्वार्थसे परिपूर्ण मेरे जातिबन्धु भयकर हैं।" इस प्रकार स्वार्थियोंमें भयंकरताका विचार, सुविचारणा कहलाती है।

प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसन्निधौ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानपेक्षितुम् ॥

"मैंने जो प्रतिज्ञा की है उसकी उपेक्षा मै कैसे कर सकता हूँ ?" इस तरह वचनके लिये कही हुई वाणीके लिये, सत्यके लिये आदरपूर्ण विचार करना सुविचार कहलाता है।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद् भाति यत्रेदं सोहमस्मि निरञ्जनः ॥

"ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता" यह त्रितय = त्रिपुटी सत्य नहीं है, कल्पित है, और जिसमें यह त्रिपुटी अज्ञानसे ही भासित होती है वह मैं निरञ्जन हूँ।"

द्वैतमूलमहोदुःखं नान्यत् तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यं चैतन्मृषा सर्वमेकोहं चिद्रसोमलः॥

सभी दुःख द्वैतभावमें से ही जन्म लेते हैं। उसकी दूसरी ओषधि नहीं है, सिवा इसके कि "यह सम्पूर्ण दृश्य, सम्पूर्ण प्रपञ्च, मिथ्या है, ऐसा ज्ञान होना" और साथमें यह भी ज्ञान होना चाहिये कि "मैं ज्ञानस्वरूप, निर्मल, एक, अखण्ड हूँ।"

को सौ कालः वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात्॥

"ऐसा कौन-सा काल है और कौन-सी अवस्था है कि जिसमें मनुष्यको विघ्न, बाधा न पहुँचा सकें? हरएक समयमें हरएक अवस्थामें मनुष्यको कुछ-न-कुछ बाधाएँ तो होती ही हैं, इसीलिये उन विघ्नोंकी चिन्ता किये बिना ही जो मनुष्य अपनी उद्देश्यपूर्तिमें प्रयत्न करता रहता है और जिस समय जैसा बर्ताव करना हो उस समय वैसे ही कर लेता है वही सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसे-ऐसे विचार सुविचारणा कहे जाते हैं। ऊपर बताये हुए विचारोंके अतिरिक्त एक दूसरा विचार है जो इस भूमिकाको बल प्रदान करता है।

शास्त्रसज्जनसम्पर्कै वैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

शास्त्र और सज्जनके संपर्कसे, वैराग्यके अभ्याससे वह शुभेच्छा प्राप्त होती है। इसके पश्चात् जो सदाचार पालन करनेके लिये एकनिष्ठा जागरित होती है, वह भी सुविचारणा कही जाती है। सदाचार अर्थात् पवित्र आचरण, पवित्र ही आचरण करनेका जो विचार और उस विचारके पश्चात् उसे करनेमे प्रवृत्ति, ये दोनों दूसरी भूमिकाके चिह्न हैं। इस भूमिकामे विचरणाकरनेवाला पुरुष मद्य-मास सेवन नहीं कर सकता,

असत्य नहीं बोल सकता, कालाबाजार नहीं कर सकता और मकान-भाड़ेसे देनेमे दस, बीस हजारकी पगडी नहीं ले सकता। यह तो पामर नरका काम है, पाखण्डियोंका धंधा है। मूर्ख कहते हैं कि इस पगड़ीसे मैं दानधर्मका काम अच्छी रीतिसे कर सकूँगा। पर यही तो मूर्खता है। चोरी करके दान करनेके लिये नहीं है शास्त्रकी आज्ञा और न है लौकिकमर्यादा। धर्म करनेके लिये अधर्म नहीं किया जा सकता। अधर्मका पैसा धर्मकार्यमें खर्च ही नहीं हो सकता। ऐसे हरामका पैसा पैदा करनेवालेको तो उस पैसेके साथ आग सुलगाकर जलती चितामें, प्रायश्चित्तके लिये बैठ जाना चाहिये "आ तो मारग छे शूरानो नहि कायरनुं काम रे।"

११-७-५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

भागवत-कथा

(२५)

ज्ञानभूमिका अभी चल रही है। कल दूसरी भूमिकाका विचार पूरा हुआ था। इस प्रकार आप दो भूमिकाएँ समझ गये। एकबार इन दोनोंके नामका स्मरण करे, नहीं तो भूल जायँगे। शुभेच्छा प्रथम भूमिका, विचारणा अथवा सुविचारणा दूसरी भूमिका। अब तीसरी भूमिकाका विचार करे। परसों मुझे यह व्याख्यानमाला समाप्त करनी है। कितने ही भाइयोंको अभी तो अनेक विषयों पर सुनना है। व्याख्यानके बीचमें कोई विषय छोडता गया हूँ और कहता गया हूँ कि यह विषय फिर कभी सुनाऊँगा। उस मेरी प्रतिज्ञाका स्मरण भी मुझे कराया गया है। मै यदि अभी सभी विषय नहीं कह सकूँगा तो फिर जब अवसर मिलेगा तब कहूँगा। मुझसे बनेगा तो संक्षेपमें सब पूरा करूँगा। पर इतना संक्षिप्त तो नहीं ही करूँगा कि जिसमेंसे जिज्ञासुओंको कुछ मिले ही नहीं।

तीसरी भूमिकाका नाम है तनुमानसा। तनु अर्थात् लघु, मानस-मन। अर्थात् जिस भूमिकामें मनको कम कर दिया जाय वह तनुमानसा कहलाती

है। मनको लघु बनानेका अर्थ बुरी रीतिसे नहीं करना है। मनुष्यका मन चञ्चल तो होता ही है, और "मनोरथानामगतिर्न विद्यते" कालिदासकी इस यथार्थ उक्तिके अनुसार मन अनेक कल्पनाएँ करता ही रहता है। इसकी कल्पनाका पार नहीं है। इसका धंधा ही यही है। यदि इसको इस प्रकारसे भटकने दिया जाय तो इसके हाथमें जो बहुमूल्य मानव जीवन आ पडा है वह व्यर्थ हो जाय और जीवनकालकी कोई सफलता सिद्ध न की जा सके। इससे अनुभवी लोगोंने मनकी गति रोकनेकी आज्ञा की है। इसकी गति अर्थात् वृत्ति जितनी छोटी हो उतनी ही अधिक इसमें तेजस्विता आती है। और बहु-विध-वृत्ति दर्पणके ऊपर पड़ी धूलिके समान है। धूलि साफ कर डालनेसे जैसे दर्पणकी प्रतिबिम्बग्राहक शक्ति बढती है, वैसे ही मनकी अनेक प्रकारकी वृत्तियोंको दबा देनेसे, मनको इस प्रकारका बनाना कि उसमें व्यर्थकी वृत्तियाँ उत्पन्न ही न हों, ऐसा करनेसे मन सतेज बनता है, उसकी शक्ति बढती है, वह स्थिर बनता है। वह परमात्माके साक्षात्कारके लिये योग्य बनता है। इसलिये तनुमानसाका यह अर्थ समझना चाहिए कि "मनकी वृत्तियोको बहिर्मुख होनेसे रोककर, अन्तर्मुख करके, मनको शान्त किया जाय।" इस भूमिकाका लक्षण उपनिषदोंमें इस प्रकार वर्णन किया गया है—

विचारणाशुभेच्छाभ्याम् इन्द्रियार्थेषु रक्तता।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसा॥

शुभेच्छा द्वारा एव सुविचार द्वारा जहाँ इन्द्रियोंके विषयोंके प्रति राग कम हो जाय तब यह तनुमानसा भूमिका प्राप्त होती है। जहाँ तक मन विषयोंको ही खोजता रहेगा वहाँ तक किसी भी ज्ञानभूमिकामें वह विहार नहीं कर सकता। आज इसे एक वस्तु चाहिए तो कल दूसरी और तीसरी, चौथी और पाँचवीं वस्तुकी खोज तो चलती ही रहेगी। इस प्रकार मन सदा कंगाल रहता है, भटकता रहता है। देवदर्शनके लिये भटकना भी त्याज्य ही है। मैंने तो आपसे कितने ही बार कहा है कि ऐसे मन्दिर

दर्शनके लिये निरर्थक वस्तु हैं। इनमेंसे रागद्वेष, झगडा-लडाई जन्म लेते हैं। मनुष्य, मनुष्यका प्रेम, अनन्यता और सभी सद्भाव मन्दिरके टंटेमें स्वाहा हो जाते हैं। इसलिये हरएकके घरमें कोनेमें, या एक आलेमें अपने उपास्य देवका मन्दिर होना चाहिये। उसीमें उसकी ही पूजा करें, उसीकी सेवा करे। उसी देवके समक्ष हृदयके समस्त भाव आप प्रकट करें। यदि पूजामें भक्ति न हो, श्रद्धा न हो, प्रेम भी न हो, मन तो कहीं अन्यत्र हो और पूजाके लिये हाथ चल रहे हों, यह पूजा पूजा ही नहीं है। इस प्रकारके पूजित देवमें देवत्व नहीं होता। अतः घरमें देव हो, घरमें ही उसकी पूजा हो, घरमें ही उसका रागभोग हो। इधर-उधर भटकनेकी प्रवृत्ति भी ज्ञानकी या भक्तिकी भूमिकामें प्रवेश चाहनेवालोंको बन्द करना ही चाहिये। शास्त्र कहते हैं:—

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥

लौकिक व्यवहारका त्याग करें, देहाध्यासका त्याग करें, शास्त्रके भयका भी त्याग करें। जबतक आपको यह भय रहेगा कि मन्दिरमें नहीं जाऊँगा तो लोग आपको नास्तिक कहेंगे या आलसी कहेंगे, तबतक आप अपनेलिये कुछ कर नहीं सकेंगे। शास्त्रकी आज्ञाएँ तो अनेक प्रकारकी हैं। निरर्थक आज्ञाओं में तो आपकी रुचि है, उन्हें आप पालते हैं, पर जो लाभदायक आज्ञा होती है उसकी ओर आप थोड़ा भी ध्यान नहीं देते। विधिनिषेधकी ओर बहुत ध्यान न देकर, समयका अनुसरण करें। समयके अनुसार उचित व्यवहार करना सीखें और आपको भूत, प्रेत, बलि या देव, तुलसी, पीपल, बड, नीम आदिकी पूजा करनेका जो अभ्यास हुआ है, आदत पडी है, उससे दूर रहें। उससे कुछ लाभ नहीं होता। केवल भ्रमका पोषण होता है। इस प्रकारसे जो करेगा वह तृतीय भूमिकाका अधिकारी बनेगा।

चौथी भूमिका सत्त्वापत्तिः। सत्त्व अर्थात् मानसिक बल, आपत्ति अर्थात् आगमन, आना, प्राप्ति। चाहे जैसे संकटमें भी जब मन चञ्चल

और व्याकुल न बने तब सत्त्वापत्ति कहलाती है। चाहे जितनी लुभानेवाली सुन्दर वस्तु आपके आगे खड़ी हो, अनायास ही वह मिलती हो, और उससे आपकी हानि होती हो तो उसके लिये थोड़ा भी मनमें लोभका न आना सत्त्वापत्ति का लक्षण है।

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥

जब तीन भूमिकाओंके अभ्यासने आपकी स्पृहा जगत्के विषयोंमेंसे हट गयी होगी तब आप ही कहेंगे कि यह धन, ये मित्र, ये विषय, ये शास्त्र और यह विज्ञान मेरे किस कामके? जैसे तृप्त मनुष्यको सुन्दरसे सुन्दर और स्वादिष्टसे स्वादिष्ट भोजन ललचा नहीं सकता, इसीप्रकार गुरुके उपदेशानुसार तीन भूमिकाओंमें रह कर मनुष्य वैराग्यको सीखता है तब उसे कोई भी वस्तु अपनी ओर खींच नहीं सकती। वह तो उस समय तृप्त हुआ रहता है। उपनिषद् भी ऐसा ही कहती है—

भूमिका त्रितयाभ्यासात् चित्ते तु विरतेर्वशात्।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥

महोपनिषद् कहती है—

शान्तसन्देहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम्।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते॥

जब मनमेंसे प्रत्येक शङ्का सन्देह, दुष्टता, कौतुक, भ्रान्ति आदि निकल जाते हैं तब मन परिपूर्ण कहलाता है। और पूर्णचन्द्रमाकी भाँति शोभित होता है। यही सत्त्वापत्ति है। इसी उपनिषद् में आगे बहुत ही आकर्षक ढंगसे मनका वर्णन हुआ है। वहाँ कहा गया है कि मन मनुष्यका उत्तम भृत्य है, नौकर है। क्योंकि जैसा उसे कहा जाता है उसीके अनुसार वह करता है। वह उत्तम मन्त्री है क्योंकि सब कामों में वह सम्मति देता है। वह इन्द्रियोंके आक्रमणके सामने युद्ध करनेसे सामन्त है। वह जीवका लालन करता है इसलिये वह ललना भी है। मन

जीवका पालन करता है इसलिये वह पिता भी है। उत्तम मार्गमें जीवको ले जाता है इसलिये वह मित्र भी है। विशेष तो क्या, यह मनोरूप पिता अपने प्रकाशसे, अपनी बुद्धिसे, अपने अनुभवसे प्राप्त की हुई सिद्धि को, अपना नाश करके भी जीवको देता है। यही सब सत्त्वापत्ति कहलाता है। मनको पवित्र करे, मानसिक बल अपने आप आवेगा। अब हम पॉंचवीं भूमिका देखें।

पॉंचवीं भूमिका का नाम है—असंसक्ति अर्थात् असंगत्व। उपर्युक्त चारों भूमिकाओंके सेवन करनेसे मनमें वैराग्य उत्पन्न होता है। मन इसके द्वारा विषयोंसे दूर होता है। इससे मानसिक बल बढ़ता है। उसके पश्चात् इस पॉंचवीं भूमिकामे प्रवेश करनेकी योग्यता प्राप्त होती है।

दशाचतुष्टयाभ्यासात् असंसर्गफला तु या।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्तासंसक्तिनामिका॥

पूर्वोक्त चारों भूमिकाएँ जब दृढ होती हैं तब मनमें अपूर्व दृढता उत्पन्न होती है। वेदान्तमे एक बाधितानुवृत्ति मानी हुई वस्तु है। किसी वस्तुका किसीको अध्यास हुआ होता है और ज्ञानसे उसकी निवृत्ति हो जाती है तो भी कभी कभी उस वस्तुकी स्मृति हो जाती है, और उसके प्रभावसे जीव फिर पीडित होता है। जैसेकि जिस घरमे, जिस स्थल मे मनुष्यने रज्जुसर्प देखा था, वह मिथ्या सर्प प्रकाश की सहायतासे चला गया था, उसका भ्रम सर्वथा नष्ट हो चुका था, पर वह मनुष्य जब फिर से उस घरमें अंधेरेमे जाता है तब उसे उस मिथ्या सर्पकी स्मृति होती है और पूर्वानुभूत भयका एक हलका संचार उसके मनमे हो जाता है। इसीका नाम है बाधितानुवृत्ति। बाधित वस्तुकी—नष्ट हुई वस्तु की फिर से अनुवृत्ति—संस्काररूपसे आगमन इसे बाधितानुवृत्ति कहते हैं। पॉंचवीं भूमिकामे प्रवेश कर लेने पर उसे बाधितानुवृत्ति भी नहीं होती। इसके लिये ही उपर्युक्त श्रुति मे "रूढसत्वचमत्कारा" कहा गया है। नित्यके व्यवहारमें आनेवाली वस्तुओंमें भी उसे आसक्ति नहीं होती।

"यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत्" कोई वस्तु आवे या जाय, जन्म ले या मरे, उसके साथ उसे कुछ लेना देना नहीं होता। अभ्यासी जब इस भूमिका में दृढ़ता प्राप्त कर लेता है, तब छठी भूमिका में वह प्रवेश करता है।

छठी भूमिकाका नाम है पदार्थाभावना। ऊपरकी पाँचों भूमिकाओंमें जब वह अपने अभ्यासको पूरा कर लेता है, तब पाचवीं भूमिका इतनी दृढ हो जाती है कि उसे किसी भी पदार्थकी स्मृति ही नहीं होती। उसकी दृष्टिमें कोई पदार्थ ही नहीं होता। शान्ति पर्वमें कहा है कि "मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति" पूर्वानुभूति वस्तुका स्मरण कराने वाला तो मन ही होता है। मन तो रहा ही नहीं अर्थात् बाह्य वासनायुक्त नहीं रहा।

मनसा मनसिच्छिन्ने निरहङ्कारतां गते।
भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवल.॥

ब्रह्माकार वृत्तिवाले मनके द्वारा सासारिक मनका नाश होने पर अहंकार जब चला गया, ब्रह्मभावके सिवा कोई भाव नहीं रहा, तब केवल आत्मस्वरुप विलास करता है। छठी भूमिकामें मनके सभी उपद्रव शान्त होते हैं। किसी भी पदार्थकी भावना न होनेसे यह भूमिका पदार्थाभावना कहलाती है। कहीं-कहीं पदार्थभावना भी पाठ है। इस पक्षमें इसका अर्थ इस श्रुतिके अनुसार समझें—

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यान्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका॥

पाँचों भूमिकाओंका अभ्यास पूरा हो जानेसे जीव आत्माराम बनता है, स्वरूपमें ही रमण करता है, तब वह अन्तर या बाह्य किसी पदार्थका स्मरण नहीं करता अतः सभी पदार्थोंके नाम, रूप, गुण, आकृति

आदिको सर्वथा भूल जाता है। दूसरा कोई मनुष्य उन पदार्थोंका नाम उसके आगे बोले तो भी उनकी स्मृति उसे नहीं होती। बहुत प्रयत्नके पश्चात् उस पदार्थका स्मरण, ज्ञान होता है। इसलिए यह छठी भूमिका पदार्थभावना कहलाती है।

अन्तिम भूमिका अर्थात् सातवीं भूमिकाका नाम तुर्यगा है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति देहकी ये तीन अवस्थाएँ हैं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओंसे पर है। इसलिए वह तुर्य-चतुर्थ कहलाता है। जो तीनोंसे पर गया हो वह तुर्यग कहलाता है। तुर्यगा स्त्रीलिङ्ग है। उपनिषद् कहती है—

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भनात्।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

ऊपर कही गयी छहों भूमिकाओंका चिरकाल तक अभ्यास करनेसे एवं सर्व प्रकारके भेदोंका नाश होनेसे जब जीव स्वरूपमें रहना सीख लेता है और स्वरूपावस्थाको प्राप्त करता है, तब वह तुर्यगा भूमिका कही जाती है। यह जीवन्मुक्तकी भूमिका है। "एषाजीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति गीयते"। जीवन्मुक्त जब अन्तिम शरीर छोड़ता है और विदेह मुक्त बनता है, कैवल्य प्राप्त करता है तब यह तुरियातीत शब्दसे लोकमे व्यवहृत होता है। इसी अन्तिम अवस्थामे आकर जीवन्मुक्त बोल उठता है—

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेद्य।
" " स्वस्याज्ञानं पलायितुं क्वापि॥
" " कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्।
" " प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम्॥
" " तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
" " धन्यो धन्य पुनः पुनर्धन्यः॥

जीवन्मुक्त आत्मा कृतार्थ होता है और अन्तिम वार स्मरण करता है कि—

अहो पुण्यमहोपुण्यं फलितं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥

फिर तो सब भूलता है। आत्माराम बनकर संसारमें अपने दिन अज्ञात दशामे पूरेकर ब्रह्मत्वको प्राप्त होता है।

भागवतके इस श्लोकका यही रहस्य है। इस रहस्यको आप समझें और कल्याणके पथ पर चलें यह मेरी हार्दिक इच्छा है। जयगुरु देव।

१२-७-५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

पञ्चीकरण

(२६)

पञ्चीकरण समझानेके लिए मुझसे कहा गया है। तब आज इसी विषयका विवेचन करूंगा। पहले पञ्चीकरण शब्दका अर्थ समझें। जो पाँच न हो उसे पाँच बना देनेका नाम पञ्चीकरण है। पञ्चभूतोंके पाँच तत्त्व हैं। जिन्हें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश कहते हैं। सृष्टि जिस समय नहीं होती, प्रलयकी अवस्था होती है, उस समय ये पाँचों तत्त्व पृथक्-पृथक् रहते हैं। जब ईश्वरकी इच्छा सृष्टि करनेकी हो जाती है तब ये अलग-अलग रहे हुए पञ्चतत्त्व अमुक प्रकारसे इकट्ठे होते हैं तब वे पाँच-पाँच बनते हैं। इससे इसका नाम पञ्चीकरण है। किस क्रमसे ये तत्त्व एकत्थ होते हैं यह तो आगे चलकर आप जानेंगे।

यद्यपि वेदान्तके मतसे जगत् मिथ्या है। जो वस्तु मिथ्या हो अर्थात् हो नहीं, उसको बनानेकी चर्चासे कोई सम्बन्ध नहीं होता। फिर भी जगत्की उत्पत्तिकी चर्चा वेदान्तने की है। जगत्को मिथ्या होनेकी घोषणा सबको लाभदायक नहीं है। इसलिए, सबके लिए वह घोषणा नहीं है। क, च, ट, त, प ये वर्ण अथवा तो राम, कृष्ण आदि शब्द और शब्दोंकी आकृतियाँ यद्यपि मिथ्या ही हैं, पर नौसिखुवाके लिये तो

वे आवश्यक ही हैं। ज्ञानीके लिये भी वे आवश्यक हैं। यदि प्रोफेसर अक्षरोंकी आकृतिको मिथ्या या अशुद्ध मानकर उनका उपयोग न करे तो जिस पुस्तकमेंसे लडकोको पढाना है, उन्हे वह किस प्रकार बाँचेगा? नहीं बाँचे तो सिखायेगा क्या? अतः जिस प्रकार उन मिथ्या अक्षरोंके बिना किसी विद्वान्का काम नहीं चलता, उसी प्रकार इस मिथ्या जगत्के बिना भी किसीका निर्वाह नहीं होता। प्यास लगेगी, गला, सूखेगा। मौतका घण्टा बजेगा। झूठा हो या सच्चा पर यह जल ही उसका प्राण बचायेगा। इसलिये जगत्का मिथ्यात्व केवल मुमुक्षुके लिए ही है, दूसरोके लिए नही। अन्धेको कह दिया जाय कि अक्षरोंकी आकृतियाँ गलत हैं, तो कोई क्षति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके आँख नहीं है, इससे अक्षरके साथ उसका संबंध नहीं है। वह तो सुन-सुनकर भी सीखेगा और पढ़ेगा। ऐसी योग्यता न होने पर उन लोगोंके लिये जो लिपि तैयारकी गई है, उसका उपयोग करेंगे ओर मिथ्यामें से ही सत्य प्राप्त करेंगे। जो मुमुक्षु होंगे, ज्ञानी होंगे, जगत्-त्यागी होंगे उनके लिये जगत् मिथ्या है। पर जिनको जगत् दिखायी देता है, जिसे मालूम होता है कि जगत् उत्पन्न हुआ है उसके लिये वेदान्तको कुछ उत्तर तो देना चाहिये। उसकी आकाङ्क्षाकी समाप्ति तो होनी ही चाहिये। दर्शनशास्त्रकी यही परिपूर्णता है कि सब प्रकारसे वह किसीकी भी जिज्ञासा को सतुष्ट करता है।

वेदान्त मानता है कि यह जगत् ब्रह्मका विवर्त है। विवर्त और परिणाम मै समझा चुका हूँ। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "तस्मात् वा एतस्मात् आत्मनः आकाशः संभूतः" "आकाशाद् वायु." "स तपोतप्यत" "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादि श्रुतियाँ जगत्की उत्पत्ति का वर्णन करती हैं। रज्जु-सर्पकी भाँति जगत् मिथ्या ही हो पर उसका एक क्रम सघटित है, भले ही वह क्रम भी मिथ्याही हो। श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

स्वशब्दवाच्यम् अविद्याशबलं ब्रह्म। ब्रह्मणः अव्यक्तम्।

अव्यक्तात् महत् । महतः अहंकारः । अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि । पञ्चमहाभूतेभ्यः अखिलं जगत् ॥ शब्दके दो प्रकारके अर्थ होते हैं, १. वाच्य अर्थ २. लक्ष्य अर्थ । जो अर्थ लोकमें या कोषादिमें प्रसिद्ध होता है वह अर्थ उस शब्दका वाच्य अर्थ कहलाता है । जैसे, वाघ शब्दका अर्थ आप सब जानते हैं । वाघ उस पशुका नाम है कि जिसको देख कर आप सब घबड़ा जायँ और परमात्मा का स्मरण करने लगें । वह हिंसक प्राणी है । इससे वाघ शब्दका वाच्य अर्थ वह वाघ प्राणी । किन्तु वाघ शब्द का आप दूसरी रीतिसे भी प्रयोग करते हैं । एक मनुष्य आता हो तो आप कहते हैं कि "देखो वह वाघ आता है ।" यहाँ आप वाघ शब्दका प्रयोग उस मनुष्य के लिये कर रहे हैं । इसे लक्ष्य अर्थ कहते हैं । वह मनुष्य वाघके जैसा ही भयंकर है, वाघके समान ही बलवान् है, वाघके जैसा ही उसका सिर है । इसलिये आप उसे वाघ कहते हो । जो वह वस्तु तो न हो पर उस वस्तुका धर्म उसमें हो तो हम उसे वही मानते हैं । किसी पवित्र स्त्रीको हम सीता कहते हैं । वह सीता नहीं है । वह तो मनोरमा है । पर उसमें सीताके जैसे ही गुण हैं । इससे उस मनोरमाको हम सीता कहते हैं । इसे लक्ष्य अर्थ कहते हैं ।

सत् शब्द के दो अर्थ हैं, एक वाच्य, दूसरा लक्ष्य । इसका लक्ष्य-अर्थ तो "त्रिकालाबाधित अखण्ड ब्रह्म है" पर वाच्यार्थ अविद्याशबल-ब्रह्म है । अविद्याशबल अर्थात् अविद्या का अधिष्ठान । अतः सत् शब्द का जो अर्थ यहाँ लेना है वह यह कि—अविद्याका अधिष्ठान ब्रह्म । अविद्या शुद्ध चेतनके आश्रित रहकर उसीको विषय करती है । जो जिसमें मालूम पड़े वह उसका अधिष्ठान । सर्प रज्जु मे प्रतीत होता है इसलिये रज्जु सर्पका अधिष्ठान । जगत् ब्रह्ममें ही प्रतीत होता है इसलिये ब्रह्म जगत्का अधिष्ठान । पर शुद्ध ब्रह्म अधिष्ठान नहीं । किन्तु अविद्याशबल ब्रह्म । इसी अविद्याशबल ब्रह्मसे अव्यक्त उत्पन्न होता है । अव्यक्त अर्थात् परम सूक्ष्मतत्त्व, जिसमें से दूसरे तत्त्व पीछे से उत्पन्न होते हैं । उस अव्यक्तको

वेदान्तकी भाषामें यहाँ माया कहूँगा, अथवा अज्ञान कहूँगा। अथवा अविद्या कहूँगा। यद्यपि वेदान्तने जो छह पदार्थ अनादि माने हैं उनमें अविद्या अथवा माया भी एक है। और यदि वह अनादि हो तो उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। उत्पत्ति माननेसे वह सादि हो जायगी, अनादि नहीं रहेगी। पर यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि जो मूला और तूला दो अविद्याएँ हैं उनमें से मूला अविद्यामें से अव्यक्त उत्पन्न हुआ। जिसे माया भी कहते हैं। उसी अविद्यामें से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ जिसे अविद्या भी कहा जाता है। यद्यपि माया और अविद्यामें कोई तात्त्विक भेद नहीं किया जा सकता, फिर भी जगदुत्पत्तिकी कारणभूता जो माया है वह विक्षेपशक्तिप्रधान मानी जाती है और अविद्या आवरणशक्ति-प्रधान मानी जाती है। इससे मूल अविद्यामें से माया और अविद्याकी उत्पत्तिका स्वीकार किया जाता है। उस महत्तत्त्वसे अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे पञ्चतन्मात्र उत्पन्न हुआ। पञ्चतन्मात्रका अर्थ है—अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् सूक्ष्मभूत। पञ्चतन्मात्रमें से पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत उत्पन्न हुए। उन पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंमे से यह समस्त विश्व प्रकट हुआ।

इतना मैं आपको बता देना चाहता हूँ कि पहले मैंने जो संस्कृत वाक्य कहे थे वे श्री शंकराचार्य प्रणीत पञ्चीकरण पुस्तकके हैं। पर कितने ही अर्थात् अधिकाशमें सभी विद्वानोंका मत है कि वे वाक्य किसी प्रकारसे बाहरसे आकर इस पुस्तकमें जुड़ गये हैं। मूलपुस्तकके वे वाक्य नहीं हैं। कई कारणोंसे मैं भी ऐसा ही मानता हूँ। आपके सामने मैंने उन वाक्योंको रक्खा उसका आशय तो इतना ही कि जगत्-निर्माण करनेकी जो सामग्री है उसकी सूक्ष्म अवस्था यही है। शकराचार्यके ग्रन्थमें वह वाक्य भले ही न हों पर उस रीतिको माने बिना स्थूल पञ्चभूत आ ही नहीं सकते। आपके हाथमें कभी वह पुस्तक आवे और आपको भ्रम न हो इसके लिये ही आपको यह सूचना करता हूँ। वैसे तो ऐसे विचार के साथ यहाँ भाषणमें बहुत सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

पहले आप सीख चुके हैं कि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतरूप जो तन्मात्र,

उस तन्मात्रसे पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत अर्थात् स्थूल महाभूत उत्पन्न होते हैं। अब अपञ्चीकृतको पञ्चीकृत करना है। अर्थात् जो तत्त्व अभीतक बिखरे हुए अलग-अलग पड़े हैं उनमेंसे प्रत्येकमें दूसरे चार तत्त्व मिला मिलाकर उन्हें पाँच तत्त्ववाले बनाना है। जैसे कि आकाश तत्त्व एक ही है। उसमें दूसरा कुछ नहीं है। पर उसमें यदि वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन चार तत्त्वोंको मिलाया जाय तो आकाशमें पाँच तत्त्व हो जायँ। और तब वह पञ्चीकृत आकाश तत्त्व बन जाय। इसीप्रकार यदि वायुमें आकाश, अग्नि, जल, पृथ्वीको मिलावें तो वायु भी पञ्चीकृत वायुतत्त्व कहा जाय। इसी प्रकार अग्निमें जो आकाश, वायु, जल, और पृथ्वी मिलावें तो अग्नि भी पञ्चीकृत अग्नितत्त्व कहा जाय। ऐसे ही यदि जलमें आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी ये चार तत्त्व मिलावें तो जल भी पञ्चीकृत जलतत्त्व कहा जाय। ऐसे ही पृथ्वीमें जो आकाश, वायु, अग्नि, जल मिलावें तो पृथ्वी भी पञ्चीकृत पृथ्वीतत्त्व कहा जाय। इस विस्तारके साथ समझानेमे आपके मनमें यह बात तो आ ही गयी होगी कि एक तत्त्वमें दूसरे चार तत्त्व मिलानेसे पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत बनता है। पर अब यह विचारनेको रहता है कि इस मिलावट अर्थात् मिश्रणकी कोई पद्धति है या अन्धाधुन्ध चाहे जिस तत्त्वमें, चाहे जो तत्त्व, चाहे जितने प्रमाणमें मिला दिया जाता होगा। विश्वास रखें, दर्शनग्रन्थ या विज्ञानग्रंथ अन्धाधुन्धीको नहीं निभा सकता। सभी वस्तुओंको वे व्यवस्थित रीतिसे समझाते हैं।

वह पद्धति इस प्रकार है। एक-एक भूतको ले, उसके दो भाग करें। एक भाग ऐसाका ऐसा अलग रख दे। दूसरा जो आधा भाग है, उसके चार भाग करें। पाँचों भूतोंकी यही दशा करे। पाचोंके आधे-आधे भागको अलग रक्खें। एक पङ्क्ति मे सबको क्रमसे रखे। क्रमसे उनके नाम रक्खे। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी। इन पाँचोंका आधा भाग अभी तक विशुद्ध है। इनमे दूसरा कोई तत्त्व अभीतक नहीं मिला है। आधेके जो चार भाग किये गये हैं, उनमेंसे ही एक-एक भाग पहले आधे-आधे भागमे मिलाना है। जैसे—आकाशका आधा भाग

ले। इसमें आकाश तो है ही, क्योंकि यह तत्त्व ही आकाश है। इसमें आकाश के सिवा दूसरे चार वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तत्त्व नहीं हैं। इसलिये उक्त चार भागोंमें से एक-एक आकाशके इस आधे भागमे मिलाएँ। अतः आकाशमें एक अष्टमाश वायुतत्त्व आया, एक अष्टमाश अग्नितत्त्व आया, एक अष्टमाश जलतत्त्व आया, और एक अष्टमाश पृथ्वीतत्त्व आया। इस प्रकार आकाशमें चार भाग तो आकाशके ही हैं और दूसरे चार तत्त्वोंके अष्टमाश आये इससे आकाशतत्त्वका पञ्चीकरण हो गया। अब आकाश पञ्चीकृत हो गया, अपञ्चीकृत नही रहा। इसी प्रकार वायुका आधा भाग ले। उसमें जो चार तत्त्व नहीं हैं उनका चतुर्थांश उसमें मिलाएँ। अर्थात् वायुमें एक अष्टमाश आकाशका, एक अष्टमाश जलका, एक अष्टमाश अग्निका और एक अष्टमाश पृथ्वीका आया। इससे वायुतत्त्व अब पञ्चीकृत हुआ। ऐसे ही अग्नितत्त्वका आधा भाग लें। उसमें पहले चार-चार भागोंमें से आकाशका एक भाग अर्थात् एक अष्टमाश मिलाइये। इसी प्रकार एक अष्टमाश वायुका मिलाइये। एक अष्टमाश जलका मिलाइये। ऐसे ही एक अष्टमाश पृथ्वीका मिलाइये। अब अग्नि भी पञ्चीकृत बन गया। ऐसे ही जलके आधे भागमें, एक अष्टमाश आकाशका, एक अष्टमाश वायुका, एक अष्टमाश अग्निका, और एक अष्टमाश पृथ्वीका मिलाइये। इस प्रकार जल भी अब पञ्चीकृत हुआ। पृथ्वीका भी आधा भाग लें। उसमे एक अष्टमाश आकाशका, एक अष्टमांश वायुका, एक अष्टमाश अग्निका और एक अष्टमाश जलका मिलाएँ। पृथ्वीतत्त्व भी अब पञ्चीकृत हुआ। इसका नाम पञ्चीकरण।

अब एक प्रश्न। जब पाँच तत्त्व मिल गये हैं, तब, यह आकाश है, यह वायु है, यह अग्नि है, यह जल है, यह पृथ्वी है, ऐसा व्यवहार कैसे सम्भव हो सकता है? सभी आकाश और सभी वायु आदि कहे जाने चाहिये। क्योंकि सबमे सब हैं। इसका समाधान; सबमे सब हैं यह बात तो सत्य है पर परिमाण समान नहीं है। आकाशतत्त्वमें आकाशका परिमाण तो चार भागका है, अर्थात् आधा आकाश है। दूसरे चार

तत्त्वोंका तो चतुर्थांश भाग ही आ मिला है। इससे जिसका भाग अधिक उसके नामसे ही वह तत्त्व पहचाना जाता है। आकाशमें आकाशका भाग अधिक, वायुमें वायुका भाग अधिक, अग्निमें अग्निका भाग अधिक, जलमें जलका भाग अधिक, पृथ्वीमें पृथ्वीका भाग अधिक होनेसे वह क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नामसे पहचाना जाता है। लोकमें भी ऐसा ही व्यवहार होता है। एक ग्राम है। लोग कहते हैं, कि यह ब्राह्मणोंका ग्राम है। ऐसा कहनेमें यह तात्पर्य नहीं है कि उस ग्राममें दूसरी जातिके लोग नहीं रहते। दूसरे भी होते ही हैं, किंतु अधिक वसति ब्राह्मणोंकी होनेसे वह ब्राह्मण-ग्राम कहलाता है। अब एक दूसरी वस्तु कहकर इसे समाप्त करूँगा।

उपनिषदोंमें यह पञ्चीकरण नाम नहीं है। वहाँ त्रिवृत्करण ऐसा नाम है। इसका तात्पर्य यह है कि कितने ही लोग ऐसे भी हैं कि जो तीन ही तत्त्व मानते हैं। इस पक्षमें प्रत्येक तत्त्वके आधे भागके तीन-तीन भाग करने पड़ते हैं, और जैसे पञ्चीकरणमें आप समझ चुके हैं, वैसे ही त्रिवृत्करणमें भी इन तीनमें से एक-एक भाग बड़े-बड़े भागोंमें मिलाना पड़ता है। परन्तु वेदान्तमें त्रिवृत्करण पर अधिक भार नहीं है। पञ्चीकरण ही माना गया है।

१२–७–५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

गीता के ऊपर सांख्य का प्रभाव

(२७)

आज मुझे आपके आगे यह कहना है कि गीताके ऊपर सांख्यका कितना प्रभाव पड़ा है। इसे स्पष्ट करनेमें मुझे समस्त वेदान्तियोंका विरोध अपने ऊपर झेलना है। मैंने जिस प्रकारसे गीताका विचार किया है उसी रीति से मुझे निश्चय हुआ है कि गीतापर सांख्य का

बहुत बडा प्रभाव है। यद्यपि वेदान्ती ऐसा नहीं मानते हैं। वे तो ऐसा मानते हैं कि गीता अद्वैतवादका ग्रन्थ है। मैं कहता हूँ कि गीता मे अद्वैतवाद है परन्तु केवल अद्वैतवाद ही नहीं, दूसरे वाद भी हैं। मैं ऐसा कहता हूँ, इसके कारण हैं—

१—गीता महाभारतका ही एक अङ्ग है, ऐसा आज बहुमतसे माना जाता है। तब महाभारतकी हर एक परिस्थिति गीतासे सम्बन्धित होनी चाहिये। हम विचारें कि महाभारतकालमे वेदान्तका कितना प्रचार था। इसका निर्णय करनेके लिये कोई निश्चित मार्ग लेना चाहिये। वेदान्त अर्थात् उपनिषद्। वेदान्त अर्थात् औपनिषद् मत। अब यह देखनेको रह जाता है कि महाभारतकाल में श्रुति का कितना सम्मान था।

महाभारतकाल में वेद या वेदान्त का विशेष गौरव नहीं था, मैं ऐसा मानता हूँ। इसका कारण यह है कि महाभारत मे जहाँ-जहाँ धर्म विषयक प्रश्न पूछे गये हैं वहाँ लगभग सर्वत्र ही साख्यशास्त्र और उसके अनुयायियों का नाम आदर के साथ पहले ही आता है। जिस समय में जिसका गौरव अधिक, प्रतिष्ठा अधिक, उसका नाम सर्वप्रथम लिखा जाता है, बोला जाता है, गिना जाता है, यही पद्धति है। आज महात्मा गाधीजीका जितना गौरव और जितनी प्रतिष्ठा जगत्मे है, उतनी किसीको भो नही है। यह निर्विवाद है। भारत में तो नही ही है। इसलिये महात्माजीका नाम अपनी जिह्वा पर सबसे पहले आता है। इस समय मेरे पास महाभारतका ग्रन्थ नहीं है। मैंने प्राप्त करने का प्रयास भी नहीं किया। जितने श्लोक मुझे इस समय स्मृत हैं, उनसे ही मैं अपने पक्षका समर्थन करने मे आपके सामने प्रयत्न करूंगा। सुनें—

परत्मामेति यं प्राहुः सांख्या योगविदो जनाः ॥

"साख्यदर्शन के अनुयायी और योगी जिसे परमात्मा कहते हैं।"

महाभारतके इस श्लोकमे साख्यका नाम प्रथम है, योगियोंका नाम द्वितीय श्रेणी में है।

शान्तिपर्व में एक श्लोक है—सन' सनत् सुजातश्च इत्यादि। इस श्लोकमे ब्रह्माके सात मानस पुत्रोंके नाम गिनाये गये हैं। उसके पश्चात् यह श्लोक है—

एते योगविदो मुख्याः साख्यज्ञानविशारदाः।
आचार्या धर्मशास्त्रस्य मोक्षधर्मप्रवर्तकाः॥

"ये ब्रह्माके सातों पुत्र योगविद्याके जाननेवाले हैं और साख्यज्ञानमें अतिनिपुण हैं। वे धर्मशास्त्रके आचार्य हैं और मोक्षधर्मके प्रवर्तक हैं।"

यहाँ योगका नाम प्रथम है, पश्चात् साख्यका नाम आया है। दूसरा श्लोक—

सांख्यानां योगिनांचापि यतीनामात्मवेदिनाम्।
मनीषितं विजानाति केशवो न तु तस्य ते॥

"सांख्य, योगी, यति, और आत्मज्ञानी इन सबोंकी इच्छाको केशव भले प्रकार से जानते हैं। यहाँ साख्यका ही नाम प्रथम आया है। आत्मवेदी शब्दसे यदि वेदान्तियोंका ग्रहण होता तो वे चतुर्थ अथवा तृतीय श्रेणी मे हैं। और भी—

"एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च।"

इस श्लोक मे साख्यका नाम प्रथम है, वेद और अरण्यकके नाम तृतीय एव चतुर्थ हैं।

सांख्यं योगं पञ्चरात्रं वेदः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै॥

यहाँ भी साख्यका सर्वप्रथम नाम है। इसी क्रमसे आगे श्लोकोंमे इन मतोंके प्रवर्तकोंके नाम गिनाये गये है। जैसे कि—

सांख्यस्यवक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातनः॥

साख्यके उपदेष्टा परम ऋषि कपिल हैं और योगके उपदेष्टा हिरण्यगर्भ हैं।

"सांख्यं च योगं च सनातने द्वे वेदाश्च सर्वे।"

यहाँ भी साख्यका ही नाम प्रथम और वेदका नाम तृतीय है"

बहवः पुरुषाः लोके सांख्ययोगविचारणे।"

यहाँ भी साख्यका प्रथम नाम है।

एतत् ते कथितं पुत्र यथावदनुपृच्छतः॥
सांख्यज्ञाने तथा योगे यथावदनुवर्णितम्॥

"हे पुत्र! जो तूने पूछा था, उसका उत्तर मैंने जिस प्रकार साख्यज्ञानमे और योगमे वर्णित है, उस प्रकारसे तुझे दिया है।" यहाँ भी धर्मजिज्ञासु पुत्रको सांख्यके अनुसार ही उपदेश हुआ है। इससे अधिक श्लोक मुझे स्मरण नहीं हैं। मैंने जो गीतापर गुजरातीमें भाष्य किया है, उसको पढ़ जानेके लिये अनुरोध करता हूँ। वह बिना मूल्य ही मिलता है। इतने प्रसंगसे इतना तो स्पष्ट हो ही जाना चाहिये कि महाभारतकालमे साख्यलोकोंका मत बहुत ही प्रबल था। नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमम्" यह भी महाभारतका श्लोक है। महाभारतकालमे लिखी गई गीता पर उस समयके प्रचलित धर्मोंमे सबसे श्रेष्ठ माने हुए धर्मका प्रभाव न हो यह कैसे माना जा सकता है?

२. उस समय पञ्चरात्रका भी प्रचार था और धर्म-निर्णयमे वह प्रमाण माना जाता था। इससे पाञ्चरात्र मत भी गीतामें होना ही चाहिए। गीतामे भक्तियोग पाञ्चरात्रकी ही वस्तु है। और वह पञ्चरात्र वैष्णवधर्मके प्रचारका सूचक है।

३. महाभारतकालमें पुराणोंमें से कितने ही पुराण बन चुके थे, इससे पुराणोंका भी प्रभाव गीता पर है ही। प्रथम अध्याय में जो पितर्, पितृतर्पण आदिका वर्णन है, वही मेरे इस कथनमे प्रमाण है।

इन सब युक्तियोंमे मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि गीताके ऊपर वेदान्तका थोडा ही प्रभाव है। साख्यका ही बहुत प्रभाव है। 'था' इसी मुख्य विषयको विचारे।

"क्या मैं पहले नहीं था?" "क्या तू पहले नहीं था?" "क्या ये सब राजा पहले नहीं थे?" (गी. २-१२)। इस श्लोकमें मैं, तू, आदिमें और जनाधिपाः में अलग-अलग जीवोंका और बहुतसे जीवों का वर्णन हुआ है। वेदान्तमतमें एक जीववाद मुख्यपक्ष है। एक जीववाद में बहुत्वका सम्भव नहीं। वैसे ही मैं, तू कह कर अणुवाद-को भी माना गया है। जीवोंका अणुत्व और बहुत्व यह साख्यमतकी ही वस्तु है। विशिष्टाद्वैत वेदान्त भी इसी प्रकार जीवको मानता है।

"जिस पुरुषको अर्थात् जिस जीवको इन्द्रियोंके विषय व्यथित नहीं करते वह मोक्षका अधिकारी होता है (गी. २-१५)। इस श्लोकमें पुरुषशब्द जीवके लिये प्रयुक्त हुआ है। यह साख्यका ही परिभाषिक शब्द है। प्रधानशब्दका प्रकृतिके लिये और पुरुष शब्दका जीवके लिये साख्य ही प्रयोग करते थे। उनके प्रभावसे ही गीतामें इनका प्रयोग उसी अर्थमें हुआ है। वेदमें पुरुषशब्द परमात्माके लिये प्रायः आता है।

"जो असत् है वह सत् नहीं होता और सत् असत् नहीं होता (गी.-२-१६)। इस श्लोकमें साख्यका ही सत्कार्यवाद है। सांख्यका सिद्धान्त है कि किसी वस्तुका नाश नहीं होता, रूपान्तर होता है। घट फूटकर नष्ट नहीं हुआ, उसका रूपान्तर हुआ है। घटके परमाणु नष्ट नहींहुए हैं, केवल रूप नष्ट हुआ है। इसी सिद्धान्तका वर्णन इस श्लोकमें हुआ है।

"यह उपदेश मैंने तुझे साख्यके अनुसार किया है, योगके अनुसार उपदेशको अब सुन" (गी० २-३९)। इसमें स्पष्ट साख्यशब्द आया है, उसके बाद योगशब्द आया है। आपको मैंने पहले कितने ही श्लोक

सुनाये हैं। उन सबमें सांख्य और योग साथ ही आये हैं। उसी प्रकार यहाँ भी आये हैं। वेदान्तीलोगोंने शब्दको तोड-मरोडकर, ज्ञानार्थक बनाकर वेदान्तकी ओर खींचा है। वेदान्तियोंने बडा अन्याय किया है। यदि साख्यका अर्थ ज्ञान ही होता तो कृष्णको ज्ञान शब्द क्या आता नहीं था "एषा तेभिहिता ज्ञाने"? ऐसा उन्होंने कैसे कहा? वैसे ही यहाँ योगशब्दका अर्थ कर्मयोग कर डाला है। यह भी अन्याय ही है। प्रसिद्धार्थका सर्वत्र त्याग करनेका कोई कारण नहीं हो सकता। केवल सांख्य और योगके साथ वेदान्तकी शत्रुताके कारण इन दोनों शब्दोंकी दुर्दशा कर डाली गयी है। गीतामें इस श्लोकसे पहले किसी भी स्थानपर योग शब्दका अर्थ कर्मयोग नहीं कहा गया। अकस्मात् अधूरा शब्द बोला जाय यह कृष्ण जैसे तार्किकको शोभा नहीं देता। इसीसे मैं कहता हूँ कि इस श्लोकमें साख्य और योग दोनों साख्यदर्शन और योगदर्शन के लिये आये हैं।

गीताके दूसरे अध्यायमे ४२ से ४४ श्लोक तक जो वेदो और अवैदिकोंको अपशब्द सुनाये गये हैं, वह भी साख्यका ही प्रभाव सूचित करता है। साख्यलोग पहले अनीश्वरवादी ही थे। अधिक संख्या उनमे अनीश्वरवादियोंकी ही थी। वे ईश्वरको नहीं मानते थे। इससे उनके मतानुसार वेद ईश्वरीय नहीं ही हैं। इससे उनकी उपादेयता और अनुपादेयताका विचार साख्यलोग करते थे। जितना ग्रहण करने योग्य होता उतना ही ग्रहण करते थे, शेष छोड़ देते थे। यही भाव गीतामें दूसरे अध्याय के ४६ वें श्लोकमें व्यक्त किया गया है। जो ईश्वर को मानता हो और वेदको ईश्वरीय ग्रन्थ मानता हो वह तो स्वामीदयानन्दकी भाँति एक एक अक्षर के लिये प्राण देगा। अतः यह भी साख्यके प्रभावमें लिखे गये श्लोक हैं।

गीतामें "श्रुतिविप्रतिपन्ना" (अ० २-५३) यह शब्द बहुत ही भयंकर है "श्रुतियोंसे ही तेरी बुद्धि विसार्ग पर गयी है," ऐसा कहकर कृष्ण श्रुतिका तिरस्कार करते हैं। यह भी साख्यका ही प्रभाव

है। इस शब्दके अर्थमें भाष्यकारोंने जो खींचातानीकी है, स्मरण रहे, मैं उससे अपरिचित नहीं हूँ।

"सब इन्द्रियोंको संयममें रखकर संयमी बन कर मत्पर होकर अर्थात् मुझमें ही तल्लीन होकर बैठना चाहिये" (गी० २—६१)। इसमें मत्पर शब्द आया है, वह सांख्यके छोटे भाई योगका प्रभाव बतलाता है। कृष्ण 'मत्पर' कहकर अपनेको ईश्वर बताना चाहते हैं।

अर्जुन कभी भी कृष्णको ईश्वर मानता हुआ देखनेमें नहीं आया। किसीने उस समय कृष्णको ईश्वर कहा नहीं है। तब अस्मद् शब्दसे सिद्धार्थानुवादकी भाँति कृष्ण क्यों कहते हैं कि मुझमें "मत्परः आसीत्" मुझमें तल्लीन होकर बैठना चाहिये। इसका कारण है। सांख्यलोग ईश्वर नहीं मानते थे। योगी लोग भी सांख्यके अनुसार अनीश्वरवादी ही थे। पश्चात् योगी ईश्वरवादी बने। उनका ईश्वर कृष्णके जैसा ही था। क्लेश और कर्मविपाक आदिसे जो असम्बद्ध रहे वही ईश्वर कहलाता है। कृष्ण स्वयं भी योगेश्वर थे। इससे योगमतके अनुसार ही अपनेको वह ईश्वर मानते और मनवानेका प्रयत्न करते थे। इसलिये जहाँ-जहाँ कृष्ण अपनेको ईश्वरकी भाँति परिचित कराते हैं, वहाँ-वहाँ सर्वत्र योगका ही प्रभाव समझें।

"प्रकृति के गुण ही सब कर्मों को करते हैं, और जीव उनका कर्ता अपनेको मानता है" (गी० ३—२७) यह सीधा सांख्यका प्रभाव है।

इसी प्रकार गुण और कर्मके विभागको जाननेवाले को गीतामें "तत्त्ववित्" (३—२८) कहा गया है। यह भी सांख्यका ही प्रभाव है।

"मूर्खलोग ही सांख्य और योगको पृथक् मानते हैं, (गी० ५-४)।" सांख्य जिस स्थानको—पदको—प्राप्त करते हैं योगी भी उसे प्राप्त करते हैं (५—५)। इन दोनों श्लोकोंमें आया हुआ सांख्यशब्द और योगशब्द अपना प्रभाव बताते हैं।

मेरी बहिनो और भाइयो, आपको मालूम ही है कि आज मेरे भाषणों का अन्तिम दिन है। समय अधिक हो गया है। कदाचित् अभी कोई

दूसरी विधि करना अवशिष्ट होगा। इसलिये इतनेसे ही आज आप संतुष्ट रहें। एक मास तक आपने लगातार मेरे अटपटे भाषणोंको शांतिसे, प्रेमसे, ध्यानसे सुना है, इससे मुझे आनन्द हुआ है। पर इसी प्रकार यदि आप आचरण करना सीखेंगे तो इससे भी अधिक आनन्द मुझे होगा। इस निरन्तर आनेवाले जनसमूहको धन्यवाद देकर मैं मौन होता हूँ।

१४—७—५० को मोम्बासामें दिया गया प्रवचन।

धर्मोपदेश

(२८)

आज हम यहाँ इकट्ठे हुए हैं धर्मपर विचार करनेके लिये। मुझे किस विषयपर बोलना है, इसे मैं अभीतक जान नहीं सका हूँ। शायद आप भी नहीं जानते हैं। आजके इस व्याख्यानका प्रबन्ध सनातनधर्मसभाकी ओरसे हुआ है। अत. मैं समझता हूँ कि सनातनधर्मके विषयमें ही कुछ बोलना चाहिये। आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा ये दोनों सगे भाई बहिन हैं। इन दोनों का अवतारकाल समान ही है। दोनों रण कुशल हैं। लड़ना भी इनका काम है और कुछ अच्छे काम करना भी इनका काम है। वर्षोंतक ये दोनों लड़ते रहे हैं। लडाईका विषय व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण था। मूर्त्तिपूजा वैदिक है या अवैदिक यही इन दोनोंकी लड़ाईका विषय था। किसी विषयकी वैदिकता और अवैदिकताका विचार ही बेवकूफीसे भरा हुआ है। वैदिक होनेसे गोमेध आज ग्राह्य और मान्य नहीं हो सकता। अवैदिक होनेसे मूर्तिपूजा त्याज्य नहीं हो सकती है। यह हारमोनियम अवैदिक है, क्योंकि वेदोंमें इसका वर्णन नहीं है। इसलिये यह त्याज्य नहीं हो सकता। यह बिजलीकी लाइट वेदविहित नहीं है। इसलिये इसे बुझादेना और इसका उपयोग न करना निरी बेवकूफी है। अतः वैदिक होने और अवैदिक होनेके विचारको छोडकर यह विचारना चाहिये कि मूर्तिपूजा इन्सानके लिये फायदेकी चीज है या गैर फायदे की। अगर इससे इन्सानियतको धक्का लगता हो, मनुष्यता नष्ट होती

हो तो इसका त्याग होना ही चाहिये। परन्तु यदि ऐसा न होता हो तो इसे यहाँ रहना ही चाहिये। आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा दोनों ही लड़-लडकर थक गये, आर्यसमाजको अनुभव हो गया कि मूर्ति-पूजा एक ऐसी लता है जिसका मूल जमीनके अन्दर बहुत दूर तक चला गया है। अतः हिलायी और हटाई नहीं जा सकती। इसे हटानेके लिये चार्वाक आया, इस्लाम आया, खिस्तीधर्म आया, परन्तु यह तो नहीं हटी तो नहीं ही हटी। स्वामी दयानन्दके समयमें जितने मन्दिर थे निस्सन्देह उनकी अपेक्षा आज अधिक मन्दिर हैं। वृद्धि है हुई, कमी नहीं। जैनधर्म भी मूर्तिपूजक ही है। परन्तु इसे वीतराग देवकी पूजा इष्ट है। इन हथियारधारी ईश्वरोंकी नहीं। वह कहता है कि धनुष, बाण, चक्र, भाला त्रिशूल आदि हथियारोंकी आवश्यकता ईश्वर जैसे प्राणीको नहीं होनी चाहिये। यह मनुष्योंकी चीज़ है और आज इस गाधी-युगमें यह असुरोंकी चीज है। अतः वह हिन्दू-मूर्तिपूजाके स्थान पर बिना आभूषण और बिना वस्त्रके शृङ्गार रहित ईश्वरकी मूर्तिकी पूजाका पक्षपाती है। सबके अथक प्रयासके बाद भी मूर्तिपूजा आज भी कायम है, कायम ही रहेगी। क्योंकि जो चीज एक बार आती है उसका अस्तित्व नष्ट नहीं होता। बुद्धधर्म आया। शंकरने उसे भारतसे बाहर निकाल दिया परन्तु वह जीवितधर्म है और आज पुनः भारतमें उसका जन्म हुआ है। जितने धर्म आये सबका अस्तित्व आज मौजूद है। भारतवर्षपर राज्य-करनेवाले अपना धर्म और अपनी संस्कृति लेकर ही वहाँ गये थे। वह वहाँसे चले गये परन्तु उनकी संस्कृति वहाँ ही रह गयी। हमने उनकी संस्कृतिको अपना लिया—पचा लिया है। जूता-जो जूता पाखानेमें गया है, सडकों की गन्दगीमें गया है, थूंक और कफ पर होकर गुजरा है, जिसमें कितने ही विषैले-जहरीले कीटाणु लगे हुए हैं वह सीधा रसोई घरमें पहुँच जाता है। यह हमारी आर्यसभ्यता तो नहीं है। यह तो दूसरोंकी ही सभ्यता हमें पच गयी है। तात्पर्य यह कि जो चीज एक बार अस्तित्वमें आती है उसका नाश अशक्य हो जाता है। मूर्तिपूजा

आचुकी, वह जा नहीं सकती। वह किसी न किसी रूपमें रहेगी ही। इसका एक और भी कारण है। मनुष्यका एक स्वभाव है कि वह कहीं झुकना चाहता है। वह अपने सिरको कहीं भी झुकाना चाहता है। उसे एक इच्छा होती है, कहीं भी किसीके भी आगे आत्मसमर्पण करने की। वह माता, पिता, बडेभाई आदिके सामने सिर झुकाता, प्रणाम करता है परन्तु वह वहाँ आत्मसमर्पण नहीं करता, करना भी नहीं चाहिये। एक पिता दुराचारी हो तो उसकी आज्ञाके सामने सिर नहीं झुकाया जा सकता। एक माता क्षुद्रविचारवाली हो तो उसके सामने आत्मसमर्पण नहीं किया जा सकता। माता पिताकी भक्ति करना धर्म है, उनकी सेवाकरना, उनकी खिदमतकरना, उनका पालन-पोषणकरना यह सब धर्म है, परन्तु वह जो कुछ धर्म्य अधर्म्य कहें, सब करना, अंधा बनना यह धर्म नहीं है। हिन्दूधर्मका इतिहास भी यही कहता है। प्रह्लादने अपने पिताकी आज्ञाके सामने सिर नहीं झुकाया। आप जानते ही हैं अनेक प्रकार के संकटों के बावजूद भी वह अपने हठ पर आग्रह पर डटा ही रहा। भगवान् भरतकी दृष्टिमें उनकी माताका मार्ग गलत था। अतः उन्होंने अपनी माताकी आज्ञाके सामने सिर नहीं झुकाया। माता-पिताके सामने आत्मसमर्पण नहीं किया, नहीं किया जा सकता है। इसीलिये आर्यऋषियोंने उपदेश दिया है कि भाइयो! तुम अपने बच्चोंसे कहो कि "यानि यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि" जो जो हमारे अच्छे आचार हैं, व्यवहार हैं, संस्कार हैं उनका ही तुम ग्रहण करना, हमारी बुराइयोंसे तुम हमेशा परहेज करना। शराबी बापका पुत्र शराबी नहीं बन सकता, उसे वैसा नहीं बनना चाहिये। अस्तु, मैं यह कह रहा था कि हरएक आदमी कहीं झुकना चाहता है, आत्मसमर्पण करना चाहता है, इसीका नाम भक्ति है। भक्ति आकाशसे नहीं आती। वह तो जमीनसे ही पैदा होती है। बालक पैदा होते ही माँकी भक्ति सीखता है। बापकी भक्ति सीखता है और अपनी मातृभूमिकी भक्ति सीखता है। प्रेम ही भक्ति है। बच्चे पर

हम प्रेम करते हैं । छोटे भाई पर भी प्रेम करते हैं। उस प्रेमका नाम वात्सल्य है। हम अपनी समानउम्रवालों पर प्रेम करते हैं वह केवल प्रेम ही है या मैत्री है। माता और पिता से प्रेम करते हैं वह मातृभक्ति और पितृभक्तिका रूप और पद प्राप्त करता है। परन्तु वह वहाँ आत्म-समर्पण नहीं करता है। वह ढूँढता है किसी ऐसी चीजको जिसके सामने वह विना संकोचके झुक जाय और विना विचारे ही सर्वस्व अर्पण कर दे। आप जानते ही हैं कि किसी ऐसी ही चीज पर हमारे पूर्वज अपना सिर भी चढाते थे, अपना सर्वस्व भी अर्पण करते थे। उसी भावनाने मूर्तिपूजा को जन्म दिया है। वह भावना स्वाभाविक है। अतः मूर्त्तिपूजा एक नहीं तो दूसरे रूपमें विद्यमान ही रहेगी। अर्जुनने कृष्णसे कहा था कि मैं आपका प्रपन्न हूँ, शरणागत हूँ। आप मुझे मार्गदर्शन करावे। प्रपन्न शब्द महत्त्वपूर्ण है। उसने अपनेको प्रपन्न कहकर कृष्णके सामने आत्मसमर्पण कर दिया था। उसने कभी यह नहीं सोचाकि परिणाम क्या होगा। उसने सदाके लिये अपनेको कृष्णके हाथमें सौंप दिया। स्त्रीऔर पुरुष दोनों ही प्रतिज्ञा करते हैं कि "हृदयेन ते हृदयं दधामि" मैंने अपने हृदयको तुम्हारे हृदयके साथ जोड़ दिया है। यह भी एक प्रकारकी प्रपत्ति ही है—शरणागति ही है। एकको दिया हुआ हृदय कभी पीछे नहीं लिया जा सकता। "किस कामका वह दिल है कि जिस दिलमें तू न हो।" यही भावना दोनों पतिपत्निके हृदयमें निवास करती है। प्रतिज्ञा करना अलग वस्तु है और उसका निभाना अलग वस्तु है। सीता रावणकी लंकामें अकेली पड़ी हुई थीं। वहाँ रामकी हवा भी नहीं पहुँचती थी। उनके जीवनकी उन्हें कोई आशा नहीं थी। उन्हें रामदर्शनकी भी कोई आशा नहीं थी। महती विषम परिस्थितिमें भी वह रावणको कह सकी थीं कि—

विरम विरम रक्षः किं वृथा जल्पितेन,
स्पृशति नहि मदीयं कण्ठसीमानमन्यः।

रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्तेः ।
दशमुख भवदीयो निष्कृपो वा कृपाणः ॥

"रावण, तू क्यों बकबक करता है ? चुप रह । तू चाहता है कि मैं तेरी कामवासनाको तृप्त करूँ ? यह तो कभी हो ही नहीं सकता । मेरे गलेको स्पर्श करनेके लिये तो दो ही चीजें हो सकती हैं, या तो नील कमल समान भगवान् रामका बाहु और या तो तेरी यह निर्दय तलवार । तीसरी एक भी चीज मेरे कण्ठकास्पर्श नहीं कर सकती ।" सीताने प्रतिज्ञाका सर्वांशमे निर्वाह किया । यही पतिव्रता धर्म है । यही प्रत्येक स्त्रीका आदर्श है । यह क्षणभरमे अवश्य टूट सकता है । रामने भी अपनी प्रतिज्ञाको बहुत प्रामाणिकताके साथ जन्मभर निभाया । सीतात्यागके पश्चात् अश्वमेधयज्ञके समय पुनर्विवाहके द्वारा रामको सपत्नीक बनानेके लिये सब ओर से प्रयत्न हुए, परन्तु रामके मुख से ना के सिवा कोई शब्द नहीं निकला ।

किसकी हवा, कहाँका गुल, हम तो कफ़समें हैं असीर ।
सैर चमनकी रोज़ो शब तुझको मुबारक ऐ सबा ॥

"कैसी हवा और कैसे फूल ? हम तो पिंजडेके कैदी हैं । हे प्रातः-कालकी हवा, अब मेरे भाग्यमें बागमे सैर करनेके दिन और वह रातें नहीं हैं । वह दिन, वह राते और वह सैरेचमन तुझे ही मुबारक हों", सपत्नीक जीवनका सुख रामके जीवन से चला गया था । मुझे कहना यह है कि मूर्तिपूजाका सम्बन्ध हृदयके साथ है । मानवहृदयने उसे विचारपूर्वक स्वीकार किया है । अतः वह तो रहेगी ही । इसलिये अब आर्यसमाज और सनातनधर्मसभा दोनों ही प्रायः शान्त हैं । शान्तिके समयमें दोनोंको कुछ अच्छा काम करना चाहिये । मै अभी भाषण शुरू करनेसे पूर्व कुछ भाइयोंसे परामर्श कर रहा था कि अफ्रिकाके नेटिव लोगोंमे से शराबखोरीकी आदत क्यों न हटायी जाय ? यह सबसे बड़ा धर्म है । आप वर्षोंसे यहाँ रहते हैं । सैकडों वर्षोंसे हिन्दूजाति यहाँ आती

जाती रही है, व्यापार करती रही है। हिन्दीमुसलमान भी वहाँके प्राचीन निवासी हैं। उन्होंने भी वहाँ व्यापार किया है। अब भी वह और आप व्यापार कर रहे हैं। अफ्रिकनोंकी भूमिसे आपने लाखों रुपये पैदा किये हैं। लाखोंकी इमारतें आपने खडी की हैं! परतु क्या कभी भी आपका ध्यान उनकी उन्नतिकी ओर गया है? क्या आपने कभी भी उन्हें मनुष्य बनाने, लिखाने, पढाने और सभ्य बनानेका प्रयास किया है? यह दूसरी बात है कि आपने उनकी गुलामी दूर करनेमें अंग्रेज सरकारको मदद दी थी। परन्तु इतने ही से तो कृतार्थता नहीं हो सकती। कृतज्ञता इससे भी ज्यादा आपके पाससे कुछ चाहती है। अभी तो आपके सामने उनके प्रति कर्तव्यका पहाड़ खडा है। यहाँ तीन ही तो जातियाँ हैं, मुसलमान, हिन्दू और ईसाई। मुसल्मानोंने उन्हें अपना प्राणप्रिय धर्म दिया है— इसलाम दिया है। ईसाइयोंने उन्हें कोट, पतलून, बूट, हैट, टाई आदि देकर थोडीसी अपनी सभ्यता और अपना धर्म उन्हें सिखाया और उन्हें सुखी बनानेका मार्ग बताया है। परतु आपके पास क्या हिसाब है? आपने बदलेमें उन्हें क्या दिया है? आपने उनके देशको कौनसा सौन्दर्य प्रदान किया है? मकानकी सुन्दरतासे, उसमें रहनेवाले स्त्री-पुरुषोंकी सुन्दरतासे, कोई देश सुन्दर नहीं बनता। आचार और विचार किसी भी देशको पवित्र बनाते हैं। रावण तो अतिशय सुन्दर था परन्तु उसका देश उसकी सुन्दरतासे सुशोभित नहीं था। राम और कृष्ण शायद बहुत सुन्दर नहीं थे क्योंकि वह काले थे, तो भी उनका जहाँ अवतार हुआ—जन्म हुआ वह अयोध्या और मथुरा आज भी सुन्दर मानी जाती है। उनका सौंदर्य सैकड़ों, हजारों, और लाखों माइल दूर रहनेवालोंके भी हृदयको आज भी खींच रहा है। अतः आप इस भूमिको वास्तविक सुंदरता देनेका प्रयास करें। मैंने इस रविवारको श्री जोशीजीके सावे (बगीचे) के पास पचासों नेटिवोंको देखा कि वह शराबके नशेमें चूर थे। वह अज्ञानी हैं, अपठित हैं। उनको विवेक नहीं है। आपको उनके लिये कुछ करना पड़ेगा। मुझे एक भाईने कहा कि हिन्दू स्वयं

दारू पीते हैं तो वह अन्योंको कैसे उससे छुडा सकेंगे ? मुझे शर्म आयी। हिन्दूशास्त्रोंमें शराब और जुआको बहुत खराब बताया गया है। शराबी अपनी लाज-शर्म, इज्जत और अक्लको खो बैठता है। अपनी पत्नी और अपने बाल बच्चोंकी प्रतिष्ठाको भी गँवा देता है। वह बर्बाद हो जाता है। लोगोंकी नजरोंमे वह गिर जाता है। कोई प्रतिष्ठित और समझदार हिन्दू कैसे शराब पी सकता है, यह मैं नहीं समझ सका हूँ। परन्तु मै यह मानने की भूल कैसे कर सकता हूँ कि यहाँ सभी हिन्दू शराबी होंगे, २, ४, १०, २० कुछ तो ऐसे निकलेंगे ही जिन्हें ईश्वरने विवेक दिया होगा, कृतज्ञता दी होगी। वे ही क्यों न इस पवित्र कार्यको अपने हाथमें लें ? समाज बनाकर, सस्था बनाकर, यह कार्य किया जा सकता है। आर्यसमाजके उपदेशक यहाँ आते हैं। मूर्तिपूजा मत करो, श्राद्ध मत करो, कहकर चले जाते हैं। इतना ही उनका धधा है। सनातनधर्म उपदेशक भी यहाँ आते हैं। मूर्तिपूजा करो, श्राद्ध करो, वे भी इतना ही कहकर चले जाते हैं। उनका भी इतना ही धंधा है। आप तो स्वयं मूर्तिपूजा करते हैं उसके लिये उपदेशकी क्या आवश्यकता है ? आवश्यकता है आपको किसी नये उपयोगी प्रोग्रामको पूरा करनेकी। गीताके प्रचारक आकर आपके सामने गीताप्रचारकी बातें करते हैं। १२, १२ आनेमें गीताकी पुस्तक बेचकर, २५-५० हजार रुपये ले जाते हैं। इसका नाम गीता प्रचार नहीं हैं। मैंने भारतमें सुना था कि यहाँ गीता-मन्दिर जहाँ-तहाँ चार खोले गये हैं या बनाये गये हैं। अभीतक तो मै कहीं इस मदिरको नहीं देख सका हूँ, नही सुन सका हूँ। मुझे बड़ी निराशा हुई। आपके यहाँ गीताकी पाठशालाएँ कोई ४-५ वर्षोंसे तो कोई १० वर्षोंसे चल रही हैं। आपने गीताका क्या प्रचार किया ? बच्चे और खासकर लड़कियाँ थोड़ेसे श्लोक कण्ठस्थ कर लेती हैं। आप उन्हें नाटकके तौरपर स्टेजपर खडे करदेते हैं। पोपट-शुकदेवकी तरह वह श्लोक बोल जाते हैं। आप उन्हें इनाममें कुछ दे देते हैं। इसका नाम गीताका प्रचार हो गया। मुझे आश्चर्य है कि हिन्दुओंके सभी

वर्गोंको कालाबाजार ही क्यों अच्छा लगता है? गीता प्रचारमें भी काला-बाजार। आपके दिमागमें भर दिया गया है कि गीताके एक श्लोक अथवा आधा श्लोक अथवा एक पद अथवा एक शब्द बोलनेसे भी कल्याण हो जाता है। आप इसे सही मान लेते हैं। यह तो देखते ही नहीं हैं कि अंधा तो अंधा ही रह गया। लूला और लंगडा भी लूला और लँगडा ही रह गया। किसीका तो कल्याण हुआ ही नहीं। जुआरी जुआ खेलता ही रह गया। झूठा झूठ ही बोलना रह गया। उनका क्या कल्याण हुआ। कालाबाजारिये कालाबाजार करते ही रह गये, गीता-प्रचारका क्या फल हुआ? मार्गमें तो अंधेरा ही छाया हुआ है। सूर्य किधर उगा? उसके उगनेका फल ही क्या हुआ? मैं कहता हूं कि अज्ञानको दूर किया जाय। समझा जाय कि किसी ग्रन्थके केवल पाठ करनेसे कभी भी कोई लाभ नहीं होता। आप यहांके आदिवासियोंको हिन्दू तो बना ही नहीं सकते क्योंकि हिन्दूधर्ममें उलटी करने की— कै करनेकी शक्ति है, पचानेकी नहीं। तो आप इतना तो करें कि उन्हें शराबमें से बचालें। हिन्दूधर्मके अनुसार ऐसा करना पुण्य है। मैं मानता हूँ कि आपके इस पवित्र कार्यमें यहाँकी सरकार विघ्न कर सकती है क्योंकि उसका स्वार्थ नष्ट होता है। परन्तु आपको यह विचारना है कि सरकारसे डरना धर्म है या इन्हें पापोंसे बचाना धर्म है? हिन्दुस्तानमें भी जब इनका राज्य था तब शराबकी उपजमें से ही यह हमें स्कूलों और कालेजोंमें शिक्षा देते थे। आप थोडेसे वीर और साहसी बनें। शराबके विरुद्ध आंदोलन करना कभी भी पाप नहीं माना जा सकता। आप इन्हें लिखाने-पढानेका भी काम कर सकते हैं, यह आपके घरोंमें सारे दिन काम करते हैं। आप इन्हें हिन्दी पढावें, गुजराती पढ़ावें, उन्हें आप अपने मन्दिरोंमें देव-देवियोंको प्रणाम करनेको भी ले जा सकते हैं। उन्हें मूर्तिपूजा भी सिखावें। कण्ठी और तिलक धारण कराकर हिन्दूधर्मका गौरव बढ़ावें, इससे आपका भी कल्याण होगा।

१८-८-५० को मकूपा (मोम्बासा) में दिया गया प्रवचन।

वेदों की उत्पत्ति

(२९)

भाइयो और बहनो! तुम्हारे सामने मुझे पहले अपने परिचयकी बात करना चाहिये। भाई श्री काशीरामजी मेरा परिचय देने को खडे हुए थे। मैंने उन्हें मना किया है। वे मेरे पुराने परिचित हैं। वे मेरे आत्मा हैं। आप भी उन्हींके समान हैं। फिर भी श्रीकाशीराम भाईका काम कुछ अंशमें मुझे कर लेना चाहिये। इसलिये आवश्यकताके अनुसार मैं अपना परिचय देता हूँ। मैं एक यात्री हूँ, मोम्बासाके मेरे परिचित श्री एम. डी. जोशीने और उनकी बडी बहन गङ्गास्वरूप श्री सन्तोष बहनने मुझे इस देशमें आनेके लिये आमन्त्रण दिया। मैं पहलेसे ही इस ओर आनेका इच्छुक था, अतः मैं आगया। मुझे इस देशमें अनुभव प्राप्त करना है। मेरे भारतीय भाई यहाँ किस प्रकारसे रहते हैं, उनके आचार-विचार, रहनेकी पद्धति और दूसरा जो कुछ उनके सम्बन्धमें जानने योग्य हो वह सब जानना चाहिये। आप भी भारतीय हैं, आपको भी मैं पहचानूँगा। मेरा कोई मठ नहीं है, मन्दिर नहीं है। इसी प्रकार दूसरी ऐसी एक भी वस्तु नहीं है, जिसके लिये मुझे फंड-चन्दा माँगना पडे। मुझे आपसे एक भी सेन्ट नहीं चाहिये। आप यहाँ हैं इससे मैं आपके साथ उतरा हूँ। नहीं तो मैं तो यहाँ की किसी होटल में उतरा होता और मुझे जो देखना है वह देखता। इसके सिवा मेरा कोई परिचय नहीं है। अब हम आगे चलें।

यहाँ मुझे क्या कहना चाहिये, यह मैं नहीं जानता। यहाँकी हिन्दू जनताको क्या चाहिये, इससे मैं सर्वथा अपरिचित हूँ। इसलिये आप-लोग ही जिस विषय पर मुझे बोलनेको कहें उसी विषय पर बोलूँ। (दो तीन मिनट तक चुप रहनेके बाद एक भाई ने कहा वेद की उत्पत्तिका हम लोगोंको उपदेश दें।)

जिस विषयको आपलोगोंने ढूंढा है, वह मुझे तो प्रिय है, पर आपको कठिन लगेगा इसका मुझे भय है। फिर भी यथाशक्य आपको समझानेका प्रयत्न करूँगा। परन्तु मुझमे एक दोष है। उसे आपको बता देता हूँ। मेरी मातृभाषा गुजराती नहीं है, इस कारणसे मुझे शीघ्र आपकी भाषाके सीधे और सादे शब्द नहीं मिल जाते। इसलिये मुझे संस्कृतके शब्दोंसे काम चलाना पड़ता है। मै प्रयास तो करता रहता हूँ कि सादी भाषा ही बोलूँ, यहाँ भी प्रयत्न करूँगा, पर मुझे भय है कि मेरा यह दोष यहाँ भी मेरे साथ ही रहेगा। अच्छा हम आगे चलें।

वेद शब्द का अर्थ है ज्ञान। वेदोंको हम ज्ञानका भण्डार मानते हैं। मैं ऐसा नहीं कहता कि वेद "इन्साइक्लोपीडिया" (विश्वकोष) है। मैं तो आपसे इतना ही कहना चाहता हूँ कि मनुष्यको जिस ज्ञानकी, जिस वस्तु ज्ञानकी आवश्यकता सामान्य रीतिसे होती है, वह सब वेदोंमे है। आप मुझे पूछें कि गौरैया पक्षीका नाम वेदमें है? तो मै ना कहूँगा। आप पूछेंगे कि भात पकाने की बात वेदमें है? उसके लिये भी मैं ना कहूँगा। पर यह कहूँगा कि इन सबका मूल वेदोंमें है। वेदोंमें मनुष्य हैं, पशु हैं, पक्षी हैं, कल्पकी दृष्टिसे मनुष्य जाति के विभाग हैं, भूगोल विद्या है, खगोल विद्या है, अर्थशास्त्र है, गणितशास्त्र है, और सबसे बडी वस्तु धर्म-विज्ञान भी है। इस प्रकारसे वेदोंमें सब है। सभी मौलिक-तत्त्व और पदार्थो का ज्ञान वेद हमें देता है। इसीसे उसका नाम वेद है। वेदका अर्थ ज्ञान है। अतः वेद ज्ञानका भण्डार है इसे मै आपके मस्तिष्कमें भरना नहीं चाहता। नामसे खिचने या आकृष्ट होनेका कोई कारण नहीं है। अन्धेका भी नाम कमलनयन हो सकता है। और भिखारीका भी नाम कुबेर होता है। ऐसे ही वेदका अर्थ ज्ञान है इसलिए वह ज्ञान-भण्डार है, मै ऐसा नहीं कहना चाहता। पर चाहे जब मै यह सिद्ध करनेको तैयार हूँ कि वेदोंमें ज्ञान भरे पडे हैं। इसीसे मैं उसे ज्ञानराशि, ज्ञानभण्डार और ज्ञानग्रन्थ मानता हूँ। वेदोंके लिये बहुत सुन्दर भाषा और परिभाषाका प्रयोग करनेवाला सबसे पहला मनुष्य दयानन्द

है। दयानन्दने कहाकि "वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है।" इतना सुन्दर वाक्य वेदके अवतारकालसे लेकर उनके पहिले किसीने व्यवहृत नहीं किया। वेदोंमें भौतिकज्ञान, विज्ञानके सिवा धार्मिक विज्ञान, आध्यात्मिक विज्ञान भी भरा हुआ है। ज्ञान-विज्ञान शब्दसे मैं आपको शंकराचार्यके अद्वैत, रामानन्द तथा रामानुजके विशिष्टाद्वैत और वल्लभके शुद्धाद्वैतकी ओर खिंच जानेके लिये नहीं कहता हूँ। यह तो नाममात्रका भेद है। सभी आचार्योंकी साध्य वस्तु एक ही है। सभीके आदर्श समान हैं, और सभीके साधन भी वहाँ तक एक ही हैं जहाँ तक हम ब्रह्मदर्शन या भगवत्साक्षात्कारके द्वार तक पहुँचते हैं। दर्शनके लिये जब एक ही सेकण्डका विलम्ब रह सकता है, तब तक शंकरके ज्ञानमार्गके और विशिष्टाद्वैतके भक्तिमार्गके साधन समान ही हैं। जो यम, नियम शंकर को इष्ट हैं वही यम, नियम रामानुजको भी इष्ट हैं। उनके बिना भक्ति मार्गमे पाँव भी नहीं रक्खा जा सकता। सामान्यरीतिसे आपलोग कहा ही करते हैं कि हम भक्ति करते हैं। आपके उपदेश भी आपको उतना ही कहते हैं और सुनाते हैं जितना आप जानते हैं। आपको आगे ले जाने का प्रयास कोई नहीं करता क्योंकि वे स्वयं आगे गये हुए नहीं होते। और आपको वह रुचिकर भी नहीं। मुझे कहने दे कि आप भक्तिकी दिशामें प्रयाण नहीं करते—आपने पैर ही नहीं उठाया है। किन्तु इस विषयको आज स्पर्श नहीं करना है। आज तो वेदोत्पत्तिका ही विचार करना है।

ससारके सभी विद्वान् इस विषयमे एकमत हैं कि विश्वके पुस्तकालयमे प्रथम ही आनेक लिये जो पुस्तक भाग्यशाली हुआ है वह केवल भगवान वेद थे। वेदोंको हम ईश्वरीय-ग्रन्थके रूपमें मानते हैं, और आजका मुख्य विषय उनकी उत्पत्तिका समझाना है। यह समझाना कठिन तो अवश्य है, पर जिस प्रकारसे वेद ईश्वरीय-ग्रथ हैं उसी प्रकारसे दूसरे ग्रन्थ भी ईश्वरीय-ग्रन्थके रूपमें पीछेसे अस्तित्वमे आये। जन्दावस्ता तो वेदके साथ ही साथ चलनेवाला ग्रन्थ है। यह पारसी बन्धुओंका धर्म-

ग्रन्थ है। फिर तो जैनोंका धर्मग्रन्थ, बौद्धोंका धर्मग्रन्थ, ईसाइयोंका धर्मग्रन्थ, फिर मुसलमानोंका धर्मग्रन्थ। जैनोंके सूत्रग्रन्थोंमें से कितने ही तीर्थङ्करोंकी वाणी मानी जाती है। बौद्धग्रन्थोंमें से अधिकांश बुद्धकी वाणी है। इससे वे भी ईश्वरीय ग्रन्थ ही हैं। अन्तर इतना ही है कि दूसरे ग्रन्थोंको शरीरधारियोंने तैयार किया है, जबकि वेद और कुरानके लिये ऐसा नहीं है। यह ईश्वर और खुदाकी वाणी है और दोनों ही शरीरधारी नहीं हैं। इन दोनों धर्मग्रन्थोंकी एक विलक्षण पद्धति है और वह समान ही है। कुरानशरीफकी उत्पत्तिकी पद्धतिने वेदोत्पत्तिकी पद्धतिको समझने समझानेके लिये स्पष्ट और निष्कंटक मार्ग बना दिया है। यत्रोभयोः समो दोषः परिहारोपि तत्समः" जहाँ दोनोंमें समान ही दोष होते हैं वहाँ उसका उत्तर भी समान ही होता है। इसलिये कोई एक दूसरेको दोष दृष्टिसे देख सकनेमें समर्थ नहीं है। कुरानशरीफ फरिश्ताके द्वारा ही पृथ्वीपर उतरा है और भगवान् वेद भी ब्रह्माके द्वारा ही प्रकट हुए हैं। खुदा और ईश्वर दोनों ही गैरमुजस्सिम-अशरीरी हैं। इन दोनोंमें यदि अन्तर ढूँढे तो इतना ही मिलेगा कि एक सृष्टिके आरम्भमें प्रकट हुआ है और दूसरा आजकी दुनियाँ में प्रकट हुआ है। पर दोनों ही ईश्वरीय किताबके नामसे प्रख्यात हैं। हम वेदको ईश्वरीय ग्रन्थ मानते हैं और इस्लाम कुरानको खुदाई किताब मानता है। अब मैं भगवान् वेदोंके प्राकट्यकी रीति समझाता हूँ।

ईश्वरके मुख, कंठ, तालु, ओष्ठ आदि वर्णोच्चार करनेके स्थान तो नहीं ही हैं। इसलिये वह बोल नहीं सकता, बिना बोले कोई ग्रन्थ पढ़ाया नहीं जा सकता। "अपाणिपादो जवनोग्रहीता पश्यत्यचक्षुः।" इत्यादि श्रुतियोंके द्वारा उसके शरीर होनेका निषेध किया गया है। गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने भी कहा है—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु कर्म करै विधिनाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी वक्ता बड़ जोगी॥

मुण्डक उपनिषद मे ब्रह्म को "यत् तदद्रेश्यम् अग्राह्यम् अगोत्रम् अवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रम् तद् अपाणिपादम्" कहकर ब्रह्म के अवयवो का निषेध किया गया है। पर वहाँ ही कहा है कि "तस्माद् ऋचः सामयजूंषि" उस ब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, और यजुर्वेद प्रकट हुए। तैत्तिरीय उपनिषद मे "यः छन्दसाम् ऋषभो विश्वरूपः" भूः इतिवा ऋचः भुवः इति सामानि, सुव. इति यजूंषि, महः इति ब्रह्म ब्रह्मणावाव सर्वे वेदा महीयन्ते" श्वेताश्वतर में कहा है—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥" इन सभी श्रुतियों में एकही प्रकार से कहा गया है कि वेद ईश्वरसे ही प्रकट हुए हैं। पुरुषसूक्तमे भी ईश्वरसे ही वेदोत्पत्ति बतायी गयी है। अतः हमारी आर्षप्रणालीसे यह वस्तु स्पष्ट है कि वेद ऐसे अतीतकालमे प्रकट हुए हैं जहाँ मनुष्यों का पता नहीं लगता। इससे उनको प्रकट करनेवाले किसी मनुष्यकी कल्पना नहीं की जाती। पुरुषसूक्तमे जो "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः" कहा है उसका यह अर्थ ही नहीं है कि उसके हजार सिर हैं, हजार आँखें हैं, हजार पग हैं। इस मन्त्रमें सहस्र शब्द का अर्थ अनन्त है। उसके अनन्त सिर, अनन्त नेत्र, और अनन्त पग हैं। और यह अनन्त सिर आदि दूसरा कुछ नहीं, जगत् के प्राणियोंके शिर ही उसके शिर माने गये हैं। हम सबों की आँखें ही उसकी आँखें हैं। हमारे पग ही उसके पग हैं। "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेय" इस श्रुतिको मानकर ऐसा ही कहा जायगा कि परमात्माने बहुभवनकी इच्छाकी और इस इच्छाकी पूर्तिके लिए स्वयं उत्पन्न होनेका उसने विचार किया। फिर वह हमारे, आपके और दूसरे सबके रूपमें प्रकट हुआ। यदि इस जगतको परमेश्वररूप माननेमे आपको श्रम पडता हो तो "तत् कृत्वा तदेव अनुप्राविशत्" इस श्रुतिको मानते हुए ऐसा मानें कि परमात्मा इस जगतमें व्यापक है। मुझमें और आपमें भी वह रहता है। इस व्यापकताकी दृष्टिसे भी वह अनन्तशीर्षा

बन सकता है। अथवा तो विशिष्टाद्वैत वेदान्तकी पद्धतिमें समस्त जगत् और समस्त जीवसमूह उस परमात्माके अङ्ग हैं, विशेषण हैं, शरीर हैं। परमात्मा शरीरी है। हम सब उसके शरीर हैं। इसलिये हमारे, आपके, उनके शरीर और शरीरावयव उसीके कहे जाते हैं। इस रीतिको यदि न मानों और उसके सहस्र मस्तक, सहस्र आँखें, सहस्र पग हैं ऐसा मानने का आग्रह रखेंगे तो वह परमात्मा काना और लंगडा ही बनेगा। क्योंकि संसारमें हम एक सिरमें दो आँखे देखते हैं। उसके तो हजार सिरोंमें हजार ही आँखे हैं। हिसाबसे हजार माथेमें दो हजार आँखे चाहिये। ऐसे ही उसके पग भी दो हजार होने चाहिये। ऐसा न होनेसे वह काना, लंगड़ा ही माना जायगा और कान खजूरे की भाँति बेडौल भयंकर परमात्मा बनेगा। 'यस्य निश्वसिता वेदाः" कहकर श्रुतिने कहा कि वेदोंको उत्पन्न करनेमें परमेश्वरको थोडा भी श्रम नहीं हुआ जैसे आप श्वास-प्रश्वासकी क्रिया करते हैं और आपको खबर भी नहीं पडती कि आपने कब श्वास लिया और कब छोडा। इसी प्रकार परमात्माने अनायास ही इस ज्ञानभण्डारका उपदेश किया।

अब एक ही प्रश्न विचारनेको रहता है कि परमेश्वरने वेदोंको किसके द्वारा प्रकट किया। अपने शास्त्र मानते हैं कि सृष्टिके आदिमें परमात्माने अनेक ऋषियोंको उत्पन्न किया। उनमेंसे एक ब्रह्मा ऋषि थे, उनके द्वारा ये वेद प्रकट किये गये हैं। पहले मैं आपके सामने एक श्रुति कह गया हूँ। उसके अनुसार वेदोंकी उत्पत्तिका द्वार वही ब्रह्माजी ही हैं। शतपथ ब्राह्मणमें अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा ऐसे चार ऋषियों द्वारा क्रमसे चार वेद प्रकट हुए, ऐसा कहा गया है कि यदि संगति ही लगानी हो तो ऐसा कहें कि जब ब्रह्माजी ईश्वरकी आन्तरिक गुप्त प्रेरणासे ऋग्वेद का पाठ कर गये तब उनके मुखका नाम अग्नि पडा। जब यजुर्वेदका पाठ उन्होंने किया तब उनके मुखका नाम वायु पडा, जब सामवेद बोले तब उनका मुख आदित्य कहलाया। जब अथर्ववेद बोले तब उनका मुख अङ्गिरा कहलाया। संगति करनेकी

इच्छा न हो तो इतना ही मानना कि किसी न किसी ऋषिके द्वारा ही ये वेद प्रकट हुए हैं। पर ऐसा तो मानना ही नहीं कि इन चारों वेदों को पुस्तकके रूपमें भगवान्‌ने प्रकट किया है। उस समय पुस्तकप्रथा नहीं थी। लिखनेकी कला भी नहीं थी। कोई लिपि भी नहीं थी। ब्राह्मी आदि लिपियाँ तो बहुत पीछेसे अस्तित्वमे आयी। अतः परमेश्वरने वेदोंका मौखिक ही उपदेश किया।

वेदोंके चार नाम क्यों पडे, इसके कारणका विचार अब करता हूँ। ऋक् अर्थात् ऋचा, ऋचा का अर्थ है छन्दोबद्ध काव्य। वेदका जितना भाग किसी न किसी छन्दमे लिखा हुआ है उतने भागको ऋक् अथवा ऋग्वेद कहा गया। जो मन्त्र ष, ऋ, गा, म, प, धै, नि इन सप्तस्वरोंके स्पष्ट आरोह अवरोह के साथ गाने योग्य माने गये उनकी संज्ञा साम पडी। सामवेदमें बहुत साम है जो अलग-अलग अवसर पर गाये जाते हैं। सामसमूह होनेसे उसे सामवेद कहा गया। वेदमे जो गद्यात्मक वाक्य हैं उनका नाम यजुः पडा। इससे वह यजुर्वेद कहलाया। अथर्वाऋषिके प्रयाससे ये संज्ञाएँ रखी गयी थीं, इसलिये जो भाग ऐसी मुख्य संज्ञाओंसे अलग रहा वह अथर्वाके नामसे प्रख्यात हुआ। अतः अथर्ववेद ऐसा नाम पडा। ऐसा माना जाता है कि उपदेशकालमें वेदोंके चार भाग नहीं थे। केवल 'वेद' संज्ञा ही थी। पश्चात् आवश्यकता देखकर वेदव्यासने उसे चार भागोंमे विभक्त किया। वेद को त्रयी नामसे भी विद्वद्गण जानते हैं। ऋक्, यजु, साम ऐसे मुख्य तीन विभाग होनेसे वेदत्रयी कहे जाते हैं। 'चारों वेदोंमें कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनका उपदेश हुआ है, इससे भी वे त्रयी कहलाते हैं। वेदोंके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक ऐसे भी पीछेसे तीन विभाग हुए। इससे भी वे त्रयी कहलाते हैं। संहिताका अर्थ है समूह। वेद जब विभक्त नहीं, अविभक्त थे तब वे सहिता कहलाते थे। आज भी उनका वह नाम स्थिर है, इसलिये वे ऋग्वेद सहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता इत्यादि रीतिसे कहे जाते हैं। विद्वानोंमे वेदोंके लिये ब्रह्मन् शब्द भी प्रचलित है। ब्रह्मन्‌की–

वेदकी व्याख्याको ब्राह्मण कहते हैं। चारों वेदोंके पृथक्-पृथक् चार ब्राह्मण हैं। अरण्य अर्थात् जङ्गल। अरण्यमें बैठकर ऋषियोंने जिसका निर्माण किया उसे आरण्यक कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में जो बृहदारण्यक शब्द है वह इसीके कारणसे है। ये तीनों भाग कर्मकाण्डके साथ जुड़े हुए हैं। अतः उस समय वेदोंका उपयोग कर्मकाण्डमें ही विशेषरूपसे होता था। लोग यज्ञादिके सिवा मोक्षके लिये दूसरामार्ग ग्रहण नहीं कर सके थे। उपनिषदें पीछेसे आयीं। उन्होंने यज्ञका विरोध किया। मोक्षके लिये यज्ञकी आवश्यकता नहीं है। उपनिषदोंने ऐसी घोषणाकी, तबसे मोक्षके लिये ज्ञान और उपासनाके मार्ग ढूँढ़े गये।

अब समय अधिक हो गया। लगभग ११ (रातके) होनेको आये। अब एक ही बात कहकर समाप्त करूँगा। ऐसा कहते हैं कि वेद अनन्त हैं। वेदकी अनन्तता उनके अक्षर, शब्द और वाक्योंपरसे नहीं समझना है। अक्षर आदि अनन्त नहीं हो सकते। किसीकी इच्छा हो तो वह इनसाइक्लोपिडिया जैसे महान् ग्रन्थके अक्षरोंकी भी एकाध वर्षमें गिनती कर सकता है। वेदको अनन्त माननेका कारण केवल यह है कि उनकी रचना इस प्रकार की गयी है, उनके शब्द ऐसे हैं कि लाखों वर्षों तक भी इतने ही मन्त्रोंमें से नये-नये अर्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं। अभीतक ऐसा ही होता आया है। निरुक्तकार यास्काचार्य कहते हैं कि वेद तो अश्वके समान है। घुड़सवार जितना अच्छा और निपुण होगा उतनी सुन्दर गति अश्वमें उत्पन्न कीजा सकती है। इसी प्रकार जितना अच्छा विवेचक होगा उतने ही अच्छे-अच्छे अर्थ उत्पन्न किये जा सकेंगे। इस दृष्टिसे वेद अनन्त माने जाते हैं। बस।

२-८-५० को टांगामें दिया गया प्रवचन।

एक पत्रका उत्तर

(३०)

भाइयो और बहनो ! मैं रविवारको जब १०½ बजे (रातमे) यहाँसे मेरे निवासस्थानको गया तब एक भाईने मुझे एक पत्र दिया । वह पोष्टसे मुझे भेजा गया था । दूसरे दिन सोमवार मौनदिवस था । मङ्गलवारको मैं लुशोटो और उसके आसपासकी द्रष्टव्यवस्तुएँ, स्थान, संस्थादि देखने गया । और आज गुरुवारको शामके ४ बजे वापस आया हूँ। इसलिये उस पुत्रका उत्तर इस सभामें आज दूँगा । इस पत्रमें मुझसे पूछा गया है कि "भारतको स्वतन्त्रता मिली है, उसको स्थिर रखनेके लिये और शोभित करनेके लिये हम क्या कर सकते हैं । हमें क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नसे मै प्रसन्न हुआ हूँ । आप लोग हजारों मील दूर रहकर भी अपनी मातृभूमिको भूल नहीं गये हैं । उसके सुख-दुःखकी चिन्ता आपके हृदयमे बनी हुई है, यह गर्व करने जैसी बात है। जिस मिट्टीमें से आप उत्पन्न हुए हैं, जिस भूमिने जितना बना, आपके लिये अन्न उपजाकर दिया, आपको अपनी छाती फाड़कर पानी भी, जितना चाहिये उतना दिया । आपके शरीरको ढँकनेके लिये भी जिस पृथिवीमाताने आपको पवित्र कपास पैदा करके दिया, जिस भूमिको सदा आपकी चिन्ता रही है, उसे आप न भूलें, इसमे आपके देशप्रेमका, मातृभूमिकी श्रद्धाका और कृतज्ञताका सुन्दर स्पष्ट दर्शन होता है। अब हम पूछे हुए प्रश्नकी छानबीन करें । पहले तो भारतकी स्वतन्त्रताको शोभित करनेकी बात करे । किसी भी देशको शोभित करनेके लिये आज धन और जनकी आवश्यकता है । धनके बिना प्रजा-भूखसे तड़पती है, धनके बिना नग्न रहनेकी दशा आती है, और जनके बिना देशमें शून्यता, नीरवता और भयंकरता प्रतीत होती है । इसलिये धन और जनकी आवश्यकताको मैं मानता हूँ । पर मेरी दृष्टिमें एक दो दूसरी भी वस्तुएँ हैं कि जो किसी भी देशकी स्वतन्त्रता, मान, प्रतिष्ठाको स्थिर रखनेके लिये उपयोगी मानी जा सकती हैं । पहली वस्तु, उस देशके

निवासियोंके शुद्ध, निर्मल, आदर्श आचार-विचार हैं। देशमें पुष्कल धन हो, पुष्कल जन हों, केवल इसीसे वह समृद्ध, उदात्त, और प्रशस्त नहीं गिना जा सकता। भले ही देश दरिद्र हो, बस्ती भी बहुत ही कम हो, पर जहाँके लोग स्त्री-पुरुष पूर्ण शुद्ध सदाचारका पालन करते हों, परस्परमें प्रामाणिक व्यवहारोंका निर्वाह करते हों, असत्य, दुराचार, शराब, तमाखू, बीडी, सिगरेट आदि दुर्व्यसन और अनाचारसे अलग रहते हों वही देश सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है। भारतवर्षकी स्वतन्त्रता को शोभित करनेके लिये इससे अधिक कोई अच्छी वस्तु नहीं है। जब देश परतन्त्र था, अंग्रेजों की वहाँ सत्ता थी, उनका वहाँ सम्पर्क था, तब बहुतसे दुर्गुण भारतियोंमे आगये थे। अब तो उनका सम्पर्क गया, तब वे सभी दुर्गुण जाने चाहिये। उन दुर्गुणोंसे प्रत्येक भारतीयको लज्जा और दुःखका अनुभव होना चाहिये। मेरी मातृभूमि कलङ्कित न हो, ऐसी हार्दिक चिन्ता प्रत्येक भारतीय रखेगा तो देश अवश्य शोभित होगा। उसकी स्वतन्त्रता को स्थिर रखनेके लिये सबसे मुख्य दो वस्तुएँ हैं। उन दो में से एक अस्पृश्यता निवारण है। हम लोग ठहरे हिन्दू। हमारे ऊपर कितने ही ऐसे ग्रन्थोंके माननेका भार रखा है कि जो हमारी भारतीय संस्कृति के लिये कलङ्करूप हैं। ऋग्वेद् पृथ्वीके समस्त मनुष्योंको परमेश्वरके पुत्र मानता है। पिता-पुत्रकी भावना ईसाईधर्ममें से ही आयी हो, ऐसा कदापि नहीं है। हमारे वेदोंमे भी यह भावना सृष्टिके आरम्भकालसे विद्यमान है। सबको अपना बन्धु माननेकी भावना ही वैदिक भावना है। यही आर्य संस्कृतिका मूल है। पर हमारे कितने ही ग्रन्थ हमसे कहते हैं कि हम अमुक मनुष्यका स्पर्श करें, और अमुकका न करें। जिसके स्पर्श करनेकी मनाई है उसको छूनेका पाप और प्रायश्चित्तका विधान है। मैं कहता हूँ कि इस प्रकारका विचार मानवताके पतनकी सूचना देता है। एक मनुष्यको न छू सके ऐसा विचार ही पापी और जगली प्रतीत होता है। मनुष्य कुत्तेको छूता है, बिल्लीको छूता है, बकरेको छूता है, भेडको छूता है,

मांसाहारीको छूता है, बीडी-सिगरेट आदि पीनेवालोंको छूता है, तब अमुकको स्पर्श न करनेकी बात कैसे की जा सकती है ? हिन्दू— केवल पाखण्डी हिन्दू ही कहते रहते हैं कि अन्त्यजोंका स्पर्श नहीं किया जा सकता। उन लोगोंको मदिर या ऐसे ही किसी पवित्रस्थानमें आनेकी स्वीकृति नहीं दी जा सकती, इसके लिये हिन्दूशास्त्रोंका आधार खोजा जाता है। शास्त्र तो पृथक् पृथक् विचारवाले लोगोंने लिखे हैं। वहाँ तो शराब पीनेकी आज्ञा भी मिल सकेगी, व्यभिचारकी भी आज्ञा मिल सकेगी "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" मनुने लिखा है कि मासभक्षण, मद्यपान और परस्त्रीगमनमें कोई दोष नहीं है। भागवत में लिखा है कि—

"लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्नहि तत्र चोदना"

व्यभिचार, मासभक्षण, मद्यपान आदि, लोकमें स्वाभाविक वस्तु हैं। ग्रन्थोंमें लिखा है इसलिये करना ही चाहिये ऐसा यदि आग्रह हो तो शास्त्रोंका एक भी सदाचार पालनकरनेकी आतुरता क्यों नहीं जागरित होती ? सत्यकी ओर, ध्यान क्यों नहीं दिया जाता ? वेदाध्ययनकी ओर क्यों इच्छा नहीं जाती ? ग्रन्थोंमें तो लिखा है कि जो ब्राह्मण वेदाध्ययन न करे, संन्ध्यावन्दन न करे, वह पतित हो जाता है। किसलिये मूर्ख ब्राह्मण, मूर्ख क्षत्रिय, मूर्ख वैश्यका शास्त्रके अनुसार सामाजिक बहिष्कार नहीं होता? और यदि अन्त्यजस्पर्शके निषेधकी बात शास्त्रमे होनेसे ही मान्य होती हो तो शास्त्रमे तो ऐसा भी लिखा है कि **राम-राम** करनेवाले चाण्डालके साथ भी खाने-पीनेके सब व्यवहार करना ही चाहिये। इसी प्रकार ऐसा भी कहा है कि जो **शिव-शिव** करता हो उसके साथ भी रहना चाहिये, खाना-पीना चाहिये और साथमें सोना चाहिये। भागवत मे भी जगह-जगह कहा गया है कि भगवद्भक्तकी कोई जाति नहीं है, उसका कोई वर्ण नहीं है, कोई आश्रम नहीं है। ऐसे वचन क्यों न माने जायें ? पर बात तो यह है कि "मैं बड़ा" यह बतलाना है। वह नही समझता है कि बडप्पन बतानेमे

ही नीचता भरी है। जिसे आप महापुरुष मानते हैं उनमेंसे एकने भी ऐसी गन्दी बातकी आज्ञा नहीं दी है। वैष्णवोंके इतिहासमें तो अस्पृश्यता जैसी वस्तु ही नहीं है। श्रीसम्प्रदायके महान् आचार्य स्वामी रामानन्दजीके प्रधान-प्रधान शिष्योंमेंसे एक रविदासजी भी थे। वे तो लोगोंके शब्दोंमें चमारकुलमें उत्पन्न हुए थे। पर वे मीराबाईके गुरु थे। चित्तौड़गढ़के किलेमें मीराबाईके मन्दिरके सामने ही उनकी चरणपादुका पधरायी गयी है। श्रीरामानन्दाचार्य तो महान् उदार और देशकालके अनुसार व्यवस्था बतानेवाले श्रीवैष्णाचार्य थे। उनकी बात छोड़ दें तो श्रीरामानुज सम्प्रदायमें, श्रीवल्लभ सम्प्रदायमें, श्रीचैतन्य सम्प्रदायमें, उसी प्रकार दूसरे वैष्णव सम्प्रदायोंमें भी कितने ही अन्त्यज बन्धु अपना इतिहास निर्माण कर गये हैं। शिवोपासकोंमें भी ऐसे कितने ही महापुरुष हुए हैं जो अन्त्यज अथवा अस्पृश्य गिने जाते थे। मद्रास प्रान्तके चिदम्बर महादेवके विशाल मन्दिरमें एक अन्त्यजकी प्रतिमाकी पूजा आज भी होती है। भागवत—जो ब्राह्मणोंकी प्रधान जीविका है— उसमें तो पूर्वकथानुसार भगवन्नामस्मरणसे ही सबको पवित्र हुआ माना गया है। भाइयो और बहिनो! आपको जीना है आजके जमानेमें। और आप चलना चाहते हैं हजार पांचसौ वर्ष पूर्वके ग्रन्थोंके बताए हुए मार्ग पर। यह कैसे हो सकता है? चक्कीका आटा गया, मशीनका आटा आया। कुएका पानी गया, नलका पानी आया। वेदविद्वान होकर सच्चे ब्राह्मण बनकर तपश्चर्या करनेकी परम्परा गयी और जन्मके साथ ही भरपूर गुलामी करना भाग्यमें लिखा गया। क्षत्रिय पराधीन, व्यसनी एवं निःसत्त्व बनगये, वैश्य स्वार्थी बने, तो भी यही कहते रहना कि शास्त्रकी आज्ञा मानकर अमुकका स्पर्श मेरे लिये अगम्य है, इस मूर्खताका, इस अज्ञानका क्या कुछ हिसाब है? ऐसी मूर्खताकी बातोंसे आप क्या अपने देशको उज्ज्वल कर सकेंगे? कभी नहीं। वास्तवमें हम शास्त्रका सहारा अपने कल्याणके लिये नहीं ढूँढ़ते हैं, पर दूसरोंको हैरान करनेके लिये, अपमानित करनेके लिये और अपना बड़प्पन जमानेके लिये। यदि कल्याणकी

भावनासे ही आर्षग्रन्थोंका और प्राचीन आचार-विचारोंका अन्वेषण होता तो आज ब्राह्मण, शूद्रोंकी स्थितिमें नहीं होते, क्षत्रिय गुलामोंकी दशामे न होते। सहस्रोंमें भी एक ब्राह्मणको संन्ध्या नहीं आती। यदि आती होगी तो सन्ध्यावन्दनकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। गायत्री मन्त्र शुद्ध नहीं आता। लाखमें एक चतुर्वेद वक्ता नहीं है। और करोड़में भी एक आज शास्त्रके अनुसार आचरण करनेवाला ब्राह्मण नहीं है। एक भी क्षत्रिय नहीं है और एक भी वैश्य नहीं है। यदि हम शास्त्रोंको मानते रहते तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न होती। इसके लिये शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं होती कि हम कैसे हैं। परन्तु दूसरा कैसा है इसके जाननेके लिये पाताल फोड़ कर भी ग्रन्थ बाहर लानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है! याद रखें, यदि अज्ञानतावश आप अस्पृश्यताको टिकी रहने देंगे तो आपमें कभी भी भारत स्वतन्त्रता कायम रखनेकी शक्ति नहीं ही आयेगी। आपके ३३ करोड़ देवता भी भारतकी आजादीकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं यह आप जानते ही हैं। अंग्रेजोंने आपके ३३ करोड़ देवताओंको और आपके ईश्वरको गुलाम बनाया था। किसी भी देवताने भारतको मुक्त करनेका चमत्कार नहीं दिखाया। यह चमत्कार जिस महापुरुषने दिखाया था वह मरते-मरते कहता गया है कि तुम अस्पृश्यताको निर्मूल करो। तुम करोडों अन्त्यजोंको यदि अस्पृश्य बनाकर रखना चाहते हो, यह अशक्य ही रहेगा। आज स्वमानका गौरव प्रत्येककी प्रियवस्तु बन गयी है। चाहे जिस बलिदानसे लोग अपनी प्रतिष्ठा और आत्मसम्मान बचावेंगे ही। यदि आप हिन्दूके समान सभी अधिकार हरिजनोंको—अन्त्यजोंको नहीं दे सकेंगे तो वे उस पक्ष में अवश्य जाकर रहेंगे जहाँ उनके सम्मान और स्वमानको चोट न पहुँचे। और यदि ऐसी करुणस्थितिको आप उत्पन्न करेंगे तो इसका निष्करुण फल भी आपके ही हिस्सेमें आवेगा। मुझे सप्रमाण सूचना मिली है कि आप यहाँ भी अस्पृश्यताकी ढोल पीटते हैं। इस राममंदिरमें यहाँके आदिवासी नहीं आ सकते हैं। यह अस्पृश्यता यहाँ भी आपको एक दिन अवश्य

खाजायगी। आपको यह मन्दिर और आप इस मन्दिरको नहीं बचा सकेंगे। सोमनाथकी दशा जानते हैं? काशीविश्वनाथकी कथा जानते हैं? अयोध्याकी रामजन्मभूमिकी बात जानते हैं? मथुरा-कृष्ण-जन्मभूमिकी बात और वृन्दावनमें गोविन्दमन्दिरकी बात जानते हैं? न जानते हों तो जान लेंगे।

देशकी स्वतन्त्रता रक्षित रखनेकी जो दूसरी बात है वह है सर्व-धर्म सहिष्णुता। आप यदि यह कल्पना करें कि भारतमें हिन्दूके सिवा कोई दूसरी जाति नहीं और दूसरा धर्म नहीं रहना चाहिये तो यही कल्पना देशको फिरसे परतन्त्र बना डालेगी। भारतके करोड़ों मुसलमानोंको आप देशमें से निकाल नहीं सकते। मुसलमानोंने भारतदेशको अपना देश बनाया है। किलोंसे, मकबरोंसे, मसजिदोंसे उन्होंने भारतको सौन्दर्य और समृद्धि दी है। भारतमाताने जैसे तुम्हारी राखको अपनेमें विलीन करनेकी उदारता दिखायी है उसी प्रकार अपना हृदय विदीर्ण करके लाखों मुस्लिम सन्तानोंको अपने भीतर विलीनकरलेनेका वात्सल्य भी उसने दिखाया है। अतएव ऐसी-ऐसी भूलें नहीं करनी चाहिये। भ्रातृ-भावसे रहेंगे, मानवताकी रक्षा करेंगे तो आप अवश्य अपनी मातृभूमिकी स्वतंत्रता सँभाल सकेंगे। बस।†

६-८-५० को टांगा में दिया गया प्रवचन।

† टांगामें ६ प्रवचन हुए थे। वहाँ रातमें ९ से १० फिर सवेरे ८ से ९ तक भाषणोंका समय रक्खा जाता था। रातमें भाषण लिखनेकी असुविधासे सभी भाषण नहीं लिखे जा सके थे। केवल यही दो भाषण ही लिखेगये थे।

शांतिका उपाय

(३१)

मेरी बहिनो और भाइयो! आज मुझे कहा गया है कि, मैं आपके सामने "शान्ति कहाँ और कैसे मिल सकती है" इसके ऊपर भाषण करूँ

अर्थात् इसका विवरण करूँ। शान्तिका विवरण करनेके पहिले मुझे आपको यह बताना चाहिये कि शान्तिका विरोधी कौन है ? जिस वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना हो उसमें विरोधीका ज्ञान आवश्यक है। शान्ति और अशान्तिका विरोध है। धर्म और अधर्मका विरोध हैं। प्रकाश और अन्धकारका विरोध है। अशान्ति क्यों होती है यह जान लेंगे तो शान्ति कैसे मिलेगी यह आप स्वयं जान लेंगे। अशान्तिका जन्म अनेक कारणोंसे होता है। कुछ कारण ये हैं—जब मनुष्यकी इच्छा तृप्त नही होती, पूर्ण नहीं होती, तब उससे अशान्तिका जन्म होता है। मनुष्य इच्छाओंके परे नहीं जा सकता है। एकाध इच्छा यदि किसी प्रयत्न बलसे पूरी हो जाती हो, तो फिर तत्काल ही दूसरी इच्छा मनमे हुए बिना रहती ही नहीं। एक इच्छा पूरी न हुई हो या न हो सकती हो तथापि दूसरी तैयार ही रहती है। मनुष्य इच्छाओंकी ही सृष्टिमे जीना चाहता है। किसीकी सभी इच्छाएँ पूरी हों ऐसा कभी होता ही नहीं है। कितनी ही इच्छाएँ अपूर्ण-अतृप्त ही रहती हे। यह अतृप्ति ही अशान्तिको उत्पन्न करती है। इच्छा मनुष्यजातिकी सबसे अधिक बलवान् शत्रु है। इस इच्छाने ही मनुष्यको बन्धनमें—कठोर बन्धनमे बाँध रखा है। इच्छा और संकल्प लगभग समानार्थक हैं। ये दोनों मनके धर्म हैं। मनके धर्मों या विकारोंकी जहाँ-जहाँ हम गणना करते हैं वहाँ काम प्रथम गणनामें आता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, इस प्रकार छह विकार हैं। उनमें काम प्रथम और क्रोध दूसरा है। भगवान् कृष्णने गीतामें कहा है कि "काम एष क्रोध एषः" काम ही क्रोध है इसका तात्पर्य यह है कि काम = इच्छा जब प्रतिघातित होती है—इसके विरोधमे कोई वस्तु खड़ी होती है, तब तुरन्त ही वह क्रोधरूपमे परिणत हो जाती है। यह नित्यका उदाहरण है। एक छोटा-सा बालक है। माता उसे कहती है कि तुझे यह काम नहीं करना है। बालक हठ पकड़ता है और वही काम करता रहता है। माँ क्रुद्ध होती है, क्योंकि बालकने उसकी इच्छाका विघात किया है। बालक भी क्रुद्ध होता है, क्योंकि माँने उसकी

इच्छाका विघात किया है। एक मनुष्य कोर्टमें जाकर दूसरेकी कोई वस्तु अपनी साबित करके ले लेता है, झूठ बोलकर भी उसको प्राप्त करता है। एक मनुष्य उसके विरोधमें साक्षी देता है। इसके परिणाममें उसे वह वस्तु नहीं मिलती। इससे उसके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होता है। एक राजाको दूसरे राज्यमेंसे थोड़ी जमीनकी जरूरत है। वह जमीन जब नहीं मिलती तब उसे क्रोध होता है। आपको बाजारमेंसे किसी वस्तुकी आवश्यकता हो, और कई कारणोंसे आप उसे न पा सकते हो तो आपको क्रोध होता है। इच्छाविघातके परिणामसे क्रोधके साथ ही असह्य वेदना भी उत्पन्न होती है। वह वेदना प्राणघातक होती है। मैं अहमदाबादकी एक सत्य घटना जानता हूँ। सन् १९४२-४३ का समय भारतके लिये बहुत भयङ्कर था। भारतीय व्यापारी मायाके चक्करमें अच्छी तरह आ गये थे, एक पैसेकी वस्तुको दस पैसेमें भी देनेके लिये उस समय वे तैयार नहीं थे। एक बहिनको शरीर ढाँकनेके लिये साड़ी चाहिये थी। साधारण समयमें उस साड़ीकी कीमत दो रुपयेसे अधिक नहीं थी। वह दस रुपये लेकर बाजारमें गयी। किसी व्यापारीने साडी नहीं दिया, उन लोगोंको जितने पैसे चाहिये थे, उतने पैसे उस बहिनके पास नहीं थे, उतने पैसे देनेकी उसकी शक्ति भी नहीं थी। उसने जब देखा कि वह अपनी लाज ढाँकनेमें तो लोभियों और अविवेकियोंकी दुनियामें असमर्थ है, तब उसने आत्महत्या कर ली। आत्मघातका उलटा अर्थ मत समझना। मैं जानता हूँ कि "नायं हन्ति न हन्यते"। आत्माका कभी भी नाश नहीं होता। इसलिये आत्मघातका अर्थ केवल शरीर नाश है। जिस शरीरके धर्मोंके पालन करनेमें वह बहिन असमर्थ हुई उस शरीरका उसने अन्त कर दिया। यह इच्छा विघातका ही परिणाम है। कितनी ही बार घरके नित्य कलह, क्लेशसे भी अशान्ति उत्पन्न होती है। पिता जब पुत्रकी इच्छाका विरोध करता है तब घरमें अशान्ति पैदा होती है। पति-पत्नी जब एक दूसरेकी इच्छाका विरोध करते हैं तब घर नरकागार

बनता है। सास और बहूका झगडा तो कोई ही ऐसा भाग्यशाली घर होगा जहाँ न होता हो। कुछ अशान्ति ऐसी भी होती हैं कि जिसका मूल मनुष्यकी मूर्खतामे होता है। मनुष्य भ्रमके कारण या अज्ञानके कारण हमेशा अशान्त ही रहता है। एक मनुष्य प्रह्लाद या ध्रुव बननेकी इच्छा करता है। वह इच्छा पूर्ण नहीं होती। तब वह अशान्त बनता है। वह विचार नहीं कर सकता कि प्रह्लाद बननेके लिये हिरण्यकशिपुके ही घर जन्म लेना पडता है। हिरण्यकशिपुकी पत्नीके ही गर्भागारमें जाना पडता है। प्रह्लादके समान ही गर्भमें भगवद्भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न होना चाहिये। यह सब वह भुलाकर प्रह्लादके समान नृसिंह दर्शनकी इच्छा करता है। ऐसी इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। अतः वह अशान्त बनता है। वह ध्रुव बनना चाहता है पर वह नहीं जानता कि ध्रुवको ध्रुव बनानेवाली ध्रुवकी सौतेली माँ और उसका अविवेकी कामान्ध बाप था। फिर भी वह ध्रुव बनना चाहता है। बन नहीं सकता। तब वह अशान्त बनता है। रामने तुलसीदासको तिलक किया और कृष्णने सूरदासको हाथ पकड़कर कुएँमें से बाहर निकाला। इसलिये मुझे भी तुलसी और सूर बनना है, तिलक कराना है, हाथ पकड़ाना है। कृष्णने नरसी मेहताकी हुण्डीका स्वीकार किया इसलिये मुझे भी मेहता बनना है, पर वह बन ही नहीं सकता। हुण्डी स्वीकार करनेवाला कोई कृष्ण नहीं आता। यहाँ मनुष्य विवेक नहीं करता, बुद्धिका उपयोग नहीं करता कि ये सब कथाएँ मनोरञ्जनके लिये ही रची गयी हैं। भगवान् किसीको तिलक नहीं करते फिरते। किसीको कुएँसे बाहर नहीं निकालते। किसीकी हुण्डीका स्वीकार नहीं करते। ये सब बातें पागलों की हैं। भगवान् रोज हुण्डी स्वीकार करनेका धंधा करे, इससे तो यही अच्छा हो कि जिस प्रकार सुदामाको अपार सम्पत्ति दे दी उसी प्रकार मेहताको भी देकर कोई महाराजा बना देता। ऐसे-ऐसे क्षुद्र कामोंके लिये अपने भगवान्का उपयोग करना यह निरी मूर्खता है। ध्रुव और प्रह्लादकी कथाएँ भी ऐसे ही रची गयी हैं। यदि सत्य ही

घटना हो तो आज लाखों वर्षोंके बाद भी दूसरा ध्रुव या प्रह्लाद क्यों उत्पन्न नहीं हुआ। किसी भी घटनाकी पुनरावृत्ति होनी ही चाहिये। ऐसा कहना कि किसीको वैसी भक्ति मिली ही नहीं, यह भी पूर्वोक्त पागल की ही बात है। इस प्रकार बहुत बार मिथ्याज्ञान, मोह, भ्रम, लोभ और अविद्याके कारण मनुष्य अशान्त बनता है। अशान्तिमें से ही शान्तिका जन्म होता है। पर इस प्रकारकी अशान्ति कभी शान्ति उत्पन्न नहीं कर सकती। जो अशान्ति विवेकके परिणामसे अथवा वैराग्यके परिणामसे उत्पन्न होती है वही शान्तिका सर्जन करती है। विषयरसास्वादके लिये प्रख्यात बने हुए भर्तृहरिको उसकी पत्नीके असद् व्यवहारके कारण अशान्ति हुई। शीघ्र ही विवेकने और वैराग्यने उसके हृदयपर अधिकार किया। वह शान्तिके मार्गपर गया। उसे भान हुआ कि तन, मन, धन और सम्पूर्ण हृदयकी ममता अर्पित कर देनेपर भी किसीको जीता नहीं जा सकता। इसलिये उसके हृदयमें अशान्ति हुई और वह शान्तिके मार्गपर बढ़ा। भगवान् बुद्धने जब मार्गमें ले जाते हुए मुर्देको देखकर साथियोंसे पूछा "यह क्या है?" उत्तर मिला "मुर्दा।" "कहाँ लेजाया जारहा है?" "श्मशानमे।" "किसलिये?" "जला डालनेको।" "अब यह लौटकर नहीं आयेगा?" "नहीं।" बुद्ध लौटकर घर आये। मध्यरात्रको गोदमें सोती हुई स्त्रीको छोड़कर, चुपचाप जंगलमे चले गये, क्योंकि उनकी अशान्तिने सच्चा वैराग्य उनके हृदयमे उत्पन्न किया था। उस वैराग्यके मूलमें उनका विवेक उपस्थित था। विवेक और वैराग्य ही शान्ति उत्पन्न करसकते हैं। यही आजके प्रश्नका मुख्य उत्तर है। विवेक उत्पन्न करनेके लिये मनुष्यको सदा आत्म-निरीक्षण करना चाहिये। नित्य रात्रिमें सोनेके पहिले एक कोनेमें, शान्त वातावरणमे बैठकर प्रातः से सायंकाल तक उसने जो कुछ किया हो उसका विचार करना चाहिये कि "किं नु मे पशुभिः तुल्यम्" आज मेरे व्यवहारमें कौनसा पशुव्यवहार हुआ है, और मनुष्यके योग्य कौनसा व्यवहार हुआ है? इस प्रकार आत्मनिरीक्षण

करनेवाला असद्व्यवहारसे निवृत्त होता है। असद्व्यवहार ही अशातिका जन्मदाता है और उसका पोषक है। ऐसी अशातिका विवेक, वैराग्यके साथ सम्बन्ध नहीं होता। एक मनुष्य असत्य बोलता है, अपमानित होता है और फिर अशान्त बनता है। इसमे वैराग्यकी तो कोई आवश्यकता ही नहीं है। विवेकका उपयोग किया जा सकता है, उसे विचारना चाहिये कि किस लिये असत्य बोलना है। झूठ तो कभी छिपाया नहीं जा सकता। यह तो दुर्गन्ध देता हुआ मलराशि है। छुपानेसे अधिक दुर्गन्ध फैलेगा। इसे तो खुला रखनेमें ही हित है। धूप लगेगी, सूखेगा, दुर्गन्ध निकल जायगा। मनुष्य असत्य कहाँ-कहाँ बोलता है, यह तो आप जानते हैं। व्यापारमें असत्य बोलता है, अपराधको छुपानेके लिये असत्य बोलता है, अयुक्त अथवा अनुचित कर्मके बाद भी झूठ बोलता है। यह सब करके फिर पश्चात्ताप करता है। व्यापारमे झूठ क्यों बोलना चाहिये ? विलासिता कम करें, खर्च कम हो जायगा। थोडे धनमे भी आपका संसार अच्छी तरह निभेगा। असत्यके लिये कहाँ अवकाश है ? मनुष्य हैं, उचित कर्म करने के लिये पैदा हुए हैं। परन्तु कभी अनुचित कर्म भी हो जाता है। उसे छिपाने का क्या प्रयोजन ? यदि छिपायेंगे तो एक असत्यके लिये दस असत्य आपको बोलने पड़ेगे। फिर भी यह तो भय बना ही रहेगा कि कदाचित् मेरा यह असत्य प्रकट हो जाय तो ? क्यों न आप स्पष्ट कह दे कि हाँ, मुझसे यह भूल हो गयी है। भूल करने की यदि हिम्मत है तो उसे मान लेने की भी हिम्मत होनी चाहिये। इस रीतिसे कभी भी अशान्ति नहीं होगी। यदि व्यापारमे हानि होने से अशान्ति होती हो तो किसी अच्छे व्यापारीके परामर्शसे व्यापार करें। सट्टाके परिणामसे अशान्ति होती हो तो उसका त्याग तो शीघ्र ही कर देना चाहिये। यदि किसीके मरणशोकसे अशान्ति होती हो तो गीताका दूसरा अध्याय बाँचे और मनन करें। संतानके अभावसे अशान्ति होती हो तो भविष्यका विचार करके शान्त हो जायँ। जब पुत्र नहीं होता है तब पुत्रकी चिंता होती है,

पुत्र उत्पन्न होता है तब यदि वह कुमार्गी बने, असत्यवादी बने, चोर बने, उद्दण्ड बने, शराबी बने, व्यभिचारी बने, तो माँ-बाप कहते हैं कि यह मर जाय तो अच्छा। क्या पता कि किसीके घरमें ऐसा ही लड़का उत्पन्न नहीं होगा? माता-पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करनेवाले पुत्रोंसे तो भारत और समस्त संसार भरा पड़ा है। अतः यदि सन्तान उत्पन्न हो ही चुका हो तो उसका परिणाम भोगें और धैर्यसे उसका सामना करें। अथवा सुपुत्र, सुपुत्री हो तो प्रभुको धन्यवाद दें। यदि संतान नहीं है तो भगवान्‌की कृपा समझकर शान्त रहें। 'यह होना ही चाहिये' यही विचार तो अशान्तिका मूल है। इसको छोड़ें। अशान्तिका जो उद्गमस्थान बने ऐसा कुछ मत करें। बीड़ी, सिगरेट पीनेवाले, शराबी, व्यभिचारी लोग हमेशा अशान्त रहते हैं। इन सबोंको छोड़ना चाहिये। यथार्थ शान्ति, वैराग्य और विवेकके बिना पैदा नहीं हो सकती। किसी वस्तुके प्रति वैराग्य होनेके लिये उसमें रहे हुए वास्तविक दोषोंको प्रामाणिकता से देखनेका प्रयास हो तो वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा। मेरी दृष्टिमें प्रथम प्रश्नका यह ठीक उत्तर है। बाकी रहता है इस प्रश्नका दूसरा भाग।

"यह शान्ति कहाँ उत्पन्नकी जा सकती है?" "कहाँ" यह स्थलदर्शक सर्वनाम है। यह भावना गलत है कि शान्तिके लिये कोई विशिष्ट स्थल है। नीरव वनमें रहनेवाले भी शान्तिके लिये चिन्तित रहते हैं। उन्हें शान्ति नहीं मिलती। राजासन पर बैठनेवाला भी शान्तिकी ओर खुली आँखों देखता है, उसे वह नहीं दीखती। वह तो चाहे जहाँ मिल सकती है। पर उसके लिये भभकती ज्वालाकी भाँति तीव्र इच्छा होनी चाहिये। इसके लिये संसारका त्याग आवश्यक नहीं है पर संसारकी वासनाओंका त्याग आवश्यक है। कामका उपयोग कामकी अनुत्पत्ति या शान्तिका कारण नहीं हो सकता। कामवासनाका सम्पूर्ण त्याग अथवा उसमें अनासक्तिसे ही शान्ति हो सकती है। जड़भरत भी अशान्त बना था। "रागने त्यागनी बच्चे हैं युं आ फूलतुं रह्यूं"। क्योंकि उसने आसक्ति बढ़ायी थी, वह या

तो वनवासी और त्यागी ही। जनक वनवासी नहीं था। एक समृद्ध राज्यका राजा था। पर वह अशान्त नहीं था। परम शान्त था। वह समझता था कि समस्त मिथिला जलकर भस्म हो जाय तो भी उसका कुछ बिगड़ता नहीं था। वह विवेकवान् था, वह अनासक्त था। नन्दनवनके समान साबरमती सत्याग्रह आश्रमका त्याग कर भी महात्माजी अशान्त न हुए। अब बैठनेके लिये उनके पास एक इंच भर भी जमीन नही थी, फिर भी अशान्त न हुए। क्योकि उनका विवेक जागरित था। उनकी आसक्ति कभी की सो गयी थी या मर गयी थी। अतः जिसे शान्ति इष्ट हो वह जगलके मार्गको न खोजकर इसी संसारमे रहकर ही उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करेगा तो उसे वह अवश्य मिलेगी। गृहस्थाश्रम इसलिये भार प्रतीत होता है कि, ऐसा समझाया गया है कि यह खराब है, बंधन है। अथवा तो कोई उसे योग्यतासे चला न सकता हो तो भी उसे बुरा ही लगेगा। किन्तु शान्तिके उपासक के लिये गृहस्थाश्रम बडे महत्त्वकी वस्तु है। शान्तिका पाठ तो वहाँसे ही मिल सकता है। अशान्तिके कारणोंमे रहकर ही सच्ची शान्ति प्राप्तकी जा सकती है। चोर दण्डित होता है, जेलमें रखा जाता है, हैरान किया जाता है पर वह चोरी नहीं छोडता क्योंकि वह चोरीको चाहता है। शान्तिके इच्छुक अशान्तिके कारणोंसे भी अशान्त नहीं बन सकते क्योंकि वे वस्तुतः शान्ति को चाहते हैं। सच्ची इच्छाकी आवश्यकता है। शान्ति तो सहजमें ही आ जायगी। किन्तु यदि केवल वाणीसे शान्तिकी इच्छा होगी तो वह सदा दूर हीं रहेगी।

६-८-५० को टांगा में दिया गया प्रवचन।

ज्ञान श्रेष्ठ या भक्ति?

(३२)

मुझसे पूछनेमें आया है कि मुक्तिके लिये कौन सा साधन श्रेष्ठ है 'ज्ञान' या 'भक्ति'। यह बहुत ही कठिन प्रश्न है। कोई भी समझदार मनुष्य कह नहीं सकता कि इन दोमेंसे अमुक ही श्रेष्ठ है। भक्ति श्रेष्ठ

है कि रोटी इस प्रश्नका उत्तर कैसे दिया जा सकता है ? मिथिला, बिहार, बंगाल, आसाम, उत्कल, काश्मीर भातके ऊपर ही जीते हैं। उन प्रान्त वासियोंकी दृष्टिमें भात ही सर्वोत्तम पदार्थ हो सकता है। पंजाब सम्पूर्ण रोटी पर ही जीता है। मारवाड और राजपूताना भी रोटी पर निर्भर है। उनकी दृष्टिमें रोटी ही सर्वोत्तम वस्तु हो सकती है। सरयू नदी श्रेष्ठ ? या गङ्गा श्रेष्ठ ? या जमुना श्रेष्ठ ? इसका निर्णय किस प्रकार हो ? रामोपासक सरयूको ही श्रेष्ठ मानते हैं। कृष्णोपासक यमुनाको ही श्रेष्ठ मानते हैं। गङ्गाके विषयमें दोनों उपासक अमुक दृष्टिसे मुख्यबुद्धि और अमुक दृष्टिसे गौणबुद्धि रखते हैं। जैसा जिसका मन, जैसा हृदय, जैसे संस्कार, जैसे विचार, उसीके अनुसार भक्ति अथवा ज्ञानको श्रेष्ठ माननेके लिये बंधा हुआ है। मेरे सामने एक दूसरा भी प्रश्न उपस्थित करनेमें आया था कि अमुक ग्रन्थमें अमुक लेखक भक्तिको ही सर्व श्रेष्ठ साधन मानता है। इसका भी उत्तर ऊपर कहे हुए विधानके अनुसार ही होगा। एक विवेचक मनुष्य निश्चतरूपसे कुछ कह नहीं सकता। कोई उत्तरदायी मनुष्य किस रीतिसे कहेगा कि अमुक ही श्रेष्ठ है ! कोई क्या कहता है इसका तो मुझे विचार ही नहीं करना है। मुझे तो मेरे विचारानुसार आपको आपका प्रश्न समझाना है। श्रेष्ठता ढूँढ़नेवालोंका आशय वास्तवमें श्रेष्ठता खोजनेमें होता ही नहीं है। वे तो सरलता खोजते हैं। और सरलताको ही श्रेष्ठ मान लेते हैं। अज्ञानी लोग ऐसा मानते हैं कि भक्ति सब साधनोंसे सरल साधन है, इसलिये वह सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु जो भक्तिको समझता ही नहीं है, जिसे भक्ति करनी ही नहीं है, जिसने ज्ञानका तनिक भी स्वाद लिया नहीं है वह चाहे जो कुछ कह सकता है। मैं तो आपसे कहता हूँ कि भक्तिको सरल साधन माननेवाला भक्तिके विषयमें पूर्ण अज्ञानी है। यदि ज्ञान कठिन मार्ग माना जाता हो तो भक्ति उससे भी अधिक कठिन मार्ग है। "कलौ नास्त्येव नास्त्येव" कहनेवाले दिशा भूले हैं। सत्ययुग और कलियुगके साथ मुक्तिका क्या सम्बन्ध ? सत्ययुग या कलियुग यह कोई वस्तु ही नहीं है। यह तो सर्वथा

काल्पनिक वस्तु है। व्यवहार निभानेके लिये, सेकण्ड, मिनिट, घडी, प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न, सायं, रात्रि, दिवस, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्षकी कल्पनाकी गयी है। रवि, सोम, मङ्गल आदि दिन भी कल्पित ही हैं। जिस रीतिसे हिसाब, किताब, व्यापार, व्यवहारकी स्पष्टता और स्वच्छताके लिये यह सब समय कल्पित हुए इसी प्रकार युगों की कल्पना करने मे आयी। बडी संख्या बोलनेमे अनुकूलता न होनेसे इससे एक शब्द 'सत्य' कहकर पूरीकर देनेमे सुगमता समझी गयी। हजारोंकी संख्या न बोलकर कलि कहकर पूर्ति की गयी। इसमें सत्य एक भी वस्तु नहीं है। वैसे ही अच्छा और बुरा भी एक भी नहीं है। ऐसे ही रवि और सोम आदि वारोंमे भी कोई खराब नहीं, कोई अच्छा नहीं। सभी अच्छे और सभी खराब। भ्रान्त लोगोंने दिक्‌शूल की कल्पना करके प्रजाको भ्रममें डाला। मुझसे पूछा गया है कि यदि मासादि कल्पना झूठी ही हो तो कृष्णभगवान्‌ने क्यों कहा कि "मैं महीनोंमें मार्गशीर्ष हूँ" उनकी दृष्टिमें कुछ तो श्रेष्ठता होगी ही। यहाँ मुझे कहना चाहिये कि कृष्ण अपनेको मार्गशीर्ष कहते हैं या गीता लिखनेवाला कृष्ण को मार्गशीर्ष कहता है। यह तो अस्पष्ट-विवादग्रस्त है। गीताके सभी तत्त्व तर्कशास्त्र की कसौटी पर सत्य नहीं उतरे हैं। गीतामें तत्कालीन कितनी प्रचलित वस्तुओंका भी समावेश हुआ है। जो हो, पर मार्गशीर्ष का तात्पर्य तो तब समझा जा सकेगा कि जब गीता बनानेवाला गीताके रचनाकालमे किस देशमें था, इसका निर्णय हो जाय। यदि हस्तिनापुरमें या कुरुक्षेत्रमें इसकी रचना हुई हो तो वे प्रान्त कार्तिकमासके बाद समशीतोष्ण होते हैं। शिर फटने लगे ऐसी गरमी नहीं होती, और हार्टफेल हो या न्युमोनिया हो, इतनी सरदी नहीं होती। इससे वह समस्थिति कृष्णमे दिखानेका यह प्रयास हुआ होगा। आपको इतना ध्यानमे रखना है कि गीताका मार्गशीर्ष गुजरातका नहीं, कुरुक्षेत्रका ही है। गुजरातका मार्गशीर्ष तो पौषतक पहुँचता है। गीताके ज्ञानविज्ञानके साथ ऐसे श्लोकोंका किंचित् भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। चमत्कारको सर्वस्व मानने

वाले निपट भ्रममें ही रहा करते हैं। ऐसे लोगोंको ऐसी ही वस्तु अधिक महत्त्व की मालूम होती है, जबकि इसमें कुछ महत्त्व नहीं है। "द्यूतंछलयतामस्मि" की भांतिही 'मासानां मार्गशीर्षोस्मि' निरर्थक है। गीतामें कितनीही अर्थहीन वस्तुएँ देखनेमें आती हैं। उत्तरायण, और दक्षिणायनका विचार भी निरर्थक है। यदि वहाँ ये दोनों शब्द योग-शास्त्रकी परिभाषानुसार उच्चरित हुए हों तो भी निरर्थक है। मृत्यु किसी की प्रतीक्षा नहीं करती। मुक्तिके लिये कोई काल बाधक नहीं है। मुक्ति तो आत्मस्वरूप वस्तु है। उसके लिये कालका क्या काम? उत्तर क्या और दक्षिण क्या? वह तो सापेक्ष वस्तु है। आप एक सीधी रेखामें अमुक अंश थोड़ा खसक जायँ तो आप जहाँ उत्तर मानते होंगे वहाँ दक्षिण हो जायगा और जहाँ दक्षिण मानते होंगे वहाँ उत्तर हो जायगा। जैसे काल कल्पित है वैसे दिशा भी कल्पित। कल्पित वस्तुके आधार पर कोई आध्यात्मिक सिद्धात स्थिर नहीं किया जा सकता। अतः कलि कोई वस्तु नहीं है। कलिमें नामको ही प्राधान्य माननेवाले भ्रममे ही पडे हैं। ऋतुके आधारसे जैसे जौ, गेहूँ, चावल आदि पकते हैं वैसे ही युगके आधारसे मुक्ति पकती है ऐसा मानना केवल मूर्खता है। भारतमें छह ऋतु देखनेमें आते हैं। वेदमें पाँच ऋतु वर्णित हैं। सिंधुमे वर्षाऋतु जैसा कोई ऋतु ही नहीं है। बम्बईमें शीतकाल नहीं होता। यहाँका शीतकाल आज जो चल रहा है वह भी तत्त्वहीन। अतः अपने-अपने देशके आधारपर कालमर्यादा बाँधकर सत्यसिद्धातके रूपमें उसे प्रस्तुत करनेका साहस करनेवाला अवश्य अन्धपरम्परामें पड़ा होता है। मैं फिर कहता हूँ कि इस युग और मासके लोभमें न पड़कर आप तात्त्विक विचार करें। महीना और युग मुक्ति नहीं दिलाते। मुक्ति आपके अपने श्रमसे प्राप्त करने की वस्तु है। जहाँ तक आपके मनमें विभिन्न वासनाओंका स्फुरण रहेगा, वहाँ तक आप मुक्तिका दर्शन नहीं कर सकेंगे। वेदान्त मानता है कि विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मोक्षप्राप्तिके लिये आतुरता इन साधनोंसे युक्त ही मुक्तिमार्गमें पैर रख सकता है। जहाँ तक ये चारों

वस्तुएँ मनुष्यसे दूर-दूर रहती हैं, वहाँ तक मनुष्य सर्वथा शक्तिहीन रहता है। जैसे ज्ञानमार्गमें इन साधनोंकी आवश्यकता है वैसे ही भक्तिमार्गमें भी इन साधनोंकी आवश्यकता है। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, इनमेंसे यदि एककी भी कमी होगी, थोड़ी भी कमी होगी तो भक्तिका स्पर्श मनुष्य कर नहीं सकेगा। कौन कहता है कि भक्ति सरल साधन है? कहनेवालोंमें से किसीने इन पञ्चरत्नोंको प्राप्त किया है? मन, वचन, कर्मसे सत्यसेवी हममेंसे कौन है? अहिंसाव्रतको पालनेवाले कितने हैं? चोरी न करनेवाले, ब्रह्मचर्य पालनेवाले, अपरिग्रहसेवी कितने हैं? दम्भी, नालायक मनुष्य आपको कहेगा कि वे पूर्ण सत्यवादी हैं, पूर्ण अहिंसक हैं, और पूर्ण ब्रह्मचारी हैं। परन्तु वह तो इतना पामर होगा कि अपनेको भी धोखा ही देता होगा। यहव स्तु कहनेसे नहीं, देखने से ही पहचानी जाती है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, यह त्रिपुटी तो हीरा है। हीराको कहकर बतानेकी जरूरत नहीं होती। कस्तूरी के लिये शपथ लेने की जरूरत नहीं पड़ती। वह तो स्वय अपने स्वरूप को प्रकट करती है। आप गीता बाँचते ही होंगे। २२ वर्षसे आपके इस नगरमें अखण्डगीता पाठशाला चलती है। आप भी एक बार अवश्य गीता बाँच गये होंगे। भगवान् कृष्ण स्वयं गीताके १२ वे अध्यायमें अपने भक्तोंके लक्षण बताते हैं उनके ऊपर आपका कभी भी ध्यान गया है? जो किसीके साथ द्वेष न करे, सबके साथ मित्रभाव रखे, सबके दुःखोंमें करुणा दिखाये, ममताशून्य, अहंकारशून्य, सुखदुःखमें समान और क्षमावान्, पूर्णसंतोषी, योगी, जितेन्द्रिय, दृढ़निश्चयवाला होकर मुझमें ही मन और बुद्धि अर्पण करे वह मेरा भक्त और वही मेरा प्रिय है। जो किसीसे घबड़ाये नहीं, जिससे कोई घबड़ाये नहीं, क्रोध, भय, व्याकुलता से जो पर रहे, किसी की अपेक्षा न रखे, बाहर और भीतरसे जो पवित्र रहे, तटस्थ बनकर रहे, शुभ या अशुभ कर्म जिसको स्पर्श न कर सके, शत्रु और मित्रमें, मान और अपमानमें, शीत, उष्ण, सुख, दुःखमें जो समान रहे, जमानत बाँध कर न फिरे, निन्दा और स्तुति जिसके लिये कोई वस्तु

ही नहीं, जिसका कोई मठ नहीं, कोई मंदिर नहीं, ऐसा ही मनुष्य मेरी भक्ति करसकता है और वही मुझे प्रिय है। सब प्राणियोंके साथ प्रेम करना सीखें। ममता और अहंकार दूर करे। आपके सच्चे पुरुषार्थसे आपको जो मिले उसीमें सतोष करना सीखें। अपने मन और बुद्धिको भगवान्में अर्पण करना सीखें, फिर भक्ति सुगम है कि दुर्गम है, इसका निर्णय अपने आप करलें। जिसे भक्ति नहीं करनी है वह भक्तिको सुकर वस्तु ही कहेगा, क्योंकि उसकी दृष्टिमें तिलक, कंठी, आरतीके सिवाय दूसरी कोई भक्ति ही नही है। परन्तु जिसे भक्ति करनी ही है, भगवान्को प्राप्त करना ही है, जन्ममरणरूपी संकट टालना ही है, वह तो सच्ची भक्तिके लिये सच्चे गुरुकी ही शोध करेगा, "उपदेक्ष्यंति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्त्वदर्शिनः" आपको अवश्य ज्ञानी गुरु मिलेंगे, और तत्त्वका उपदेश करेंगे। आप कल्याणके मार्ग पर चलेंगे। स्नान करके एक थैलीमें थोडे चावल, थोडे सेन्ट (अफ्रीका का एक सिक्का) डालकर, मन्दिरमे जाकर भगवान् की मूर्तिके आगे थोडे चावल फेक दें, एकाध सेन्ट डाल दें यही आपकी भक्ति है। आपका धन हरण करनेवाले भी आपकी इसी भक्तिका अनुमोदन करेंगे, अतः आप तो फूलकर रबडके खिलौने बनोगे, स्मरण रक्खें, यह भक्ति नहीं है। यह कुछ नहीं है। केवल व्यसन है। आप इसी व्यसनको ही भक्ति मानते हैं, इससे आपको भक्ति सुगम मालूम पडती है। भगवान् आपको दिव्यदृष्टि दें, और आप तत्त्वदर्शी बनें। इस कामनाके साथ समाप्त करता हूँ।

२२-८-५० को जंजीबार में दिया गया प्रवचन।

क्या भक्ति और ज्ञानसे मुक्ति मिलती है ?

(३३)

आज मुझसे पूछा गया है कि भक्तिसे अथवा ज्ञानसे मुक्ति मिलती है, इसमें क्या प्रमाण है ? मुझे यह प्रश्न मूलसे ही विचारना चाहिये। इस प्रश्नमें मुक्तिके लिये तो शङ्का नहीं दीखती है, अर्थात् मुक्तिका स्वीकार करके ही यह प्रश्न किया गया है। साध्यमें शङ्का नहीं है, साधनके

लिये ही शङ्का है। दूसरी बात। जिसकी मुक्ति होती है, उस जीवके लिये किस अभिप्राय को सुरक्षित रखकर प्रश्न किया गया है, यह भी देखने की वस्तु है। चार्वाक मानता है कि जीव नित्य-नियत कोई वस्तु नहीं है। विजातीय अथवा विधर्मीय वस्तुओंके मिश्रणके पश्चात् एक रासायनिक परिवर्तन, यही जीव है। जैसे हम सब रोरी देखते हैं। रोरी, हल्दी और चूनामेंसे बनती है। रोरी का जो रंग है वह न हल्दीमें है और न चूनेमें है। एक पीली वस्तु है, एक सफेद वस्तु है। दोनोंके सम्मिश्रणके बाद एक लाल रंग की वस्तु उत्पन्न होती है, वही रोरी है। इसी प्रकार पञ्चतत्त्वके मिश्रणसे लाल, काला, हरा, पीला, चर्म पैदा होता है। उसीके परिवर्तनसे अस्थि उत्पन्न होती है। उसीके परिवर्तनसे स्नायु, मज्जा आदि पैदा होते हैं। उसीके परिवर्तनसे नख और जिह्वा उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही उसीके परिवर्तनसे जीवतत्त्व भी उत्पन्न हुआ है। भगवान् बुद्ध जीवको नित्य और शाश्वत नहीं मानते। श्रीशंकराचार्य जीवको आविद्योपाधिक मानते हैं। अविद्याके सम्बन्धसे ही जीवभाव प्रकट हुआ है। शंकरके मतमें छह वस्तुएँ अनादि मानी जाती हैं; जीव, ईश्वर, शुद्धब्रह्म, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या अर्थात् माया, अविद्या और ब्रह्म का योग, इन छहोंमें से शुद्धब्रह्मके सिवा पाँचतत्त्व अनादि और सान्त-अन्तवाले माने जाते हैं। ब्रह्म अनादि और अनन्त माना जाता है। ये तत्त्व कबसे हैं? ऐसा नहीं पूछा जा सकता, क्योंकि वे अनादि हैं। उनका आरम्भ नहीं है। एक क्षणमें ज्ञानोदय होनेपर जीव अदृश्य बनेगा। विशिष्टाद्वैतका जीव अनादि और अनन्त है। इस प्रकार जीवकी कथा संक्षेपमें सुननेके बाद विचार करनेमें आपको अनूकूलता मालूम होगी।

अब मूल विषय पर आगे बढ़ें। भक्ति अथवा ज्ञानसे मुक्ति मिलनेकी बात विचारनेके पहले मुक्ति क्या है, इसका विचार आवश्यक है। मुक्तिका सामान्य अर्थ है छूट जाना। किससे छूट जाना और किस प्रकारसे छूटजाना? इन दो प्रश्नोंके समाधानके लिये उत्तर है कि सभी-समस्त दुःखोंमेंसे छूटजाना और इस प्रकारसे छूटजाना कि फिर

कभी बन्धन न हो। इसीको यदि शास्त्रकी भाषामें कहें तो ऐसा कहेंगे—"त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिः अत्यन्तपुरुषार्थः" आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक इन तीन दुःखोंकी सदाके लिये निवृत्ति ही मुक्ति है। इसपरसे यह फलित होता है कि आत्यन्तिक सुख ही मुक्ति है। आत्यन्तिक दुःख ही बन्धन है। जैसे प्रकाशके अभावमें अन्धकार होता है, वैसे ही आत्यन्तिक सुखका अभाव ही दुःख कहा जाता है। अन्धकारका नाश होते ही प्रकाशका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होते ही आत्यन्तिक सुखका आविर्भाव होता है। यही परमानन्दमुक्ति है। इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि मुक्ति उत्पन्न नहीं होती—उत्पन्न की नहीं जाती। उसका केवल प्राकट्य होता है। वह नित्य वस्तु है, जन्य नहीं। यदि जन्य हो तो उसका नाश होगा। मुक्तिका नाश नहीं होता। स्वामी दयानन्द मुक्तिका भी अन्त मानते हैं, यह मैं जानता हूँ। उनकी कठिनाइयोंको भी मैं जानता हूँ। पर यहाँ उनका स्पर्श न करूँ तो ठीक। मुक्तिके अर्थमें किसी भी दार्शनिकका विवाद नहीं है। पर उसके स्वरूपमें लगभग सबका विवाद है। शंकराचार्यकी मुक्ति अर्थात् ब्रह्मस्वरूपताकी प्राप्ति। नैयायिकोंकी मुक्ति अर्थात् सुखदुःखके अनुभवका अभाव। विशिष्टाद्वैतकीमुक्ति अर्थात् भगवत्स्वरूपताप्राप्तिपूर्वक निरन्तरभगवद्दर्शन। शङ्करकी मुक्ति "मैं ब्रह्म हूँ" इस ज्ञानसे होती है। विशिष्टाद्वैतकी मुक्ति "मैं भगवत्प्रपन्न हूँ" इस ज्ञानसे होती है। एक मुक्त होकर ब्रह्म बनता है, एक मुक्त होकर भी भगवत्प्रपन्न रहता है। यही मुख्य भक्ति है। इन दोनोंके लिये ही आजका प्रश्न है।

पहले भक्तिको लेता हूँ। सामान्य भक्त तो मानते ही हैं कि मैं भगवान्‌का नाम लेता हूँ, इसलिये भगवान् मुझे मुक्ति देंगे ही। वहाँ मुक्ति प्राप्त करनेकी बात ही नहीं है, मिलनेकी बात है। भगवान् देते हैं इससे वह मिलती है। इसमें नहीं है प्रश्न, नहीं है उत्तर। किस्सा कोता है। पर विद्वानोंको तो इस रीतिसे संतोष होता ही नहीं है। वह

तो पूछेगा ही कि नारायणको इतनी भी खबर न हुई कि अजामिल अपने लड़के नारायणको बुलाता है; लक्ष्मीपति नारायणको नहीं! उन्होंने दूत किसलिये भेजे? इसका क्या उत्तर? कुछ नहीं। गपोड़ाका कोई उत्तर होता ही नहीं। यह इसका उत्तर हो तो सभी हिन्दू मोक्षको ही जायँ और गये होते, क्योंकि लगभग सभी हिन्दुओंके नाम ऐसे ही होते हैं जिनका अर्थ नारायण होता है। न, र, भ, ग, ध, म, ह, ज, च, प, क, श, स, लगभग इतने ही अक्षरोंमेंसे हिन्दुओंके, विशेषकर वैष्णवोंके नाम रखे जाते हैं। नारायण, राम, रघुवर, गरुड़ध्वज, चेतनदास, प्रभु-दयालु, कमलाशंकर, आदि नाम इन अक्षरोंसे ही बनते हैं। सभीका अर्थ नारायण ही होता है। फिर तो किसलिये पृथ्वी पर एक भी हिन्दू रह सके? कोई किसीको मृत्युके समय बुलायेगा ही। नारायण अपने दूतोंको भेजते ही रहेंगे। किस्सा खत्म। अतएव बुद्धिमानको संतुष्ट करनेकेलिये कोई उत्तर होना चाहिये।

सुने, विशिष्टाद्वैतको आप समझ सके हैं। वह मानता है कि विष्णुका भक्त विष्णु-रूपको प्राप्त होता है। अर्थात् विष्णु चतुर्भुज हैं इसलिये जीव भी मुक्त होकर चतुर्भुज बनता है। रामका उपासक रामरूप बनता है। रामद्विभुज हैं इसलिये मुक्तजीव द्विभुज बनता है। विष्णुका स्वरूप शशिवर्ण है इससे उसके भक्त मुक्त होकर सफेद रंगसे रंग जाते हैं। रामका रूप काला है इसलिये उसके भक्त श्याम बनते हैं—काले बनते हैं। इस रीतिसे उस भगवत्स्वरूपको वे पाते हैं। फिर वे नित्य विष्णु अथवा रामके दर्शन पाते हैं। क्योंकि वे विष्णुके ही घरमें अथवा रामके ही घरमें रहते हैं। इससे नित्यदर्शन सुलभ है। जब सभी जीव स्वय ही विष्णु-रूप बन गये अथवा रामरूप बन गये, फिर तो वे अपना मुँह दिव्यदर्पणमें देखलें, अथवा रामका मुख देखले, एकसे ही हैं। कोई खास भेद नहीं है। राम और मुक्त जीवमें इतना ही भेद रहता है कि वह अपनी श्रीको—पत्नीको जीवोंको नहीं देते। इसी प्रकार सृष्टिका कारोबार भी अपने ही

हाथमें रखते हैं। अर्थात् राजापन बनाये रखनेके लिये पृथ्वी और रानी (जमीन और जोरू) वे नहीं देते। जीवोंको इसकी चाह भी नहीं होती। वे तो पृथ्वी पर ऐसे सब भोगोंसे थककर, हारकर वहाँ गये होते हैं। इसलिये भगवत्स्वरूपप्राप्ति यही मुख्य मुक्ति हुई। शंकराचार्यकी मुक्ति ब्रह्मस्वरूपप्राप्ति है। इन दोनोंमें भेद कहाँ है? दोनों तो एक ही वस्तु हुई। वैष्णव ऐसा मानते हैं कि वे मुक्त होकर जीव भगवान्के घरमें निवास प्राप्त करते हैं। उनको यहाँसे जाते हुए कितनी नदियाँ पार करने के बाद स्वागतके लिये भगवान्के पार्षद आते हैं। बाजेगाजेके साथ नाचते-कूदते वे लोग मुक्त जीवको भगवान्के दरबारमें लेजाते हैं। यह सब तो प्रलोभनमात्र है। मुक्तको, वीतरागको बाजा क्या और गाना क्या? स्वागत और सत्कार क्या? अतएव विद्वानोंको इतना ही मानना है कि विशिष्टाद्वैत भी ब्रह्मस्वरूपको ही मुक्ति मानता है। अतः मुक्तिके स्वरूपमें भी तात्त्विक रीतिसे विवाद नहीं है। तब तो अब यही विचारने को रहता है कि क्या ज्ञान और भक्तिसे यह मिल सकती है?

ब्रह्मस्वरूपप्राप्तिका ही नाम मुक्ति है। यह लगभग सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। अब ब्रह्मस्वरूपका अर्थ क्या? इस विचारके पश्चात् ही उसकी प्राप्ति की जा सकती है। इसलिये प्रथम ब्रह्मस्वरूपका विचार करें। स्वरूपमें तीन मत माने जाते हैं। निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार, सगुण-साकार। पहले दो मत शांकरमत हैं। दूसरा और तीसरा विशिष्टाद्वैतमत है। शंकर ब्रह्मको निर्गुण और निराकार ही मानते हैं। पर सांसारिक स्थितिमें संसारियोंके लिए उसे निराकार मानकर भी सगुण मानते हैं। वही ईश्वर है। उपासनाका आरंभ इसी ईश्वरसे किया जाता है। सगुण हो वही साकार होता है, ऐसा नियम नहीं हो सकता। आकाश निराकार है फिर भी वह सगुण है। शब्द उसका गुण है। जीव निराकार होते हुए भी सगुण है। इच्छा, प्रयत्न, आदि उसके गुण हैं। निरन्तर भगवत्पारतन्त्र्य यह भी उसका गुण है। अतः ईश्वर निराकार रहकर भी सत्य, दया, वात्सल्य, औदार्य, सर्वशक्तित्व, अजरत्व, अजन्मत्व आदि सद्गुणोंका आकर रह

सकता है। विशिष्टाद्वैतको भी यह पक्ष मान्य है, क्योंकि श्रुतियोंमे ब्रह्मको निराकार कहनेमे आया है। विशिष्टाद्वैत ब्रह्म और ईश्वरमें भेद नहीं देखता, अतः ब्रह्म निराकार है अर्थात् ईश्वर निराकार है, पर वह तो महादयालु और सर्वशक्तिमान् है—जैसे कि—

ईश्वरः पञ्चधाभिन्नः परव्यूहादिभेदतः ॥
परएकश्चतुर्धातुव्यूहः स्याद्वासुदेवक. ।
संकर्षणश्च प्रद्युम्नोऽनिरुद्ध इति भेदतः ॥
मत्स्याद्यास्तु विभवा अनन्ताश्च प्रकीर्तिताः ।
अन्तर्यामी तु भगवान् प्रतिदेहमवस्थितः ॥
अर्चावतारः श्रीरंगवेङ्कटाद्र्यादिषु स्थितः ।
केशवादि तु तत्त्वज्ञैर्व्यूहान्तरमुदाहृतम् ॥

ईश्वर पाँच प्रकारका है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चावतार। परईश्वर तो एक ही है। किन्तु व्यूहईश्वरके चार भेद ह—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध। यह वासुदेव उपासनाकी सुकरताके लिये षड्गुणसम्पन्न माना जाता है। षड्गुण अर्थात् ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, और तेज। रामादिअवतार विभव कहलाते हैं। प्रत्येक देहमे स्थित जो ईश्वर वह अन्तर्यामी कहलाता है। मन्दिरोंमे प्रतिष्ठित जो भगवान्की प्रतिमाएँ वे अर्चावतार कहलाती हैं। अब स्पष्ट जाना जा सकेगा कि विशिष्टाद्वैतको सगुण-निराकार और सगुण-साकार दोनों प्रकारका ईश्वर अभिमत है। विशिष्टाद्वैतका ब्रह्म यही है। अब ब्रह्मका स्वरूप समझें। शङ्करमतके अनुसार निर्गुण, निरञ्जन, निराकार, अजर, अमर, अजन्मा, निष्कल, सद्रूप, चिद्रूप और आनन्दरूप ये सब ब्रह्मके स्वरूप हैं। विशिष्टाद्वैतमतानुसार सगुण, निरञ्जन, निराकार, साकार, अजर, अमर, अजन्मा, अनन्तकल, सद्रूप, चिद्रूप, आनन्दरूप ये सभी ब्रह्मके स्वरूप हैं। इसकी प्राप्ति ही मुक्ति है।

हम यह तो मानते ही हैं कि जो जिसकी उपासना करता है, भक्ति करता है, वह तद्रूप बनता है। ब्रह्मके जिस स्वरूप का अङ्गीकार करके

ब्रह्मोपासना आप करेंगे उसी स्वरूपको आप प्राप्त होंगे। स्वरूप प्राप्त होनेका क्या अर्थ है, यह भी मैं आपको समझा दूँ। उपासना करें और दृढ़ भावना करें कि मैं असङ्ग हूँ, अजर-अमर हूँ, नित्यमुक्त हूँ, सर्वक्लेशोंसे पर, अविनाशी हूँ। यह भावना जब अतिशय दृढ हो जायगी तब आपको अपनेमें एकभी दुर्बलता प्रतीत नहीं होगी। मैं पापी हूँ, पापकर्मा हूँ, दीन हूँ, ऐसी भावनाएँ उस समय नष्ट हो गयी होंगी। उस समय आपको अवश्य भासित होगा कि "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः" इत्यादि। भगतसिंहके लिये कहा जाता है कि, उसके साथियों ने जब पूछाकि भगतसिंह! तुम अंग्रेजोंके साथ विरोध करने जाते हो, पर यह सरकार तो बहुत ही स्वार्थी अतएव बहुत ही क्रूर है। न जाने तुम्हें कौन-कौनसे कष्ट देगी, तब तुम किस प्रकार उसको सहन कर सकोगे? भगतसिंहने तुरन्त ही मोमबत्ती जलाकर उस पर अपना हाथ रख दिया। हाथ जलता था और वह हँस हँसकर देशोद्धारकी बातें अपने मित्रोंके साथ करता था। यही है दृढ़भावनाका फल। आपने कभी दृढ़भावना की नहीं है, इससे आपको यह सब असम्भव प्रतीत होता है। एक बार इस मार्गमें पाँव रखनेकी जब शुभघड़ी आपको प्राप्त होगी, तब सब कुछ सरल हो जायगा। भक्ति अर्थात् अनन्य अनुरागपूर्वक अपनेमें भगवद्-गुणाधान। ज्ञान अर्थात् जीव-ब्रह्मका अभेदज्ञान। भक्ति जीवमें भगवान्के लिये अनन्य और अनन्तप्रेम उत्पन्नकर भगवान्के गुणोंको जीवाश्रित बना देती है। इसी लिये भक्त जीव, राग-द्वेषसे पर जाकर, सब दशाओं में समानभावसे रह सकता है। गीताके १२वें अध्यायका भक्त अथवा भगवान्का प्रियजन ही भगवद्गुणोंका आश्रय। अभेदज्ञान जीवभावको निवृत्त करके ब्रह्मभाव उत्पन्न कर क्षुधा, पिपासा आदि षट् ऊर्मियोंसे पर लेजाकर—

"दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया।
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया॥

अनुतिष्टन्तु कर्माणि परलोकयियासवः।
सर्वलोकात्मकः कस्मात् अनुतिष्ठामि किं कथम्॥
व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु ते।
यत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारो क्रियत्वतः॥

बोल उठता है—भक्त और ज्ञानी दोनों बोल उठते हैं कि—जो दुःखी हो, अज्ञानी हो, पुत्र-कलत्र आदिकी जिसे इच्छा हो वही संसारमे जन्म-मरण पाता है। मै तो परमात्माका रूप हूँ। सभी अभिलाषाओंसे पर हूँ। किसलिये मै संसारी बनूँ? जिन्हें स्वर्गादि प्राप्त करना हो, वे भले ही उनके लिये कर्म करे। मैं तो, सर्वव्यापक होनेके कारण सभी लोक मेरे ही रूप हैं, ऐसा मानता हूँ। तब किस लोककी प्राप्तिके लिये मुझे कर्म करना चाहिये? भले ही वे शास्त्र पढ़ावें, वेदाध्ययन करावे, जो अपनेको पढानेका अधिकारी मानते हों। मैं तो सर्वधर्म और सर्वकर्मसे पर हूँ। मुझे इस सांसारिक क्रियाके करनेका अधिकार कहां है? ऐसा कहते हुए दोनो—भक्त और ज्ञानी परब्रह्मस्वरूप प्राप्त करते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि एक तद्रूप बनता है और एक तन्निष्ठ। वही मुक्ति है। मुझे लगता है कि मैंने स्पष्टरीतिसे आपको समझानेका प्रयास किया है। इसलिये यदि आप इसका मनन करेंगे तो अवश्य अपना मार्ग सरल बना सकेंगे। मै यहाँ ही पूर्ण करता हूँ क्योंकि अभी नित्यनियमानुसार प्रश्नोतर-शङ्का-समाधान बाकी है। रात अधिक बीत गयी है। १०½ बजे हैं। अब जिन भाई-बहिनोंको जो कुछ पूछना हो, वे पूछें।

२३—८—५० को ज़ंजीबारमे दिया गया प्रवचन।

कर्मयोग

(३४)

मेरी बहिनो और भाइयो! आज मुझे आप लोगोंके बीचमें आनेका प्रसंग मिला है। मै बहुत प्रसन्न हूँ। आपके सामने मुझे कुछ कहना है।

क्या कहना है यह अभी मैं आपसे ही पूछनेवाला हूँ। आप जो कहेंगे, वही सुनाऊँगा। पर इस सम्बन्धमें मुझे थोडे दूसरे शब्द पहले ही कहना है। आप मुझे जानते नहीं हैं, इससे मेरे स्वभावकी आपको खबर नहीं ही होगी। मै जो कहूँगा वह केवल शास्त्रीय वस्तु ही नहीं होगी। शास्त्रोंके मननके बाद मुझे जो अनुभव हुआ है उसे भी मैं आपके सामने रखूँगा। सम्भव है कि वह मेरा अनुभव आपको अनुकूल न भी पडे, परंतु मुझे इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। सत्य वस्तु सदा कटु होती है, लोग आपको मीठी-मीठी बाते सुना सकते हैं क्योंकि उन्हें आपसे धन लेना है। पाषण्डके बिना उन्हें धन मिल नहीं सकता। हृदयसे विरुद्ध कहना, बोलना, समझाना, यह भी पूर्ण पाषण्ड ही है। मै आपसे एक पाई भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लेने नहीं आया हूँ। मुझे आवश्यकतानुसार पैसे मिल जाते हैं। तब फिर किसलिये मैं संन्यासको लज्जित करूँ? अत मैं निर्भय होकर आपके सामने जो कहना है, कहूँगा। आप शान्त रहेंगे, और सुनेगे तो आपको बहुत जाननेको मिलेगा। आप जितना जानते हैं उससे मैं अधिक जानता हूँ। आपको अधिक बताना, समझाना यह मेरा पवित्रधर्म है। आपको मेरे प्रवचनमें कुछ शङ्का हो तो आप योग्य रीतिसे खुशीसे मुझे पूछ सकेंगे। मैं जजीबारमे मेरे एक घंटेके प्रवचनके पश्चात् दूसरा घंटा शंकासमाधानके लिये ही देता था। परंतु वहाँकी और यहाँकी उपस्थितिमें अंतर है। वहाँ सुननेवालोंकी बड़ी भीड़ नहीं थी। मै इधर-उधरके दृष्टान्त कहकर समयकी दुर्दशा करनेवाला नहीं हूँ। मैं तो एक भी दृष्टान्त नहीं जानता। मुझे तो दृष्टान्तके बिना ही बहुत कहने और समझानेको रहता है। इसके लिये भी मुझे पूरा समय नहीं मिलता तो फिर राजा-रानीके दृष्टान्तोंके लिये कहाँसे समय लाऊँ? इससे वहाँ विद्वानोंका ही एक वर्ग, जिसमे बहनें भी थीं और भाई भी थे—आता था, वह बिलकुल छोटा तो नहीं कहा जा सकता। पहले दिन तो वहाँ बहुत भीड हो गयी थी, पर मेरे प्रवचनमें से जिन्हें कुछ मिल नहीं सका, उनका आना बन्द हो गया, और मैंने इसे अपने

ऊपर बड़ी दया समझी। क्योंकि व्यर्थमें चिल्लानेसे मैं बच गया। यहाँ तो मुझे देखना है कि कितने भाई-बहिन मुझे छोड़कर चले जायँगे। अस्तु, यहाँकी बड़ी उपस्थितिको यदि शङ्का-प्रश्न आदिके लिये अवसर दूँ तो कदाचित् अव्यवस्था हो जाय। फिर भी मैं अपनी ओरसे कोई प्रतिबन्ध नहीं लगा सकता। जिन भाई या बहिनको जो पूछना हो उनके लिये यहाँ भी मेरी ओरसे छूट है। विनय और शान्तिकी रक्षाकी बात आपके हीहाथमे रहेगी। आशा है कि आप और भगवान् मेरी सहायता करेंगे।

मुझसे कर्मयोगके ऊपर कहनेको कहा गया है। जजीबारमे इसी विषयपर मुझसे कहनेके लिये आग्रह हुआ था। जो मैंने वहाँ कहा था उसकी पुनरावृत्ति तो कदाचित् यहां नहीं होगी। हो भी तो आपके लिये तो वह नया ही होगा। पर लगभग पुनरावृत्तिसे मैं दूर रहता हूँ। मैं कोई विषय विचारकर नहीं आता। प्लेटफार्मपर आनेके बाद ही मै सूचना माँगता हूँ और उसीके अनुसार बोलता हूँ। इससे पुनरावृत्तिकी आशङ्का नहीं हो सकती। कर्मयोगको मै कहाँसे आरम्भ करूँ और कहाँ इसे समाप्त करूँ यह समझना मेरे लिये भी कठिन है। पर इसविषयको आपको ठीकरीसिसे समझाऊँ, इससे आरम्भसे ही इसका विवरण करूँ तो अच्छा। "आरम्भसे" का अर्थ यह है कि जहाँसे हिन्दू जगत्के साथ इस विषयका सम्बन्ध होता है वहाँसे। कर्मयोग कुछ हिन्दुओंकी ही वस्तु नहीं है। यह तो पृथ्वीके ऊपर बसनेवाली सभी प्रजाको स्पर्श करनेवाला विषय है। आर्योंके साथ-साथ दूसरी प्रजाओंका भी अस्तित्व तो सिद्ध हो चुका है। वैदिक सभ्यताके साथ ही साथ दूसरीसभ्यताएँ भी जीवित थीं, यह भी प्रमाणित ही है। अतः सबकी बात छोड़कर मै तो यहाँ आर्यजातिमें प्रवृत्त कर्मयोगकी ही बात करूँगा। और इसके लिये मेरे पास पुष्कल साहित्य है। इसमे वैदिक ग्रन्थ, तत्कालीन इतिहास और इसके लिये आये हुए महापुरुषोंके उपदेश मुख्य साहित्य माना जाता है। मेरे इस लम्बे विवेचनसे आप समझ सकेंगे कि आर्योंका

कर्मयोग किन-किन संयोगोंमें से निकलता रहा है, अन्तिम स्थिति उसकी कौन-सी रही है और आजका कर्मयोग क्या है, और क्या होना चाहिये। यह सम्भव है कि आपमें से कितने ही भाई-बहिनोंको मेरा आरम्भ नीरस मालूम हो, पर मेरे लिये दूसरा मार्ग नहीं है। विषयका चुननेवाला मैं नहीं, आप हैं। अतएव अब तो सुनना ही होगा।

हमारी ऐसी मान्यता तो हमेशा ही रहेगी कि जब प्रथम सूर्योदयके साथ मानवजाति पृथ्वीपर प्रकट हुई तब उसको ज्ञानकी आवश्यकता चाहे जब भी धीरे-धीरे विदित हुई। हम मानते हैं कि सृष्टिके आरम्भमें अर्थात् मानवसृष्टिके आरम्भमें परमेश्वरने हमको ज्ञानभण्डार दिया जिसे हम वेद कहते हैं। उस वेदमें एक मन्त्र है—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत शतं समाः"

"भगवान्‌ने जीवोंको आज्ञा दी कि मेरे पुत्रों, तुम सौ वर्ष तक जियो, और जबतक जियो तबतक कर्मका त्याग मत करना। "कर्मका त्याग करोगे तो भूखे मर जाओगे," यह कर्मका उपदेश जीनेके लिये ही था। जिसे रोटी चाहिये उसे कर्म भी करना ही चाहिये। मुफ्तमें रोटी खानेवाला प्रजाका शत्रु है और भगवान्‌का अपराधी है। इससे वेदने यह भी कहा है कि—

'ईशावास्यम् इदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥"

यह सम्पूर्ण जगत् और जगत्‌की सभी वस्तुएँ भगवान्‌की ही हैं। उसके ही अधिकारमें हैं। आप कर्म करें, उसीके अनुसार वह आपको जीविका देगा। थोड़ा कर्म करेंगे तो थोड़ा मिलेगा, अधिक करोगे तो अधिक मिलेगा, अधिक प्राप्तिकी आशा रखकर थोड़ा कर्म करोगे तो संसारमें आप निष्फल होंगे और भीख मांगने या चोरी करनेका या धूर्तता करके पैसा प्राप्त करनेका समय आवेगा। पर ऐसा करना ही नहीं है। दूसरेकी सम्पत्तिकी आप इच्छा नहीं ही करें। अतः वेदने

प्रथम प्रभातमे हमे कर्म करनेकी आज्ञा दी। कर्मके कितने ही प्रकार भी वेदोंमें वर्णित हुए हैं। परन्तु किसको क्या कर्म करना इसका निर्देश वहाँ नहीं हुआ है। वेदोंमे ऐसा भी वर्णन है कि एक ही घरमें एक शास्त्रसम्पन्न होता है, दूसरा सभ्य दूसरा धन्धा करता है और तीसरा सभ्य तीसरा धन्धा करता है। उसमे कूटने-पीसनेका भी समावेश हुआ है। अतएव कर्मकी पसन्दगी व्यक्तिके अधीन है। जिसे जो रुचे, अनुकूल पडे, उसे वह पसन्द करे और तदनुकूल आचरण करे। वेद मुक्तिका साधन है। मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र बनानेवाला वेद मनुष्यको बन्धनमें डाल नहीं सकता। इससे वहाँ अमुकवर्गका विचार करनेमं नहीं आया। वहाँ कोई वर्ग ही नहीं है। वेद वर्गविहीन वस्तु है क्योंकि वह ईश्वरकी वाणी है। ईश्वर वर्गविहीन है। इससे उसकी प्रजा भी वर्गविहीन ही है। वर्ग पीछेसे आये और प्रजाका निकदन हुआ। विग्रहवाद बढा। मनुष्य, मनुष्यके लिये असुर बनने लगा। मनुस्मृति और गीतामें जो वर्णविभाग करके पृथक्-पृथक् वर्णधर्म गिनाये हैं वे वैदिक नहीं है। वह तो मनुष्यकालीन समाजरचनाका एक छोटा-सा इतिहास है। गीताका वह वचन मनुका ही प्रतिबिम्ब है। इसलिये मानवसमाजका आरम्भ मनुष्यताके आधारपर ही हुआ है। ऋग्वेद इसकी साक्षी देता है। समय बलवान् साधन है। मानव मस्तिष्क भी चमत्कारोंका खजाना है। दोनोंने मिलकर नयामार्ग ढूंढ लिया। यज्ञ आया। "कुर्वन् एव कर्माणि" इस वेद आज्ञाको हमारे पूर्वज आरम्भमे किस रीतिसे पालते थे यह आज हम ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। यह अतीतकालकी बात है। ऐसा अतीतकाल, जिसका इतिहास आज दुर्लभ है। वेदोंके अमुक मन्त्र इतिहासकी सामग्रीकी पूर्ति करते हैं। परन्तु वह आंशिक ही इतिहास कहा जायेगा, पूर्ण नहीं। पर जबसे याज्ञिककालका आरम्भ होता है तबसे एक सम्पूर्ण इतिहास हमें मिलता है, ऐसा माना जा सकता है। यद्यपि यह इतिहास भी अमुक समयमें संदिग्ध बनता है। ऋग्वेदका यह मन्त्र—

"यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्" इसी प्रकारका है। "देवगण यज्ञसे यज्ञको पूजते थे" यहाँ यज्ञ शब्दसे किसका ग्रहण किया जाय, यह कहना बहुत ही कठिन है। पीछेसे ब्राह्मण ग्रन्थोंमें उन ग्रन्थोंकी शैलीका ही अनुसरण कर यज्ञ शब्दके अनेक अर्थ हुए। परन्तु जिस कालका इतिहास इस मन्त्रमें उल्लिखित हुआ है, उस कालमें यज्ञ शब्दका मुख्य अर्थ क्या था, इसे जानने के लिये हमारे पास कोई प्रामाणिक साधन नहीं है। बहुत ही सम्भव है कि उस समय प्रत्येक पवित्र माने हुए कर्मके लिये यज्ञ शब्दका प्रयोग होता हो। पाणिनिव्याकरणमें जो यज् धातुका अर्थ पढाया जाता है उस परसे भी जाना जा सकता है कि यज्ञ शब्द बह्वर्थ था और है। यज् धातुका अर्थ देव, पूजा, संगतिकरण और दान ये चार माने जाते हैं। देवका अर्थ दिव्य कर्म है। पूजाका अर्थ सत्कार होता है। सगतिकरणका अर्थ सामूहिक शक्तिकी वृद्धि होता है, और दानका अर्थ अपरिग्रह होता है। इन चारों अर्थोंमें ही यज्ञ शब्द व्यवहृत होता होगा। इसे माननेमें कोई क्षति नहीं दीखती। किसी क्षतिको बचानेके लिये मै ऐसा अर्थ नहीं मानता। परन्तु अस्पष्ट स्थलमें कुछ भी स्पष्ट कहनेका साहस कोई समझदार मनुष्य नहीं कर सकता। अस्तु, जबसे यह शब्द एकाङ्गी बना—नियत अर्थमे ही रूढ बना तबतकका इतिहास बहुत स्पष्ट है। अश्वमेध, राजसूय आदि यज्ञकी योजना हुई। गोमेध जैसा भयंकर यज्ञ भी आया। यज्ञकी परम्परा चली। महाभारत तक तो हम देखते हैं कि यज्ञ होता रहा है। समुद्रगुप्त अन्तिम हिन्दू राजा था। उसके लिये भी लिखा है कि उसने अमुक यज्ञ किये थे। परन्तु समुद्रगुप्तके बाद किसी आर्य राजाने यज्ञ किये हों, यह किसीको विदित नहीं। यह जान लेना आवश्यक है कि ये यज्ञ महाधनसाध्य होनेके कारण अधिकाशमें राजाओंके हिस्सेमें जाते हैं। इतिहास भी ऐसा ही है। दशरथ राजा, राम राजा, युधिष्ठिर राजा, समुद्रगुप्त राजा, और दूसरे भी यज्ञ करनेवाले राजा ही थे। यद्यपि ये यज्ञ प्रथम तो ऐहिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये ही योजित हुए थे, परन्तु पीछेसे ये स्वर्ग प्राप्तिके लिये भी

स्वीकृत हुए। और "यन्नदुःखेन संभिन्नम्" इस याज्ञिक व्याख्याके अनुसार स्वर्गकी योग्यता मोक्षका अनुसरण करती थी। यज्ञमे पशुवधका समावेश हुआ। स्वार्थके लिये पशुवधका आरम्भ हुआ। इस कर्मसे स्वर्ग मिलता था या नहीं, इसकी साक्षी कौन दे? मिलता हो तो भी यह घोर अन्याय था। मनुष्य समाज हिल उठा। हृदय क्षुब्ध बने। ऊहापोह होने लगा। विरोध उठा। जैनधर्म अस्तित्वमें आया। उसने "अहिंसा परमो धर्मः" की आवाज उठाई। लोग सतर्क हुए। प्राणिवधसे प्रजाको आघात हुआ था, इससे यज्ञका विरोध आरब्ध हुआ, जैनोंने विरोध किया। चार्वाकोंने विरोध किया। सामान्य प्रजा विरोधमे सम्मिलित हुई। यज्ञका महत्त्व घटा। जैनाचार्योंने यज्ञका विरोध द्वेषभावसे ही किया था। विरोधके लिये पवित्रता और सच्ची अहिंसा होनी चाहिये। महात्मा गाधीजीने अंग्रेजीराज्यका विरोध किया परन्तु पूर्ण पवित्रताके साथही। द्वेषभावका लेश भी नहीं। विद्रोह तो अन्ततक परन्तु रक्तकी एक बूँद न पडे, ऐसा विरोध, ऐसा विद्रोह सफल होता है। महात्माजी सफल हुए। समस्त विश्व साक्षी है। जैनधर्म अहिंसानिवृत्तिमें असफल हुआ। क्योंकि उस विरोधमें पवित्रता नहीं थी। उसका प्रयास स्तुत्य था। भगवान् बुद्ध आये। उनने भी अहिंसा पर भार दिया। वे सफल हुए। उनके विरोधमें विश्वके प्रति प्रेम था। प्राणिमात्रपर प्रेम था। हिंसकके प्रति भी दया थी। बौद्धधर्म अन्योंकी अपेक्षा अधिक व्यापकधर्म बना। समस्त एशिया बौद्धधर्मके झडेके नीचे एकत्र और संगठित हुआ। उपनिषदें आयीं। उपनिषदोंने भी कर्मके ऊपर प्रहार किया। यज्ञसे मोक्ष अथवा मोक्ष जैसा स्वर्ग मिलता है, इसका खण्डन किया। कितनी ही उपनिषदोंने कठोर शब्दोंका भी प्रयोग किया। "प्लवाह्येते अद्रढा यज्ञरूपाः" "परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणे निर्वेदम् आयात्। नास्ति अकृतः कृतेन" "...नेमाविद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः" इत्यादि शब्दोंक द्वारा मुण्डक उपनिषदने यज्ञका तिरस्कार किया। "अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते" कहकर ईशावास्यने यज्ञ आदिकी

प्रधानताका अस्वीकार किया। उस समयके महान् आचार्य शंकराचार्यने भी कर्मके बलको तोडनेके लिये पूरा प्रयत्न किया। चारोओरसे यज्ञके ऊपर, यज्ञमें होती रही हिंसाके ऊपर प्रहार होने लगे। याज्ञिकों की आँख खुली। धर्मशास्त्री भी चेते। पाराशरने आज्ञाकी कि—

"अश्वालम्भं गवालम्भं कलौ पञ्चविवर्जयेत्"

यज्ञ गया। पशु शान्तिसे श्वास लेने लगे। अहिंसकोंका हृदय ठण्डा पडा। कर्मयोगका एक स्वरूप बदला। याज्ञिकों का यज्ञ गया। अर्थात् धर्मका लक्षण गया। अब धर्मकी व्याख्या क्या होनी चाहिये, इसकी चिन्तामें विद्वान् पडे। मनुस्मृतिमें दो प्रकारके धर्मके लक्षण बताये गये। उनमेंसे एक लक्षण अधिक व्यापक और सुस्थिर बना।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतत् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥

इस लक्षणमें कहागया है कि यदि श्रौतधर्म न चलसके तो स्मार्तधर्मका प्रवर्तन होना चाहिये। पञ्चयज्ञादि भी धर्ममें गिने गये। जनता इस ओर झुकी। इसमें किसीकी हिंसा नहीं थी। किसीको दुःख नहीं था। इसमें त्याग था। इसमें प्रेम था। अतः अब कर्मयोग का अर्थ पञ्चमहायज्ञ हुआ। लोग सन्ध्या-वन्दनमे पडे। प्रातः-सायं प्रत्येक गृहमे अग्निहोत्र होने लगा। वातावरण पवित्र हुआ। हिंसा गयी। कर्मयोगके ये दो स्वरूप आपने देखे। एक तो यज्ञरूप और दूसरा यह स्मार्त पञ्चमहायज्ञरूप। अब समय अधिक होगया है। कल फिर विचार करूँगा।

२७–८–५० को दारेस्सलाममें दिया गया प्रवचन।

कर्मयोग (२)

(३५)

कर्मसे कभी मुक्ति नहीं मिल सकती, इसलिये मोक्षका साधन वैदिक यज्ञादिकर्म नहीं, परन्तु दूसरा कुछ होना चाहिये। श्रीशङ्कराचार्यने

कर्मको मोक्षका साधन नहीं माना है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि "तस्मात् अविद्याकार्यत्वात् कर्मणां तत्साधनानां च यज्ञोपवीतादीनां परमार्थदर्शननिष्ठेन त्यागः कर्तव्यः।" कर्म और उसके साधन शिखा, सूत्रादि अविद्याके ही कार्य हैं। जो अविद्यासे पर गया हो या पर जानेकी इच्छावाला हो ऐसे परमार्थ दर्शननिष्ठ महापुरुषको कर्म और कर्मके साधनोंका त्याग ही करना चाहिये। मोक्षकी प्राप्ति वैदिककर्मोंसे हो किस प्रकारसे? मोक्षका स्वरूप तो वेदान्तने इस प्रकार माना है—अविद्या निवृत्तिपूर्वक स्वरूपानन्दकी प्राप्ति। इसे मे पहले भी कह चुका हूँ। प्रथम अविद्याकी निवृत्ति हो तब पीछे स्वरूपानन्दकी प्राप्ति हो। अविद्याकी निवृत्ति तबतक होगी ही नहीं, हो सकेगी नहीं, जबतककि कोई "अमुकगोत्रमें, अमुकजातिमें, जन्म लेनेवाला मै अमुक लौकिक फलकी प्राप्तिके लिये अमुककर्म करता हूँ।" ऐसा कहता रहेगा। एक ओर अपनेको अमुकगोत्रमें, अमुकवर्णमे जन्मा हुआ माने और दूसरी ओर सर्वगोत्र, सर्ववर्ण, सर्ववर्णधर्मसेपर माने। इस प्रकार दो नावोंमे पैर रखकर नदीकी यात्रा कैसे हो? अतः कर्मकी—वैदिक यज्ञादिकी सभी प्रवृत्तियाँ बन्धनरूप हैं, निवृत्तिरूप नहीं। इसलिये व मोक्षके लिये योग्य नहीं। जबतक 'अन्योसौ' 'अन्योहम्' वह दूसरा है, मैं दूसरा हूँ, इसप्रकार आत्माके साथ भेदकी प्रतीति होती रहेगी तबतक मोक्षका गन्धतक नहीं मिल सकता। श्रुति तो भेददर्शीको संसारधर्मका ही अधिकारी बनाती है। वह तो सदा जन्म और मरणके बन्धनमें ही पडा रहेगा। कर्ममें भेदके बिना पैर नहीं रखा जा सकता। वहाँ तो साधन, साध्य और साधक इस त्रिपुटीकी परिस्थिति अनिवार्य होती है। यही त्रिपुटी भेद साधक है। ये यज्ञादि हिंसाशून्य तो नहीं ही थे। "यज्ञमें होती हिंसा हिंसा नहीं है।" ऐसा कहदेनेसे हिंसा अहिंसा नहीं बन सकती। घरमें एक मनुष्य मर जाता है, पर "वह मरा नहीं है" ऐसा कहनेसे वह जीवित नहीं हो सकता। नहीं मरा बनता नहीं है, वह तो मर ही गया है। वह विवाह नहीं कर सकता। वह सन्तान

उत्पन्न नहीं कर सकता। वह कोई काम नहीं कर सकता, क्योंकि वह मर ही गया है। इसी हिंसाकी क्रूरताने पहले जैनधर्मको, पश्चात् बौद्ध-धर्मको जन्म दिया। वह हिंसा असह्य थी। इसकी विधि क्रूर थी। वह स्वार्थसे पूर्ण थी। अपने मोक्षके लिये गायका वध होता, अश्वका वध होता, यह तो असह्य वस्तु थी। अतएव जैनधर्मने और बौद्धधर्मने भी इसका विरोध किया। इन प्रयत्नोंसे यज्ञकी नींव हिल उठी। इससे जगत्को एक लाभ तो हुआ ही। पर इससे भी उत्तम लाभ यह हुआ कि ज्ञानसमृद्धि बढ़ी। संस्कृत साहित्यका भंडार बढ़ा। दार्शनिक विचार खूब खिल उठे। युक्तियाँ खोजी गईं। तर्क ढूँढ़े गये। इसमें जैनधर्मने विशेष भाग लिया। उसने यज्ञकी पद्धतिका खण्डन करने तथा दूसरे वैदिक सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके लिये अनेक तर्क अपनाये। अन्तमें जो तर्क ढूँढ़ा गया वह तो सबसे अधिक तेजस्वी सिद्ध हुआ। वह था "स्याद्वाद"। स्याद्वादने सम्पूर्ण दार्शनिक जगत्में कौतूहल उत्पन्न कर दिया। विद्वान् चकित हो गये।

१. स्यात् अस्ति—पदार्थ किसी प्रकार है।

२. स्यात् नास्ति—पदार्थ किसी प्रकार नहीं है।

३. स्यात् अस्ति च नास्तिच—किसी प्रकार है और किसी प्रकार नहीं है।

४. स्यात् अवक्तव्यम्—किसी प्रकार अवक्तव्य है—कहा नहीं जा सकता।

५. स्यात् अस्तिच अवक्तव्यं च—किसी प्रकार है और अवक्तव्य है।

६. स्यात् नास्तिच अवक्तव्यं च—किसी प्रकार नहीं है और अवक्तव्य है।

७. स्यात् अस्तिच नास्तिच अवक्तव्यं च—किसी प्रकार है किसी प्रकार नहीं है, और किसी प्रकार अवक्तव्य है।

इसका नाम है स्याद्वाद। यही सप्तभङ्गी कहा जाता है। इसके स्पष्ट करनेका यदि प्रयास करूँ, तो इसके लिये कितने दिन चाहिये।

इस स्याद्वादने किसी भी वस्तुको अनिश्चित बना दिया है। एक वस्तु है भी और नहीं भी, इसे समझानेका प्रयास स्याद्वाद करता है। यहाँ घट है और नहीं है इन दोनों वस्तुओंको सिद्ध करनेके लिये स्याद्वादका प्रस्थान है। यहाँ घट है, अर्थात् अमुक आकृति, अमुक लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई और अमुक रंगका है, पर अमुक आकृति, अमुक लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई और अमुक रंगका नहीं है। इस प्रकारसे घटका एक ही कालमे भाव भी और अभाव भी सिद्ध किया जा सकता है। इस तत्वके द्वारा ईश्वरका अस्तित्वभी खतरेमें हो गया। ईश्वर है भी, नहीं भी है। जगत्के अकर्ता रूपमें है—कर्तारूपमें नहीं है। रागद्वेषसे पर हुआ वह है, रागद्वेषवाला वह नहीं है। यही इसका रहस्य। इस स्याद्वादको जन्मदेनेवाले महावीर-स्वामी थे, ऐसा कह सकते हैं क्योंकि उन्होंने ही भगवतीसूत्रमें सबसे पहले इसका उल्लेख किया है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने सातों वादोंका उल्लेख नहीं किया है। पर स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्याद् अवक्तव्यम् इतनेका उल्लेख तो किया ही है। मैं यहाँ एक वस्तुका उल्लेख कर दूँ तो ठीक। यद्यपि यह स्याद्वाद हमारे हिन्दूदर्शनग्रन्थोंमें इसी प्रकार से ही स्पष्ट देखनेमे नहीं आता, परन्तु इसका मूल ऋग्वेदमें नासदीय सूक्तमें स्पष्टरूपसे मौजूद है। नवीन नैयायिकोंने भी इसका अमुक भाग माना है। इस वादको दार्शनिक रूप देनेवाला केवल जैनधर्म है ऐसा कहने में अत्युक्ति नहीं है। मुझे ऐसा भी कहनेको मन होता है कि जैनधर्मने हिन्दूधर्मसे भी अधिक साहित्यकी समृद्धिकी है। अमरकोषका रचयिता वैदिक था या जैन, इस प्रश्नका समाधान अभी तक स्पष्ट रीतिसे नहीं हुआ है। बहुतलोगोंकी धारणा है कि अमरसिंह जैन था, क्योंकि उसने जैन और बौद्ध सामग्रीका उसमें संग्रह किया है। यदि वह जैन ही हो तो जैनधर्मने हमको एक सुन्दर शब्दकोष दिया है। उसने अलकार-शास्त्र भी दिया है। विचारशक्तिको स्फुटित होनेके लिये उसने मार्ग दिया है। गुलाबके झाडमें जहाँ सुन्दर सुगन्धिपुष्प होते हैं, वहाँ ही हाथको छेदनेवाले काटे भी होते हैं। इस इष्टमेंसे अनिष्टकी प्राप्ति भी

हुई। विरोध उत्पन्न हुआ, वैदिक और जैन दोनोंमें वाग्युद्धका आरम्भ हुआ। एक दूसरेको शत्रु मानने लगे। एक दूसरेके देवताओंकी निन्दा का आरम्भ हुआ। दोनोंके देव-देवी अलग अलग रचे गये। दोनोंके देवताओंकी रूपरेखा अलग हुई। पूजाविधिमें भी भेद हुआ। ईश्वरके बीचमें सराग और विरागकी भी बात रखी गयी। हस्तिना ताड्यमानोपि नविशेद् जैनमन्दिरम् की रचना हुई। हाथीसे प्राण बचानेके लिये भी जैनमंदिरमें प्रवेश नहीं करना। ऐसी उग्र आज्ञा उपस्थित हुई। इसे यहीं ही छोड़ें और आगे चलें।

शंकराचार्यने यज्ञोंका खण्डन नहीं किया। यज्ञ करना ही नहीं, ऐसा उनका आशय नहीं ही था। वह तो इतना ही कहते थे कि मोक्षके लिये यज्ञ आवश्यक नहीं है। मोक्ष तो कर्मत्यागकरके ज्ञानमार्गसे चलनेसे मिलता है। तब शंकरके मतानुसार यज्ञका क्या फल? यदि उसका कुछ फल न हो तो वह क्यों किये जायँ, इसका विचार करें। शंकरके समयमें अश्वमेध और गोमेध तो नहीं ही थे, जैन और बौद्धोंके आक्रमणसे वे बन्द हो गये थे। जो यज्ञ होते थे, वे पञ्चमहायज्ञके सिवा दूसरे नहीं, ऐसा मालूम होता है। और ऐसे कर्मोंका फल वह अन्तःकरणकी शुद्धि मानते हैं। सन्ध्यावन्दन आदि किसी फलकी प्राप्तिके लिये नहीं होते। वे तो केवल भगवत्प्रीत्यर्थं किये जाते हैं। ऐसा कोई कर्म जिसमें भगवत्प्रीतिका संकल्प हो वह अवश्य मानसिक पवित्रता उत्पन्न कर सकता है। यदि होम की आहुतियाँ 'सूर्याय स्वाहा, इदं न मम' कहकर दी जाती हों और उसमेंसे अहंकार वैसे ही ममकार अहंता और ममता दोनों निकलजाते हों तो वह-कर्म अवश्य मनको पवित्र बना सकता है। अतएव शंकरमतानुसार ऐसे कर्म केवलमानसिक शुद्धिके लिए ही होते हैं। यद्यपि मीमांसकोंमें इसके लिये विरोध है। कोई कहता है कि सन्ध्या-वन्दनादि नित्य कर्म हैं। नित्य कर्मका कोई फल नहीं होता। उसके करनेसे पुण्य नहीं होता, परन्तु न करनेसे पाप होता है। सन्ध्या करनेसे क्या मिलता है, शास्त्रोंमें इसका उल्लेखन न मिलनेसे फल नहीं कहा जा सकता। पर वेदाज्ञा है, इससे

उसका पालन न होनेसे पाप लगे, प्रायश्चित्त करना पड़े। सन्ध्यासे कोई लाभ नहीं है, ऐसा भी एक मत है। परन्तु एक मत ऐसा भी है कि जो उसमेंसे अमुक फलप्राप्ति मानता है और नहीं तो वेदाज्ञाका मान देनेकी भावना तो रक्षित रहती है। और इस भावनाके पीछे वेदोंकी पवित्रता रही हुई है। यदि किसी हिन्दुको इतना भी ज्ञान किसी क्रियासे मिल सके कि "वेद हिन्दुओंका पवित्र ग्रन्थ है" तो यह भी बड़ा लाभ ही माना जाय। परन्तु सन्ध्या करनेवालेको ऐसा कुछ मिलता है या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, मिलता भी हो तो, श्मशानवैराग्य जैसा क्षणिक। कितनोको तो श्मशानमे भी वैराग्य नही होता। शव आगे-आगे चलता है, पीछे गप्प हाँकनेवालोंकी टोली चलती है। श्मशानभूमिमें भी अलग बैठकर कोई शान्तिका पालन नहीं करता, ईश्वर-चिन्तन नहीं करता, मृत्युका समाधान कोई नहीं खोजता, मानो मै अमर हूँ और मेरे शरीरको कभी भी यहाँ नहीं आना पडेगा, ऐसा मानकर हाथमे सिगरेट लेकर धुआँ उड़ाते हुए लोग वहाँ भी गप्प हाँकते हैं। श्मशानवैराग्य भी भाग्यसे ही किसीको होता है। जैसा मैंने पहले कहा है—सन्ध्यामें से वैसी पवित्र भावनाएँ भी भाग्यसे ही उत्पन्न होती हों। प्रत्येकको बाजारमे जाना होता है, ऑफिसमें जाना होता है, दूसरे कामोंके लिये जाना होता है। सन्ध्यामे कौन मन्त्र बोले जारहे हैं, उनका अर्थ क्या है, इसकी भी किसीको खबर नहीं पड़ती, और सन्ध्या पूरी हो जाती है। यही आजकी सन्ध्या करने वालोंकी यथार्थ दशा है। हम हिन्दूलोग एक घोर अन्धकारपूर्ण मार्गमे प्रयाण कर रहे हैं। हमारे वेद चार, हमारे ईश्वर अनेक, हमारी पूजा-पद्धति अलग-अलग, सन्ध्या भी अलग-अलग, हमारी एकादशी एक नहीं, हमारी अष्टमी एक नही, हमारी नवमी एक नहीं, हमारी जाति एक नही, हमारा धर्म एक नही, हमारा कुछ भी एक नहीं। ऐसी दशामे शंकरके मतके अनुसार सन्ध्या-वन्दनका फल चित्तशुद्धि माना जाय इससे भी क्या? न माना जाय इससे भी क्या? केवल माननेसे कुछ मिलता नहीं है, करनेसे ही मिलता है। यदि चित्तशुद्धिके लिये ही सन्ध्योपासन

किया जाता हो तो वह मिलेगी ही। परन्तु निरुद्देश्य प्रवृत्ति होगी तो उसमें से कुछ मिलना नहीं है। फिर भी इतना तो जानना ही चाहिये कि कर्मप्रवृत्ति मोक्षके लिये उपयोगी नहीं है। ऐसा माननेवाले शंकराचार्य सन्ध्यावन्दनादिका फल चित्तशुद्धि मानते हैं। शंकरकी चित्तशुद्धि अर्थात् ज्ञानकी कोई सीढ़ी। और ज्ञानकी सीढ़ी अर्थात् शंकरके विचारानुसार ज्ञानमार्गमें आनेका अल्प प्रयास। यदि सन्ध्यावन्दनसे अज्ञानकी ग्रन्थियाँ दृढ होती होंगी तो शंकरके मतसे चित्तशुद्धि नहीं हुई। चित्तशुद्धिका फल अज्ञान नहीं, परन्तु ज्ञान—ज्ञानका प्रकाश। आत्माको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य माननेवाले लोग शंकरके मतसे अज्ञानी ही हैं। ऐसे निरर्थक भेदोंने मनुष्यजातिको पशुजातिमें बदल दिया है। आप मुसलमानोंको नीच मानते हैं, अपनेको बहुत ऊँचा मानते हैं। उनकी सभ्यता और अपनी सभ्यताका आप बुद्धिपूर्वक विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि आपसे, हमसे अधिक नीच संसारमें कोई नहीं है। मुसलमानका एक मुर्दा जाता होगा तो उनकी शान्तिका तो पार ही नहीं होगा। हममें 'राम बोलो भाई राम बोलो' की चिल्लाहटसे जो अशान्ति, जो अव्यवस्था, जो गड़बड़ होती है, उसका वहाँ नामोनिशानभी नहीं होगा। आपको मुर्दा देखकर ग्लानि होती है। उससे आप दूर भागते हैं और उसको छूनेमें पाप मानते हैं। मुसल्मानका एक मुर्दा जाता हो तो उसे देखकर कोई भी मुसल्मान खड़े हुए विना नहीं रहेगा। सभी उसे कन्धा लगायेंगे। वे उसे अपवित्र नहीं मानते। उनकी दृष्टिमें वह पवित्र है। क्योंकि खुदाके पास जा रहा है। आप भी मानते तो ऐसा ही हैं कि वैष्णव मरकर विष्णुलोकमें जाता है, शैव मरकर शिवलोकमें जाता है, फिर भी आपकी दृष्टिमें वह मुर्दा अपवित्र है। आप दूसरी जातिके हों और वह मुर्दा दूसरी जातिका हो तो आप उसे छुएँगे ही नहीं। वह भले भगवानके लोकमें जाता हो, और आप भले ही नरकमें पड़े हों। आप दूसरोंको नीच कहने और माननेके अभ्यासी हैं इससे आप अपने घरमें भी सुरक्षित नहीं हैं। आप झगड़ेका बीज बोते हैं। आपके ऊपर भगवान् दया करें। आपकी बुद्धि

पवित्र हो, और इस नीच-ऊँचकी अनिष्ट भावनामें से आप निकल जायँ तो कितना अच्छा हो? आपमें कुछ भी अच्छा न हो तो भी आप महान् और दूसरेमें सब अच्छा हो तो भी वह नीच ही है। यह किस प्रकारका विवेक है, नहीं कहा जा सकता।

श्रीशंकराचार्यने हिन्दू जाति पर महान् उपकार किया है। उनका अभेदवाद, उनकी तत्त्वविचारकी पद्धति, उनका मोक्षसाधन, ये अत्यन्त पवित्र वस्तुएँ हैं। जब तक प्रजा भ्रममें ही पड़ी रहेगी, तब तक उसका कल्याण नहीं ही होगा। शंकरके आगमनके पूर्व यद्यपि उपनिषदोंने अज्ञानके ऊपर प्रहार तो किया ही था, परन्तु उसमें सफलता नहीं मिली थी। श्रीशंकराचार्य ने अधिकांशमें सफलता प्राप्तकी है। शंकरकी सच्ची पद्धतिसे चलकर ही हिन्दू जाति शान्तिके दिन देख सकती है। दूसरे समझाते हैं कि यह भेद भगवानने रचे हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इसी प्रकार अतिशूद्र, अन्त्यज आदिको बनानेवाला भगवान ही है। 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'के अनुसार इन चार वर्णोंको बनानेवाला भगवान ही है। शंकर कहते हैं कि यह सब वर्ण और सब आश्रम मनुष्योंने ही बनाये हैं और वह केवल अज्ञानके कारण। अज्ञानीजीवको ही भेद सूझता है। ज्ञानीको भेद नहीं दीखता। कर्मकाण्ड भेदको बढ़ानेका ही साधन है। इससे शंकराचार्यने इस कर्मको बन्धनरूप बता कर मनुष्य-जातिको—हिन्दू जातिको एक पवित्र दिशाका दर्शन कराया है। यज्ञादिक कर्म और ज्ञानमार्ग साथ नहीं चल सकते। आज तो यज्ञ ही असम्भव हो गया है। अश्वमेध, गोमेध, वाजपेय, आदि श्रौतयज्ञ आज नहीं ही हो सकते। तब वह ज्ञानके साथ चल सकेंगे या नहीं यह विचार ही व्यर्थ है। यज्ञ हो या न हो तो भी मनुष्यजातिके उत्कर्षके लिये विचार करना चाहिये। यज्ञ उत्कर्षका साधन नहीं था। आज तो नहीं ही है। 'स्वाहा स्वाहा' करनेसे उत्कर्ष नहीं सिद्ध होता। इसके लिये तो पवित्र आचार, पवित्र विचार, समान दृष्टि, ज्ञान वैराग्यकी आवश्यकता है। सम-विषम दृष्टिका नाश ही चाहिये। वेदों में कहा है कि यज्ञ करनेवाला

देवताओंका पशु है। क्यों हम किसीके भी पशु बनें ? मनुष्य बने हैं तो इसे उज्ज्वल करें। मनुष्योचित कर्म करे। अपनी भी उन्नति हो, दूसरेका भी कल्याण हो। अभी यह विषय कलके लिये बाकी रहता है।

२९-८-५० को दारेस्सलाममें दिया गया प्रवचन।

कर्मयोग

(३६)

आज कर्मयोगको पूरा करना है। इस विषयको आरम्भ हुए आज चौथा दिन है। शंकरआश्रममें आज जब मैं वहाँ आमन्त्रित होकर गया था, तब एक भाईने कहा—"कल मैं आपके भाषणमें गया था परन्तु मुझे कुछ समझमें न आया।" इन भाईने ठीक ही कहा है, जिस विषयको समझना हो उसे आरम्भसे ही सुनना चाहिये। बीचमें से सुनकर समझनेका प्रयास करनेमें हानिका भय है। अतएव वह भाई अब इस सभामें हों तो उन्हें आज समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। आज यह विषय पूरा होता है, इसलिये थोड़ा पूर्वापरका अवलोकन मैं करूँगा। कर्मयोगका अर्थ क्या है इसीको मुझे कहना और समझाना था। आरम्भमें कर्मयोग किस स्वरूपमें था, इसका अनुष्ठान किस रीतिसे होता था, धीरे-धीरे इसमें किस प्रकार परिवर्तन हुआ, यह सब मुझे कहना था। इसमें कर्मयोगका एक क्रमबद्ध इतिहास आ सकता है। कोई निर्णय करनेका इसमें अवकाश ही नहीं है। अतः ऐसे विषयके भाषणोंमें कोई वक्ता कोई निर्णय न करे तो इसमें शोभा ही है। आज उपसंहार करूँगा, इसलिये आज कुछ निर्णय करनेका अवसर मिलेगा तो निर्णय भी करूँगा। आप सुन चुके हैं कि शंकराचार्यने ज्ञान और कर्ममें समुच्चय नहीं माना है। उनके मतानुसार जैसे प्रकाश और अन्धकार साथमें नहीं रह सकते, वैसे ही ज्ञान और कर्म भी साथमें नहीं रह सकते। कर्मकी दीवाल भेदवादपर रची गयी है और ज्ञानका प्रासाद

अभेदवादपर ही खड़ा है। दोनोंके साधन और उद्देश्य अलग है। अतएव दोनों साथमें नहीं ही चल सकते। विशिष्टाद्वैत समसमुच्चयको मानता है। उसके मतानुसार ज्ञान और कर्म दोनो साथ चल सकते है। परन्तु ज्ञानकी व्याख्यामें दोनों दिशा परिवर्तनकर गये हैं। एक ज्ञान शब्दमें जीव और ब्रह्मकी एकता मानता है, दूसरा ज्ञान शब्दसे आत्मदास्य और हरिस्वाम्यको मानता है। अर्थात् स्वामिसेवक भाव जीव और ब्रह्ममें मानता है। अतः क्रमसमुच्चय और समसमुच्चयका झगड़ा ही व्यर्थ है। विशिष्टाद्वैतको समसमुच्चय अनुकूल है, वह तो भ्रमसे ही, ज्ञानपूर्वक नहीं ही है। विशिष्टाद्वैतका भक्तिमार्ग किस प्रकार कर्मका सहयोग ढूँढ सकता है यह ऐसा विषय है जो समझा नहीं जा सकता। भक्तिको भी जो कोई कर्म मानता हो तो दूसरी बात है। परन्तु मैं नहीं मानता। भक्ति कोई कर्म नहीं है। यह भी एक प्रकारका ज्ञान ही है। ईश्वरको पिताके रूपमें, या माताके रूपमें, या स्वामीके रूपमें माननेमें कोई कर्म नहीं हो जाता, यह भी ज्ञान ही है। यह ज्ञान सामान्य ज्ञान नहीं है, यह भक्ति है। भक्ति आत्मसमर्पणकी माग भक्तके पाससे हमेशा करती रहती है। भगवद्भक्तकी दृष्टिमें कर्मकी—कर्मयोगकी आवश्यकता ही नहीं रहती। भगवान् किसी भी कर्मसे प्रसन्न नहीं होते। जिस कर्मसे वे प्रसन्न होते हैं उसे तो मैं आज अन्त में कहनेवाला हूँ। परन्तु जो लोग भक्तिको कर्म मानते हों वे बड़ी भूल करते हैं। भक्तिके साथ वैदिक यज्ञादि भी हो सकते हैं, ऐसा माननेवाले उनसे भी अधिक भूल करते हैं। जो भक्ति न करता हो परन्तु अपने किसी भी आचरणको भक्तिका नाम देना चाहता हो वह तो, भक्तिके साथ, भगवान्के साथ और अपने साथ भी अन्याय करता है। भक्तिमार्गमें तो वैष्णवोंको—विष्णु भक्तोंको पञ्चमाश्रमी माना गया है। भागवत जोरसे चिल्ला चिल्लाकर कहता है कि वैष्णवोंका कोई वर्ण नहीं है, कोई आश्रम नहीं है। जब भक्तका कोई वर्णाश्रम नहीं है, तब वे किस वर्णके अनुसार, किस आश्रमके अनुसार कर्म करनेकी तैयारी कर सकते हैं? गृहस्थ जिस प्रकारकी भक्तिकर सकते हैं उसका सहयोगी

कर्म हो सकता है, इसके लिये मैं असहमत नहीं हूँ। परन्तु गृहस्थकी भक्तिमें और वास्तविक भक्तिमें तो पूर्व और पश्चिममें जितना अन्तर है। मैं तो कहता हूँ कि गृहस्थाश्रमी न तो भक्ति कर सकता और न ज्ञान-मार्गका पालन कर सकता है। गृहस्थोंके लिये गृहस्थोचित धर्म और कर्म बताये गये हैं। उसके अनुसार यदि गृहस्थ व्यवहार करें तो वह कल्याणका मार्ग निष्कंटक बना सकता है। कामी, क्रोधी, लोभी, मोही, पाखण्डी, दम्भी मनुष्य तो किसी भी मार्गके लिये अयोग्य ही होता है। गृहस्था-श्रमके लिये भी ऐसा मनुष्य नालायक ही है। इसलिये ऐसे लोगोंको कर्म करनेका भी अधिकार नहीं हो सकता। यज्ञादि कर्म पापियोंके कर्म तो नहीं ही हैं। भूतकालमें यह कर्म करनेवाले पापी नहीं थे। वे उस समयमें महान् आत्मा माने जाते थे। तब ऐसे शुभकर्मका अधिकार कामी, क्रोधी, आदिको कैसे हो सकता है? भक्तिका अधिकार तो ऐसोंको होगा ही क्यों? इसलिये कर्मविषयमें क्रमसमुच्चय और समसमुच्चयके झगड़ेका कोई मुख्य हेतु नहीं है।

आपने समझ लिया है कि श्रौतकर्मकी परम्परा आज बन्द है। अश्वालम्भंगवालम्भम्" कहकर पराशरने लगभग सभी श्रौतयज्ञोंका द्वार बन्द कर दिया है। मनु बहुत कुशल राजा था। वह दूरदर्शी था। उसने विचार किया कि आज श्रौतधर्म चलता है, पर यदि कोई विधि उत्पन्न हो, कोई प्रतिबन्ध आवे तब प्रजाके लिये कौन-सा मार्ग रह जायगा? ऐसा विचारकर उसने कहा—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतद् चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥

यदि श्रौतधर्म बन्द हो जाय, तो स्मृतिधर्मके अनुसार प्रजाको चलना चाहिये। स्मार्तधर्मका अर्थ है—स्मृतियोंमें—धर्मशास्त्रोंमें उपदेश किया हुआ धर्म। आज लगभग स्मार्तधर्म ही प्रवृत्त है। कोई भी कर्म पूर्णरूपसे श्रौत नहीं ही है। विष्णुयाग, रुद्रयाग, मूर्त्तिप्राणप्रतिष्ठा,

आदिकर्म लगभग स्मार्त ही हैं। प्राचीनकालमें—यज्ञकालमें इन यज्ञोंका नाम सुनायी नहीं पड़ता। इनकी कोई प्रक्रिया विदित नहीं होती। ये सब नये यज्ञ आये क्योंकि श्रौतकर्मका प्रवाह बन्द हो गया। मनुका अनुसरण करके स्मार्तकर्मकी परम्परा चली। सन्ध्यावन्दनमें भी शुद्ध श्रौतधर्म नहीं रहा। उसमें भी पुराणोंके श्लोक भरे गये। मुझे तो ऐसा लगता है कि यह सन्ध्योपासना समूची स्मार्तधर्म ही है। वेदकी श्रुति तो इतनी ही मिलती है कि "अहरहः सन्ध्याम् उपासीत" नित्यप्रति सन्ध्यामें उपासना करनी चाहिये। उपासनाके लिए कोई देव होना चाहिये। सन्ध्या कोई देवता नहीं है। तब सन्ध्याकी उपासना करनेक लिये विधि कैसे हो सकती है? सन्ध्या किसे कहते हैं, उसका स्वरूप श्रुति में बताया नहीं गया। अतएव सन्ध्या नामकी कोई उपासना नहीं है। "सन्ध्याम् उपासीत" इस विधिवाक्यमें कुछ कमी है, उसका अध्याहार करना चाहिए। सन्ध्याम् यह दूसरो विभक्ति तो कर्म की अपेक्षा न रखनेसे, उपास् धातुको अकर्मक बनाकर, उसके योगमें काल-वाचक शब्दमें सप्तमीके बदले आयी है। इस विधिवाक्यका इतना ही अर्थ है कि नित्यप्रति सन्ध्याकालमें इष्टदेवकी उपासना करनी चाहिये। 'उपास्' धातुका अर्थ ही है "देवोपासना" कर्मका संग्रह धातुसे ही हो गया है। इसलिये भी उपास् धातु अकर्मक बनकर प्रयुक्त हुआ है। कर्मकी अपेक्षा करनेसे वह सकर्मक भी होता है, अतः "यां मेधां देवगणा' पितरश्च उपासते" इस मन्त्रमें यह धातु सकर्मक होकर आया है। मेधा इसका कर्म है। इस विधिवाक्यमें कर्मकी अपेक्षा नहीं है। मैं जो कहता हूँ उसके लिए मनुस्मृतिका आधार है। देखो, मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके दो श्लोक—

पूर्वांसन्ध्यां जपन् तिष्ठेत् सावित्रीम् आर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यग् ऋक्षविभावनात्॥
पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठन् नैशम् एनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनः मलं हन्ति दिवाकृतम्॥

इन दोनों श्लोकोंमें पूर्वां सन्ध्याम्, पश्चिमा सन्ध्याम् द्वितीया है। द्वितीया विभक्तिका यहाँ कुछ अर्थ नहीं है, जपन्का कर्म सावित्रीम् है। इसलिये इसका अन्वय इस प्रकार है—सावित्रीं जपन् आर्कदर्शनात् पूर्वा सन्ध्या तिष्ठेत्, पश्चिमां सन्ध्यां तु ऋक्षविभावनात् समासीनः सावित्रीं जपन् तिष्ठेत्। पूर्व श्लोकका अर्थ यह है— प्रातःसन्ध्यामें, जब तक सूर्य दर्शन न हो तब तक सावित्रीका जप करते हुए बैठना चाहिये। और पश्चिम सन्ध्यामें अर्थात् सायङ्कालकी सन्ध्यामें जबतक नक्षत्रदर्शन न हो; तब तक बैठकर सावित्री मन्त्र जपना चाहिये। दूसरे श्लोकमें भी पूर्वां सन्ध्याम् और पश्चिमां सन्ध्याका यही अर्थ है। अतः सन्ध्या जपकी कोई वस्तु नहीं है। वह तो काल है। जब दिन और रात एकत्र हों। अथवा रात और दिन एकत्र हों तब उस कालको सन्ध्या कहते हैं। प्रातःकालमें रात्रि और दिनका सन्धिकाल होता है। सायङ्कालमें दिन और रात्रिका सन्धिकाल होता है। उस कालमें उपासनाकी जाती है। गायत्रीका जप होता है। इसलिए वह उपासना और गायत्रीजप भी सन्ध्या शब्दसे गौण रीतिसे कहे जाते हैं। इसके आगे भी एक श्लोक है "न तिष्ठति तु यः पूर्वाम् नोपासते यश्च पश्चिमाम्" जैसा मैंने कहा है उसी तरहसे मानलेनेसे ही इस श्लोकका अर्थ हो सकता है। अन्यथा नहीं ही। अतः मैंने जो कहा है वह सत्य ही है कि आजकी सन्ध्या भी स्मार्त ही है— वैदिक नहीं। स्मार्तमें पुराणोक्त विधिका भी संग्रह हुआ है। यहाँ सन्ध्यामें गायत्रीमन्त्रद्वारा इष्टदेवकी उपासनाकी जाती है। इससे मेरे किये हुए अर्थकी ठीक-ठीक सङ्गति होती है।

अब आप मुझसे पूछ सकेंगे कि यदि सन्ध्याकालमें उपासना करनेसे वह उपासना भी सन्ध्या कहलाती है, और यह उपासना नित्यकर्म है, तो मीमांसक ऐसे उपासनारूप नित्यकर्मको निरर्थक क्यों मानते हैं? यद्यपि यह प्रश्न तो मेरी पद्धतिसे इस विधिवाक्यका अर्थ कोई न करे, तो भी उपस्थित ही है, फिर भी मुझे उत्तर देना ही चाहिये। पहले मैंने कहा है कि इस विषय में मीमांसकोंके दो मत हैं। कुमारिल भट्ट नित्य

कर्मसे भी फलोत्पत्ति मानते हैं। वह कहते हैं कि सन्ध्या नित्यकर्म है। उसके करनेसे पाप नाश होते हैं। नहीं करनेसे पाप लगता है। प्रभाकर कहते हैं कि सन्ध्या करनी ही चाहिये, क्योंकि ऐसी वेदाज्ञा है। वेदाज्ञा है अतः सन्ध्या करनी ही चाहिये, पर किसी फलके अनुसन्धान से सन्ध्या नहीं होती। करना चाहिये भी नहीं, नहीं करने से पाप अवश्य लगेगा, क्योंकि वेदाज्ञाकी अवहेलना होती है, इसलिये जो लोग गायत्रीजप अथवा किसी देवकी उपासनामें विश्वास रखें उनकी दृष्टिमे सन्ध्या का फल है। जो ऐसा विश्वास नहीं रखता उसकी दृष्टिमें सन्ध्या निष्फल होती हुई भी कर्तव्य है, कोई दोष नही है।

अभी एक दूसरा विषय विचारणीय है, कर्मयोगके साथ उसका अतिनिकटका सम्बन्ध है। वह यह है—कर्म अमुक प्रकारकी क्रियाओंका नाम है। यज्ञ एक कर्म है। यह कर्म भी अमुक क्रियाओंका समूह ही है। वेदीनिर्माणसे लेकर अन्तिम आहुति तककी जितने दिनकी जितनी क्रियाएँ हैं, वे सब एकत्र होकर यज्ञ कही जाती हैं। यही कर्म है। जिस दिन और जिस घडीमें अन्तिम आहुति पड़ी, उसी घडीमें यज्ञकी समाप्ति हो जाती है, अर्थात् वह क्रिया अब समाप्त हुई। अतः कर्म समाप्त हुआ। कर्मकी समाप्ति अर्थात् कर्मका नाश। अब कर्म नहीं रहा। वह तो भूतकालकी बात हो गयी। तब कर्मके अभावमें उसका फल किस प्रकार मिलता है यह एक शङ्का है। मीमासककी ओरसे इसका यह समाधान है—कर्म भले नष्ट हुआ, पर कर्मका एक स्वभाव है कि वह एक अपूर्व उत्पन्न करता है। अपूर्व अर्थात् एक प्रकारका संस्कार। वह अपूर्व अपने आप फल देता रहता है। जेसे एक मनुष्यने मोहवश होकर चोरीकी। वह कभी चोरी नहीं करता था। न जाने क्यों, अज्ञानसे ही उसने यह काम कर लिया। चोरीका काम तो खत्म होगया। वह भूतकालकी बात हो गयी। वह क्रिया नहीं रही। अतएव चौर्यकर्म भी नहीं रहा। फिर भी इसमेंसे एक सस्कार उत्पन्न हुआ, "मैंने चोरी की है, यह पाप हुआ है"। चोरी का नाश हो गया है फिर भी उस संस्कार

से वह चोरी करनेवाला मनुष्य व्यथित होता है। उसे पश्चात्ताप होता है। उसके परिणाममें उसका शरीर दुर्बल होता है। वह निर्बल बनता है। उस चिन्तासे उसकी स्मरणशक्ति बिगडती है। यह सब होता है। इसमें किसीसे पूछने जैसा कुछ नहीं रहता। क्योंकि सबको इसका अनुभव होता ही है। जिस प्रकार चौर्यकर्मका फल मिलजाता है, उसी प्रकार यज्ञादि भूतकर्मोंका भी फल उसी अपूर्वकी शक्तिसे—संस्कारकी शक्तिसे मिलता है। एक मनुष्य कोर्टमें झूठी गवाही देकर आता है। घर आकर पश्चात्ताप करता है। उसके मन पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। वह बेचैन होता है। एक मनुष्यके पास एक पैसा है। वह किसी गरीबको दानमे दे देता है। उसकी दृष्टिमे यह बडा धर्म हुआ है। उस कर्मसे उसके मन पर जो संस्कार पडा है उससे वह प्रसन्न है, हृष्ट है, सबल है, सुखी है, निश्चिन्त है। जिस प्रकार इस पाप और पुण्यके संस्कारसे यहाँ ही कुफल और सुफल अनुभूत हो जाते हैं, इसी प्रकार यज्ञादिका फल भी अग्रिम जन्ममे होता है।

कर्मयोगका एक क्रमबद्ध इतिहास छोटासा आपके सामने इन चार दिनोंमें मैं रख सका हूँ। आप समझ सके हैं कि आज न तो वैदिक आचार है और न वैदिक विचार है। आज न तो यज्ञ है और न महायज्ञ। आज तो यह सिगरेटका धुआँ रह गया है। अनाचार रह गये हैं। उच्छृङ्खलता रह गयी है। देव-देवीकी पूजाके नाम पर पाषण्ड रह गया है। अतएव आजका कर्मयोग क्या हो सकता है इसका तो मैं निर्णय करूँगा ही। जिस युगमें यज्ञ होता था वह बहुत पुराना समय था। वस्तुतः तो वही आर्यसस्कृति थी। उस समय भारतमें अथवा पृथ्वी पर भी दूसरी संस्कृतियाँ उदित नहीं हुई थीं। आर्यजाति ही अधिकार जमाकर चारों ओर फैल गयी थी। जर्मन तक भी इसकी शाखा फैली थी। आजकी संस्कृति शुद्ध आर्यसंस्कृति नहीं ही हो सकती। देश, काल, परिस्थिति, दूसरी जातियोंका सम्पर्क ये सब किसी भी वस्तुको, किसी भी आचारको, किसी भी विचारको, किसी भी संस्कृतिको परिवर्तित किये बिना नहीं रह सकते। आज

आर्यसंस्कृति और आर्यसदाचारकी बात व्यर्थ है। फिर भी आर्यावर्त—भारत आज भी एक अनोखी प्रतिष्ठा संभाले हुए है। हमारे पूर्वजोंने हमें उपनिषद् देकर, दर्शन ग्रन्थ देकर, अपनी नैतिक पवित्रता देकर, समस्त विश्वको आश्चर्यमें डाल दिया है। ऐश्वर्यके उपासक भारतमे भी हैं। भारतके बाहर भी हैं। उनका गर्व एक दिन शान्त हो जाता है। उनकी आँखें एक दिन खुलती हैं। उनका हृदय एक दिन रोता है। तब वे भारतकी संस्कृति पर ही दृष्टि डालते हैं। उन्हें कल्याण-रविके किरण पूर्व दिशामें ही—पूर्णरूपसे भलेही न हों—किसी भी रूपसे दिखायी देते हैं। तब वे भारतकी शरणागतिका स्वीकार करते हैं। यहाँ उन्हें सुनायी देता है—

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः, न मेधया, न बहुना श्रुतेन। नायम् आत्मा बलहीनेन लभ्यः", "अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेन", "आत्मा वारे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः। मैत्रेयि", पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।"

यह सब सुननेके लिये ही धनदास भारतकी त्यागसंस्कृतिके पास आते हैं। यह सब सुनकर वे गलितगर्व बनते हैं। अतः आजके भारतीयकर्मयोगका मुझे आपके समक्ष निर्णय करना है। यज्ञ, दान और तप ये भारतके स्वभावमें गुंथी हुई वस्तुएं हैं। कृष्ण मानते हैं कि ये तीनों वस्तुएँ मनीषियोंको भी पवित्र करनेवाली हैं। शब्द कालकी मर्यादासे बाहर नहीं हो सकते। इसलिये समय-समय पर वह अपने अर्थ बदलते हैं देवानां प्रियः एक पवित्र शब्द था। सदाचार सम्पन्न, महोदार, महादयालु, महापुरुषके लिये इसका प्रयोग होता था। बुद्धकालकी ही—अशोककालकी ही यह रचना थी। पाणिनिके बाद कात्यायनके युगमें यह शब्द चाहे जिस कारणसे मूर्ख अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। राग-द्वेष कालने शब्दकी मर्यादाको भी बदल दिया। इसी प्रकार यज्ञ शब्द भी अपना अर्थ छोड़कर आया है। कृष्णने भी इसको मूल अर्थके आग्रहको न रखनेके

लिये खूब समझाया है। यह समझ गया है। इससे यज्ञ शब्द आज विशाल अर्थमें प्रवृत्त हुआ है। आज इसका मुख्य अर्थ है परोपकार। पहले यह स्वार्थपूर्ण अर्थ लेकर फिरता था। आज यह निःस्वार्थ होकर फिरता है। इसलिये आजका कर्मयोग इसके नये अर्थपर रचा जाता है, रचा गया है। यह तो जो कभी पृथ्वी पर नहीं आया, ऐसा पवित्र युग है। इसका नाम है गान्धीयुग। इस युगमें, देशमें, धर्ममे, आचारमें, विचारमें, प्रत्येक वस्तुमें क्रान्ति हुई है। यज्ञार्थमे भी क्रान्ति हुई है। आज मनोवाञ्छित घृत नहीं मिलता, साथ ही शुद्ध भी नहीं मिलता। आजकी गरीबी स्वाहा-स्वाहा करनेके विरुद्ध बलवा करना चाहती है। सादगी, परोपकार, सेवाभाव, अन्न और वस्त्र जिससे प्राप्त हो ऐसी स्वावलम्बी शिक्षा, पारस्परिक मैत्री, ऊँच या नीच, स्पृश्य या अस्पृश्य इन सभी भावनाओंका सम्पूर्ण त्याग, यह आजका कर्मयोग है। जिसका जीवन परोपकारका स्पर्श नहीं करता होगा, जिसमें सेवा भावना नहीं होगी, जो कुलीनताके आडम्बरमें पड़कर दूसरेके तिरस्कारमें ही अपना जीवन सफल मानता होगा, उसका आजकी दुनियामें पता नहीं लगेगा। जीवनमें थोड़ी भी पवित्रता न रखनेवाला तथा विवेक, वैराग्य और शास्त्रीय ज्ञानसे भी शून्य "जगद्गुरुकी" मूर्खतापूर्ण विरुद्ध धारणकरनेवालोंकी, आज प्रतिक्षण बदलते जगत्में कहीं भी स्थान नहीं है। मूर्खोंको खबर भी नहीं पड़ती कि सारा जगत् तुम्हें ही अपना शिष्य, अपना गुलाम मान रहा है। तुम्हारे पास ऐसा कोई जगत् ही नहीं है कि जिसका तुम गुरु हो सको। दो-चार मूर्ख शिष्य ही उनका जगत् है। उसी जगत्के वह गुरु हैं। उन्हें शर्म नहीं लगती। मुसलमान जिसका तिरस्कार करें, ईसाई जिसका अपमान करे, आर्यसमाजी जिसे नित्य धिक्कारें, जैन और बौद्ध जिसके सदाचारको घृणाकी दृष्टिसे देखें, करोड़ों हिन्दू जिसे मनुष्य माननेको भी तैयार न हों, वह इस युगमें अपनेको जगद्गुरु मानने और मनवानेका प्रयास करे। वह सचमुच पुच्छविषाणहीन शीतलामाताका वाहन ही है। ऐसे व्यवहारोंका खातमा होना चाहिये। जिससे मनुष्यताको

प्रकाश मिलता न हो, सत्यता सुरक्षित रहती न हो, दम्भ और पाखण्डकी वृद्धि होती हो, ऐसा व्यवहार इस युगमें नहीं चल सकता। इस वस्तुको जो समझेगा, और इसे समझकर जो स्वरूपानुरूप व्यवहार करेगा, भीतर और बाहर दोनों पवित्रताओंको जो प्राप्तकर लेगा, वह अवश्य जगद्गुरुके पदको पहुँचेगा। लोग स्वयं उसको अपना गुरु मानेंगे। पर जगद्गुरुका साइनबोर्ड लेकर फिरनेवाला धक्के खायेगा। उसकी मूर्खतापर सारा संसार उपहासरूप काँटोंकी वर्षा करेगा। जो मनुष्य प्रेमका पाठ सीखेगा और सिखायेगा, जो द्वेषकी भभकती ज्वालासे, स्वयं भस्म होकर, दूसरेकी रक्षा करेगा, स्वयं दुःखी होकर दूसरेको सुखी करेगा, स्वयं भ्रमसे अलग रहकर दूसरोंको भ्रमसे बचायेगा वह आजका महापुरुष है। यही निर्णय है। इससे भिन्न निर्णय हो नहीं सकता। जो अधम माने हुए मनुष्योंका उद्धार करेगा वही महापुरुष। रामने मछलीमार गुहके प्रेमका स्वीकार किया। अहिल्या जैसी पतिताका उद्धार किया, और शबरीकी झोपड़ीमें उसका आतिथ्य स्वीकार किया, इसीसे वे पतितपावनका बिरुद पा सके थे। कृष्ण भी यदि गरीब और न्यायके पक्षमें खडे न रहते तो उनकी मनुष्योंमे कोई गिनती ही न होती। मुसलमान कवि रहीमने ठीक ही कहा है—

जे गरीब सों हित करें, ते रहीम बड़ लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥

जो गरीबोंपर दया करसकें, गरीबोंका हित साधन करसके, वही महापुरुष है। कृष्ण और सुदामाका उदाहरण आज भी जीवित है। राजाओंके मित्र तो जगत्में बहुत हुए होंगे, (और होते रहेंगे) पर उनमेंसे एकको भी जगत् नहीं पहचानता। परन्तु जिसने गरीबसे मित्रताकी होगी वह जगत्के इतिहासमें अमर हो गया होगा। हजारों ऐसे गरीबके मित्रोंको हम और आप सब जानते हैं। इसलिये मैं कहता हूं कि कर्मयोगका स्वरूप देश और कालके सांचेमें ढलता है यह कभी नहीं भूलना चाहिये।

३०—८—५० को मुम्बासामें दिया गया प्रवचन।

वैष्णव पञ्चमाश्रम

(३७)

पृथिवीपर एक हमारा भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहाँ स्वाभाविक ही सासारिक वस्तुओंके लिए प्रेमका अभाव रहता है या रह सकता है। यह तो मैं भी जानता हूँ और आप भी जानते हैं कि भारतवर्षकी प्रजा धनार्जनमें इतनी अधिक तल्लीन रहती है कि मानो धनके लिए ही मानव-जीवन मिला हो। तथापि घनकी अथवा धनार्जनकी तल्लीनताके साथही उसके त्यागकी भी एक मन्दवासना उसके हृदयमें निवास अवश्य करती है। मैं जब कि यहाँ पूर्व अफ्रिकाकी यात्रा कर रहा हूँ, तब मुझे ब्रजसे एक पत्र मिला है कि भरतपुरके महाराज गोवर्धनकी साष्टाङ्ग परिक्रमा कर रहे हैं। ब्रजमें गोवर्धनपर्वतका बहुत बडा माहात्म्य है। यह वही पर्वत है जिसे भगवान् श्रीकृष्णने अपने कनीनिका अङ्गुलीपर उठा लिया था और उस पर्वतके नीचे ब्रजकी प्रजाको रखकर अतिवृष्टि-महाजल वृष्टिसे प्रजाका रक्षण किया था। श्रावण और कार्तिकमासमें उस पर्वतकी—गिरिराजकी प्रदक्षिणा करनेके लिये लाखों मनुष्य निकलते हैं और उनमेंसे सहस्रों लोग साष्टाङ्ग करते हुए प्रदक्षिणा करते हैं। यह बहुत कठोर कार्य है। यह इसके लिये अत्यन्त श्रद्धा अपेक्षित है। इस प्रदक्षिणाके करनेवालोंमें इस वर्ष भरतपुर-नरेश भी सम्मिलित हुए हैं। मैं नहीं जानता हूँ कि ऐसी प्रदक्षिणा उन्होंने या उनके पूर्वजोंने कभी की थी या नहीं। यद्यपि आज तो भारत में ऐसे महाराजोंका चित्र ही परिवर्तित होगया है तथापि अभी भी उनकी वैयक्तिक सम्पत्ति और ठाट-बाटमें कोई विशिष्ट अन्तर नहीं पड़ा है। तथापि ऐसे महाराज प्रदक्षिणामें—उसमें साष्टाङ्ग दण्डवत् पूर्वक प्रदक्षिणामें सम्मलित हुए। यह भारतवर्षकी अलौकिकताका एक जीवित उदाहरण है। अतएव मैं कहता हूँ कि महान् धनदासोंके भी अन्तरमें निर्धनों और दीनजनोंके पवित्र जीवनके अनुकरण की एक इच्छा तो रहती ही है। जब वे

ऋषियों-मुनियोंके उटजों-झोपड़ियोंकी बात सुनते होंगे, ऋषियोंके आश्रममें मृग और सिंह साथही सोते थे, इस बातको जब वे सुनते होंगे तब उनकी छाती आनन्द और अभिमानसे सौ-सौ गज ऊँची उछलती होगी। उस पवित्र जीवन जीनेके लिये, अहिंसाकी प्रतिष्ठाके साथ जीवन व्यतीत करनेके लिये, सर्वभूतोंके प्रति वैर-त्यागकी भावना सिद्ध करनेके लिये उनका हृदय, सासारिक सुखके सामने अपमानपूर्ण दृष्टिसे, घृणाकी दृष्टिसे, किसी अनुमेय भावनाका अनुभव करता होगा। इसीलिये तो रघुवशीय राजा अन्तिम ममयमे राज्यका त्यागकर राज्यकी उन सभी वस्तुओंका— जिन्हें कि उन्हीं से बलसे, छलसे, अत्याचारसे प्राप्त किया था—त्याग करके या लोगोंमें वितीर्ण करके, अपने पुत्रको राज्याधिकार सौंपकर, जङ्गलमे जाकर आर्षजीवन जीनेके लिये लालायित रहते थे। भर्तृहरि ऋद्धि-सिद्धि थी परिपूर्ण.तौभी अपने राज्यको छोड़कर जङ्गलमे चलागया था। स्वामी रामानन्दाचार्यके प्रधानशिष्योंमे से एक शिष्य जो राजस्थान के गागरौनगढ-राज्यके राजा थे—महाराज पीपा राजगादीका त्याग करके, राज्यको अपने भाईको सौंपकर स्वय वैष्णव संन्यासी बन गये थे। स्वामी रामानन्दाचार्यके जो गिने-चुने बारह प्रधान शिष्य थे उसमें से ही एक श्रीपीपाजी थे। स्वामीरामानन्द श्रीवैष्णवसम्प्रदायके एक महान् आचार्य थे। मेरी दृष्टिमे धार्मिकक्षेत्रमें, साम्प्रदायिक आचार्योंमें रामानन्दकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती। वह तो अद्भुत और अद्वितीय श्रीवैष्णवाचार्य थे। जो आचार्य केवल ग्रन्थोंकी रचना करे, वेदान्त दर्शनपर केवल भाष्य लिखे उसे मै आचार्य मानता ही नहीं हूँ। प्रस्थानत्रयीपर जो भाष्य लिखे वही आचार्य कहा जाता है, यह कल्पना तो मूर्खोंकी है। वास्तविक आचार्य तो वह होता है जो जगत्मे शान्ति और सुखके साथ जीवन व्यतीत करनेकी सामग्री मानवसमाजको अर्पित करे। जिसने दीनोंको, पददलितोंको, पीडितोंको, पतितोंको अपनी गोदमें आश्रय नहीं दिया वह आचार्य कैसा ? जिस माताने अपनी निर्बलताके कारण अपने पुत्र कर्णका त्याग किया, वह माता कैसी ? जिसने स्वयं

महान् बनकर अन्योंको महान् नहीं बनाया, वह महापुरुष कैसा ? रामानन्दस्वामी पहले ही आचार्य थे जिन्होंने नीच मानी जाती हुई जातियोंमें से किसीको लेकर महान् बनाया। कबीरकी बात सर्वविदित ही है। वह एक प्रखर तत्त्वज्ञानी थे और रामानन्दस्वामीजीके ही प्रधान शिष्योंमें से एक थे। इतना ही नहीं, राणावंशमें एक अमूल्य रत्न समान श्रीमीराबाईके गुरु थे। धना एक जाट थे। सेन एक नायी थे। ये दोनों ही रामानन्दके विरक्त शिष्य थे। दोनों ही तत्त्वज्ञानी थे। दोनों ही परम भक्त थे। हिन्दूसमाजने जिस मानवताको उन लोगोंसे छीन लिया था, उसी मानवताको ये श्रीरामानन्दाचार्यकी कृपासे ही प्राप्त कर सके थे। ब्राह्मण शिष्य तो रामानन्दके अनेक थे। रामानन्दकी तपश्चर्याने, रामानन्दकी उदारताने, रामानन्दके उदात्त विचारोंने महाराज पीपाको राजगद्दीसे उतारकर वीतराग जीवन व्यतीत करनेके लिये, प्रभुमय जीवन जीनेके लिये प्रेरणा दी थी। रोती हुई रानीका उन्होंने त्याग किया था। अतः यह सत्य ही है कि भारतीय चक्रवर्ती राजाको भी एक दिन मृगचर्मको बगलमें दबाकर, जङ्गलमें जाकर विरक्तताके पवित्र चरणोंमें आ लोटनेकी इच्छा हो जाती है। धन्य है तू हे भारतवर्ष !

यह क्यों ? "यह क्यों" इस प्रश्नका उत्तर है। भारतीय प्रजाको विश्वास है कि यह जगत् अज्ञेय है और दुर्गम है। जितना दृष्टिगत होता है उतना ही यह नहीं है। इससे भी वह विशाल है। जिन स्थितियोंका हम यहाँ अनुभव करते हैं उनसे भी ऊँची स्थिति इस जगत् की है। एक जीवनकी समाप्तिके पश्चात् दूसरे जीवनका आरम्भ होता है। यही अन्तिम जीवन नहीं है। जीवनकी परम्पराएं हैं। वे परम्पराएं भव्यतावाली हैं। इस जीवनसे भी अधिकभव्यजीवन भविष्यमें निश्चित् है। जहाँ इस मानव-जीवनकी समाप्ति है वह तो सर्वश्रेष्ठ और सबसे अधिक भव्य प्रदेश है।

"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोयमग्निः"

जहाँ लौकिकप्रकाशका अन्त होता है, जहा सभी प्रकाशकोंको भी

प्रकाश देनेवाले महाप्रकाशका महान् केन्द्र है। इस जीवनके अनन्तर एक अद्वितीय सुख है, शान्ति है, आनन्द है, इसी विश्वाससे भारतीय विद्वान् इस जगत्को त्याज्यकी दृष्टिसे देखने लगे। इसके प्रति लोगोंके हृदयमे घृणा जागरित हुई। यहाँ अनुभूत अथवा अनुभूयमान सर्व दुःखोका जहाँ अन्त होता है ऐसी मुक्तिदेवीकी गोदमे अनन्त शान्ति प्राप्त करनेके लिए आतुरता सहसा जागरित हुई। महती तपश्चर्याके पश्चात् भगवान्के बनाये हुए ये हरियालीसे ढँके हुए पर्वत, गर्जते हुए सागर, अलभ्य लाभके लिये दौडती हुई ये नदियाँ, ये जङ्गल, ये लताएँ, ये गुल्म, ये वनस्पति, और ये कुसुमावलियाँ भारतीय महान् आत्माओंको अपनी ओर आकृष्ट करनेमें असमर्थ बनीं। राज्य दु.खद प्रतीत हुए। खेलते, कूदते, किलकिलाते और खिलखिलाकर हँसते बालक विघ्नरूप प्रतीत होने लगे। अनेक प्रकारोंसे जगत् और जगत्की सामग्रीकी निन्दा होने लगी। यह सब हुए, केवल अदृश्य और अकल्प्य परमानन्दकी प्राप्तिके लिये ही।

परन्तु केवल त्यागसे ही तो परमानन्द प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिये कोई अन्य मार्ग चाहिये। मार्ग ढूँढे गये। मार्गोंकी व्याख्याएँ हुई। दो मार्ग मिले; ज्ञान और भक्ति। सभी लोग प्रथम ज्ञानकी ही शोधमें लग गये। क्योंकि जब लोगोंके विचारमें ईश्वर आया तब उसका कोई आकार-प्रकार कल्पित नहीं था। निराकार, निर्गुण, निरीह, निश्चल, ये ही सब उसके रूप-स्वरूप स्थिर हुए। आज भी तो यह स्वरूप है ही। परन्तु बहुत पीछेसे जब मानवहृदय उपासकसे उत्तर माँगने लगे, प्रेमके प्रत्युत्तर प्राप्त करनेकी इच्छा प्रकटकी, हृदयकी वेदनाओंको प्रकट करने और उसको सुननेवालेको प्राप्त करनेकी आतुरता जागरित हुई, तब ईश्वरके साकार और सगुण स्वरूपकी भी कल्पना हुई। ज्ञानमार्गमे सभी वेदनाओंको, सभी दुःखोंको, आत्मासे पृथक् करके, उन्हें मनके साथ सम्बद्ध करके, आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसमें दुःखका लेश भी नहीं, प्रतीय-मान दुःख अन्तःकरणके ही दुःख हैं, वे दुःख सत्य नहीं हैं, कल्पित

हैं, मान लिये गये हैं, ऐसे-ऐसे विचारोंसे वेदनाओंको सहन करनेके लिये, दु:खोंसे बहिर्मुख बननेके लिये, आनन्दमें मग्न रहनेका उपदेश किया गया। ज्ञानमार्ग स्वावलम्बी है। सबको स्वावलम्बी बनाता है। ज्ञानमार्ग मानता है कि किसी भी दुःखको दूर करनेके लिये किसी की सहायता काममें नहीं आ सकती। मानसिक दुःख, सासारिक वेदनाएँ ज्ञानसे ही, विवेकसे ही दूर की जा सकती हैं। यह है ज्ञानमार्गकी व्याख्या।

भक्तिमार्गकी व्याख्या इससे भिन्न है। भक्ति स्वावलम्बिनी नहीं है। परावलम्बनसे ही यह आगे बढती है। यह भक्ति है, इसके लिये एक आलम्बन अपेक्षित है। एक उपास्य देव चाहिए। उसके विना भक्ति एक सेकेण्डके लिये भी जीवित नहीं रह सकती। भक्तिमें प्रेम है। प्रेम भी एक सुन्दर, मनोहर आश्रयको ढूँढ़ता है। वह एक सहृदय प्रेमीको ढूँढता है। प्रेमी न हो तो प्रेमप्रवाहकी दिशा कौन ? भक्ति स्निग्ध वस्तु है। अतः वह एक स्निग्ध आधारको, एक स्नेहीको ढूँढ़ती है। स्नेहीके विना स्नेह आलिङ्गन किसका करे? अतः भक्ति निराश्रय नहीं, स्वाश्रय भी नहीं, पराश्रय वस्तु है। यह "पर" भी "स्वीय" बनता है। परन्तु "स्वीय" बनानेकी कला आनी चाहिये। इसी कलाका नाम भक्ति। भक्ति करनेवाला भक्त एकाग्र होता है, एकचित्त होता है, एक ध्यान होता है। उसकी आखोंमें उसका उपास्यदेव अविरत विराजमान रहता है। उसकी दृष्टिमें सकल विश्व उजाड जङ्गल है, नीरव आकाश है और निस्तब्ध पाषाणखण्डोंका समूह है। अथवा उसकी दृष्टि सर्वत्र अपने प्रियको ही, प्रियतमको ही, अपने उपास्यको ही, अपने प्रभुको ही देखती है। "भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिर जाय"। जैसे पथिकालयको भरा हुआ देखकर पथिक स्वयं पीछे लौट जाता है, वैसे ही भक्तकी आखोंमें उसका प्रभु समाया हुआ होता है। अन्योंके लिये उसमें स्थान ही नहीं होता। अन्य वस्तु उसके सामने आ आकर लौट जाती हैं। भक्त स्वामीरामतीर्थके शब्दोंमें कहता है—

तुझे देखूं तो फिर औरोंको किन आँखोंसे मैं देखूं।
ये आँखें फूट जायें गर्चे इन आँखोंसे मैं देखूं॥

वह पागल बनता है। जगत् उसकी दृष्टिमें से अदृश्य हो जाता है, दूर चला जाता है। वह जगत्का त्याग करता है परंतु तब जगत् उसे नहीं छोड़ता। वह लोगोंसे दूर जाता है, परन्तु तब लोग उसके पास ही कुण्डलित होकर, उसे घेरकर लोग बैठे होते हैं। क्योंकि उस समय वह एक पवित्र आग लेकर बैठा हुआ होता है। वह स्वयं भी एक पवित्र अग्नि ही होता है। वह एक प्रकाश होता है। लोग उस प्रकाशकी ओर आकृष्ट होते हैं। इस समय वह शीतल चन्द्र बन गया होता है। क्योंकि वह अपने प्रभुकी शीतल हस्तछायामें बैठा हुआ होता है। भवतापसे सन्तप्त मानव सन्तापकी शान्तिके लिये उसके पास ही बैठे रहते हैं। भक्तका भगवान् भी अपने भक्तको घेरकर बैठा होता है। भक्तकी सभी अशान्तियाँ उजड गयी होती हैं। यह मेरी माता, यह मेरे पिता, यह मेरे बन्धु, यह पुत्र, यह कलत्र, ये सगासम्बन्धी, ये सब विचार उस समय उसके मनसे दूर चले गये होते हैं। उसका जगत् नहीं होता, उसके लिये जगत्के पदार्थ नहीं होते, उसके सम्बन्धी नहीं होते। उसने तो अपने भगवान्के ही साथ सब सम्बन्ध जोड़ लिये हैं। उसका वर्ण गया। उसका आश्रम गया। उसके प्रभुका जो वर्ण वही उसका वर्ण। उसके प्रभुका जो आश्रम, वही उसका आश्रम। वर्णाश्रमधर्मकी घटमालामें

से वह मुक्त बना हुआ होता है। उसका हृदय कहता है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो,
नो वा वर्णो न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा।
किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्दपूर्णामृताब्धेः,
सीताभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥

"मैं ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय नहीं, वैश्य नहीं, शूद्र भी नहीं। मैं ब्रह्मचारी नहीं, गृहस्थ नहीं, वानप्रस्थ नहीं, संन्यासी भी नहीं। वह कहता है कि

मेरा परिचय तो इतना ही है कि मैं परमानन्दस्वरूप साकेताधीश्वर, भगवान् रामके दासोंके दासोंका तुच्छ दास हूं।" इस रीतिसे बोलनेवाला, बोलनेके अनुसार ही आचरण करनेवाला ही भगवान्का अनन्य भक्त होता है। इसीलिये भागवतमें कहा गया है कि "वैष्णवः पञ्चमाश्रमः" वैष्णवोंका, विष्णुभक्तोंका कोई आश्रम होता ही नहीं है। पञ्चमाश्रमका अर्थ है आश्रमकी आसक्तिका निरन्तर बाध।

ता० ३१-८-५० को दारेस्सलाममें दिया गया प्रवचन।

वैष्णव-पञ्चाश्रम

(३८)

भागवतमे "वैष्णवः पञ्चमोवर्णः" "वैष्णव पञ्चमाश्रमः" यह सब कहकर कहा गया है कि विष्णुभक्त = वैष्णवका कोई वर्ण नहीं है और कोई आश्रममें भी नहीं है। जिस प्रकारसे अद्वैत वेदान्तीका कोई वर्ण और कोई आश्रम होता नहीं है उसी रीतिसे भक्तिमार्गमें भी वर्ण और आश्रमके लिये कोई स्थान नहीं है। हिन्दूशास्त्रोंमें वर्ण और आश्रमके लिये अत्यन्त आग्रह है। उनका डंका बजता है। परन्तु ये वर्णाश्रम सृष्टिके आरम्भसे तो नहीं ही हैं। एक ऐसा मध्ययुग था जब वर्णव्यवस्था और आश्रमव्यवस्थाका निर्माण हुआ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदमे वर्णव्यवस्थाके निरूपकसूक्तोंको मैं जानता हूँ, समझता हूँ तो भी मैं वर्णाश्रमके विषयमें ऐसा कह रहा हूँ। मै पुनः कहता हूँ कि ये दोनों ही विधान सनातन नहीं हैं, अनादिकालके नहीं हैं। भले वे अज्ञातकालसे चले आते हों। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये चार वर्ण कहे जाते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास ये चार आश्रम कहे जाते हैं। वेदोंमें ब्राह्मणको ब्रह्मका मुख, क्षत्रियको भुज, वैश्यको जङ्घा और शूद्रको पाद कहा गया है। परन्तु ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके लिये वेदमें कहीं कोई विशिष्ट विधान नहीं मिलता। आज ब्राह्मण, क्षत्रियादि किसे कहते हैं, इसे आप जानते ही हैं। न जानते हों तो जाननेकी आवश्यकता भी

नहीं है। आज नहीं है कोई ब्राह्मण, नहीं है कोई क्षत्रिय, नहीं है कोई वैश्य और नहीं है कोई शूद्र। आज या तो सब ब्राह्मण हैं या सब शूद्र हैं अथवा तो कोई भी कुछ भी नहीं है। जिस वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है, उसे जाननेकी आवश्यकता भी नहीं है। शास्त्रोंके अनुसार ही सब कुछ मानना है। शास्त्रोंको खोलकर बैठें और परीक्षा करने लग जाँय तो कोई वर्ण शास्त्रीयरीति सर्वाङ्गपूर्ण नहीं ही मिलेगा। यदि नये स्वरूपमें वर्ण व्यवस्था बनानेकी इच्छा हो तो उनका नाश ही क्यों न इष्ट माना जाय? अच्छा, इसे जाने दें। आज वर्णव्यवस्था अपने वास्तविक रूपमें भले न हो, परन्तु वर्णोंके नामों और विभागोंका अस्तित्व तो है ही। इन वर्णाश्रमी लोगोंके लिये दो मार्ग ढूँढे गये, भक्ति और ज्ञान। भागवतमें भक्तिमार्गके अनुयायियोंके लिये ही वैष्णव शब्दकी योजना हुई है। वैष्णव अर्थात् भगवद्भक्त। भगवद्भक्त अर्थात् जिसकी दृष्टिमें उसके भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य कुछ भी भासित न हो वह। भगवान् ही जिसका धर्म है, भगवान् ही जिसकी ज्ञाति या वर्ण और भगवान् ही जिसका सर्वस्व हो, वही वैष्णव है, वही भागवत है और वही भक्त है। ऐसोंके लिये ही भागवतने कहा है कि वैष्णवोंका आश्रम पञ्चम है। आश्रम तो चार ही प्रसिद्ध हैं। पञ्चम कोई आश्रम है नहीं। पञ्चमाश्रम कहनेका तात्पर्य यह है कि चारो आश्रमोंसे और इन आश्रमों और आश्रमियोंके खटपटसे जो पृथक् रहे वह पञ्चमाश्रमी। व्यास और शङ्कर दोनों ही एक ही वस्तु कहना चाहते हैं। परन्तु भाषामें अवश्य विभिन्नता है। शङ्कराचार्य कहते हैं कि ज्ञानीकी दृष्टिमें कोई वर्ण नहीं और कोई आश्रम नहीं। व्यास कहते हैं कि भक्तकी दृष्टिमें कोई वर्ण नहीं है, कोई आश्रम नहीं है। एक "ज्ञानी" शब्दका प्रयोग करता है और दूसरा "भक्त" शब्दका। दोनोंका तात्पर्य तो यही है कि मुक्तिमार्गमें जानेवालोंको इन कल्पित मिथ्या वर्णधर्म और आश्रमधर्मसे पृथक् ही रहना चाहिये। ज्ञानी मानते हैं कि ज्ञानके बिना मुक्ति दुर्लभ है। भक्त मानते हैं कि भक्तिके बिना मुक्ति दुर्लभ है। ज्ञान और भक्ति शब्दका झगड़ा है, अर्थका

नहीं। ज्ञानीको भी जगत् इष्ट नहीं है, भक्तको भी वह इष्ट नहीं है। ज्ञानीकी दृष्टिमें जगत् ही नहीं है और भक्तकी दृष्टिमें सम्पूर्ण जगत् उसके प्रभुका ही रूप है। एक जगत्को नहीं देखता है। दूसरा भी जगत्को तो नहीं देख रहा है परन्तु जगत्को अपने उपास्यदेवका ही स्वरूप देख रहा है। दोनोंकी ही दृष्टिमे जगत् नहीं है। कहीं झगडा नहीं है, कहीं कलह नहीं है। यदि एकाध सच्चा भक्त और एकाध सच्चा ज्ञानी, दोनों दैवात् एक जगहपर मिलें तो अवश्य ही दोनों छाती से छाती मिलाकर आनन्दका अनुभव करें। दोनों ही एक ही पन्थके पथिक हैं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानीकी अपेक्षा भक्त अधिक उत्तम है। क्योंकि भक्त जगत्को अपने प्रभुके रूपमे देखकर उसकी सेवा और उसके कल्याणमे तत्पर बनता है। ज्ञानी जगत्को कल्पित, मिथ्या, भ्रम इत्यादि समझकर उससे उदासीन रहता है। मानवसेवा यह सर्वोत्तम धर्म है, यह बात भक्तसमाजकी समझमें आती है। परन्तु यह तत्त्वज्ञानी की समझमे नहीं आ रहा है। उसको यह जगत् बन्धनरूप प्रतीत होता है। ज्ञानीका झगडा था कर्मयोगके साथ परन्तु वह हो गया भक्तियोगके साथ भी। सन्यासियोंको अग्निस्पर्शका निषेध है। उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि वे यज्ञादिकर्मोंसे पृथक् रहें। परन्तु वह निषेध जुड गया अग्निमात्रके स्पर्शके साथ। भिक्षा मागने जैसा अधम कार्य इसी निषेधमेंसे उत्पन्न हुआ। संन्यासीका पेट तो रह गया और नैष्कर्म्य आया। पेटको भी जाना चाहिये परन्तु यदि वह रह ही जाय तो उसे भिक्षान्नसे नहीं, शारीरिक श्रमसे पाला जाय। नैष्कर्मण्यका अर्थ केवल यज्ञादिकर्मोंके त्यागमें सनिहित है, नही कि शारीरिक श्रममे। एवं "संन्यासी" शब्दका अर्थ केवल अमुक वर्गका सन्यासी नहीं है। वैष्णव संन्यासी हो या शैव संन्यासी हो, उदासीन हो अथवा अन्य सम्प्रदायका हो, सभी संन्यासी ही हैं। जो त्यागी है वही संन्यासी है। जो लोग त्यागके नामसे, संन्यासके नामसे अपने शरीरके रक्षणके लिये भी कर्मका त्याग करके, प्रजाके लिये कुछ भी हितसाधन न करते हुए अपने सुखके लिये ही सभी अनुकूल-

ताओंका संचय करते हुए जीवन व्यतीत करते हैं, वे संन्यासी ही नहीं हैं। सब झगडे अज्ञानतामेंसे उत्पन्न हुए हैं। संन्यासमार्ग कभी भी परोपकारका विरोध नहीं करता। इस पवित्र कार्यका त्याग करनेके लिये वेदान्त कभी भी उपदेश नहीं देता। परन्तु स्वार्थसिद्धि और स्वानुकूल्यके लिये लोगोंने निरर्थक अर्थ निकाल लिये हैं। भक्त किसी देवके नामका जप करता है। ज्ञानीके ब्रह्मके "ॐ" नामका जप करता है। दोनों ही तो समान हैं। ब्रह्म ब्रह्म कोई नहीं जपता। कोई राम-राम जपता है, कोई ॐ-ॐ जपता है। आप मुझे कहने दें कि भाव विना, प्रेम विना, श्रद्धा विना, समझे विना राम, शिव, ॐ आदि जपनेका कुछ भी फल नहीं है। इससे कोई लाभ नहीं। लाभ तो होता है नामीके साथ अभेदसिद्धिसे। बाकी तो सब भ्रम ही है। "भाव कुभाव अनख आलस हूँ। नाम जपत मङ्गल दिशि दश हूँ" ॥ इस गोस्वामी तुलसीदासजीकी चौपाईका मूर्खोंने दुरुपयोग किया है। इसका तात्पर्य तो इतना ही है कि मनुष्यको भगवद्भक्ति करनी चाहिये, अन्य न तो इसका अर्थ है और न भाव। लोग कलियुगका आश्रय लेते हैं। वह भी मूर्खता ही है। कलियुगमें केवल भगवन्नाम ही आधार है, यह कहना भी अज्ञानता ही है। कलियुग और सत्ययुगका कुछ भी अर्थ नहीं है। क्या इस धारणामें मनुष्यता रही हुई है कि सत्ययुगके मनुष्य धर्मात्मा थे और कलियुगके हमलोग पापात्मा हैं? ऐसा जो मानता हो वह स्वयं भले पापी हो, परन्तु समस्त प्रजाको पापी बनानेका उसे क्या अधिकार? वस्तुतः तो कलियुग और सत्ययुग कोई वस्तु ही नहीं हैं। सब काल्पनिक है। जैसे रविवार और सोमवार, चैत्र और वैशाख ये सब व्यवहारकी सुगमताके लिये काल्पनिक हैं, वैसेही युगभी काल्पनिक हैं। बहुत लम्बे कालको मापनेके लिये युगोंकी कल्पना है। स्वयं जाल बनाकर स्वयं फँस जाने, उलझ जानेकी बात है। मनुष्योंने व्यवहारकी सुगमताके लिये काल्पनिक कालके काल्पनिक विभाग किये। उसमें भी यह युग अच्छा और यह युग बुरा, यह भी विभाग हुआ। यह युग अच्छा, यह युग खराब, यह नीच, यह ऊँच, इन सब मूर्खताओं

का अन्त होना ही चाहिये। सत्ययुगकी अपेक्षा आज हमलोग अपने युगमें बहुत अच्छे, सदाचारी, विद्वान् और महात्मा हैं। हिन्दुदृष्टिसे विचार करें तो सत्ययुगमें अधिकसे अधिक ईश्वरावतार हुए हैं। कलियुगमे अभीतक एक भी ईश्वरावतार नहीं हुआ है। भगवद्गीता कहती है कि, दूसरे ग्रन्थ भी कहते हैं कि जब-जब धर्मकी हानि, अधोगति होती है, तब-तब भगवान् अवतार लेकर आते हैं। सत्ययुगमें बहुतसे अवतार आये और गये। त्रेतामें भी अवतार आया। द्वापरमें भी अवतार आया। कलियुगमें अभी तक हिन्दुशास्त्रके अनुसार एक भी ईश्वरावतार आया नहीं है। अतः सत्ययुगकी अपेक्षासे त्रेता और द्वापर की अपेक्षासे भी कलियुग अभीतक सर्वोत्तम युग है। इतना तो आप भी मानेंगे ही। जो लोग ग्रन्थोंसे व्यर्थ वचनोंको ढूँढ़कर, अज्ञानवश अपनेको पतित मानते हैं, वह वस्तुतः पतित हैं। ग्रन्थोंको छोड़ें, बुद्धिको पकड़ें। ये सब ग्रन्थ बुद्धिमसे ही उत्पन्न हुये हैं। आप थोड़ाभी विचार करेंगे तो आपको विदित होगा कि आप अपनेको, अपने युगको अज्ञानवश ही पतित मानते हैं। यह बड़ी भारी भूल है। नामका आधार छोड़ें। गुणोंका आधार ढूँढ़ें। उत्तमोत्तम गुण आपमें प्रकट हों, बस आपका कल्याण आपके हाथमें होगा। यों तो आप चाहे जितना नाम जपते रहें, जपते-जपते परलोक भी पधार जायँ, परन्तु दुराचारी होंगे तो कभी भी मुक्ति मिलनेको नहीं। मैं नाम-जपका विरोध करता हूँ, केवल आपकी पद्धतिको देखकर। परन्तु मेरी पद्धतिसे आप नाम-जप करेंगे तो आपको अवश्य लाभ होगा। वैयाकरणोंका एक द्धान्त है कि—

न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥

ऐसा कोई ज्ञान नहीं है कि जिसके लिए शब्द ढूँढ़े न गये हों। शब्द और अर्थ साथमें ही चलते हैं। नाम-जप करनेवाला जब सावधान होकर बुद्धिपूर्वक, दम्भ और पाखण्डको छोड़कर नाम-जप करने लग

जाता है तो तत्क्षण उस शब्दके साथ जुड़ी हुई व्यक्ति स्मृतिमें आती है। रामका नाम लेतेही, रामका जप करनेवालेकी बुद्धिमें राम आरूढ होते हैं। इस रीतिसे जपमें केवल शब्द ही नहीं, व्यक्ति भी उपस्थित होती है। तत्तद्व्यक्तिके गुण-धर्म भी तत्तद्व्यक्तिके स्मरणके साथही बुद्ध्यारूढ होते हैं। यदि पवित्र नामका जप किया जाय तो वह जप शब्द, व्यक्ति और गुण इन तीन वस्तुओंको जन्म देता है। उनका प्रभाव जप करने-वाले पर पडे विना रह ही नहीं सकता। दाशरथि रामका जो कोई भी जप करेगा, अवश्यही वह राम जेसा बनेगा। अजर, अमर, अजन्मा रामका जप करनेवाला अवश्य अजर, अमर, अजन्मा बनेगा। पवित्र मनसे जिस शब्दका जप करेंगे उसके द्वारा, उस व्यक्तिके मानस-साक्षात्कारके पश्चात् उस व्यक्तिके गुण आपमें--उपासकमें उत्पन्न होंगे ही। यही भक्तिका रहस्य है। लोग इसे समझे नहीं हैं। समझनेका प्रयास भी कोई नहीं करता है। अतः इसे कोई समझ भी नहीं सकता है। गाड़ी चलती ही रहती है। लोगोंको चाहे जिस रीतिसे प्रतिष्ठा प्राप्त करनी है। चेला-चेली बनानेकी इच्छा पूर्ण करनी है। श्रमके विना ही अखूट या सखूट धन प्राप्त करना है। प्रजा अन्धकारमें ही पडी है। व्यापारी उपदेशक यदि प्रजाको मूर्खमार्गमें चलाना चाहेंगे तो प्रजा आँख बन्द करके अवश्य ही उसी मार्गसे चलेगी। इसमें प्रजाका दोष नहीं है। सब दोष, सब पाप गुरु बननेवालेके सिर-पर है। आजके गुरु स्वयं कुछ समझते नहीं, अन्योंको समझने देते नहीं। मन्त्र, यन्त्रके जालमें फँसाकर प्रजाको ज्ञान और कल्याणके मार्गमें जानेसे वे रोक रहे हैं। यह पाप हो रहा है। मूर्खोंको यह अच्छा लगता है। क्योंकि उन्होंने पहिलेसे ही मन्त्र, यन्त्र, तन्त्रकी बात सुन रखी है। विश्वास होनेमें विलम्ब नहीं लगता। गाडी चल पडी। "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"। उपनिषद्ने सत्य ही कहा है कि अन्धोंके नेता आज अन्धे ही हैं।

आप यदि सच्ची भक्ति चाहते हों एवं यदि आपको मोक्षकी सच्ची

इच्छा हुई हो तो आप अपनी परीक्षा होने दें। जिसको भूख या प्यास लगी होती है, उससे कोई काम नहीं होता। उसे ऊँघ आती नहीं। इधर-उधरकी बातें उसे अच्छी नहीं लगतीं। उसकी एक-एक नस टूटती है। मुँह सूखता है। जीभ बोलना बन्द करती है। यही दशा मुक्ति-मार्गियोंकी होनी चाहिये। मुक्तिलोकमें जानेकी इच्छावाला कभी भी असत्य बोले नहीं, असत्यवादीका सङ्ग करे नहीं। उसे तो चोरी, काला-बाजार, परस्त्रीको छेडना, यह सब पाप ही प्रतीत होंगे। उसे जगत्के एक भी वस्तुका मोह नहीं होता या नहीं रहता। वह तो केवल अपने प्रभुके मार्गको ही ढूँढेगा। नवधाभक्ति या अष्टधाभक्तिको ढूँढनेके लिये भट-कनेकी आवश्यकता नहीं है। आत्मसंवेदन करना सीखें। भक्ति आ जायगी। हाथ-पैर दबाना पितृभक्ति या मातृभक्ति या गुरुभक्ति तो कही जा सकती है परन्तु यह ईश्वरभक्ति नहीं है। ईश्वरका पैर ढूँढने कहाँ जाय? आर प्रभुके गुणोंका क्या और कितना कीर्तन कर सकेंगे? आप आज तक इतना तो जान ही नहीं सके हैं कि आपकी आँखोंको बनाने वाला किस मसालेसे इन्हें बनाया है। आपके कानमें कैसा यन्त्र है जो बाहरके शब्दको यथावत् गृहीत कर लेता है? आपकी शारीरिक क्रियाएँ कैसे चलती हैं, इसका भी ज्ञान आपको नहीं है। ये सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल किस रीतिसे अस्तित्व में आये और ये हैं क्या यह सब भी आप नहीं जानते हैं। तब आप ईश्वरका गुणगान करेंगे तो कैसे करेंगे? रावणने मार्यो रे, कंसने संहार्यो रे" यही है आपका भगवत्कीर्तन। जिसमेंसे राग, द्वेष, घृणा आदि दुर्गुण उत्पन्न हों ऐसे कीर्तनसे तो आप नरकमें ही जायेंगे। यह कीर्तन वास्तविक कीर्तन नहीं है। यदि वास्तविक कीर्तन आप अपने प्रभुका करना चाहें तो अन्तर्मुख बनें। रावण और कंसको भूल जायँ। ईश्वरके वास्तविक और सत्य गुणों को समझें। उन्हें आप अपनेमें स्वाभाविक रीतिसे आने दे। यही सच्ची भक्ति है। अपने उपास्यदेवके समान ही आप भी पवित्र बनें, उपकारी बनें। आप सच्चे भक्त तब बन जायँगे। इसी सच्ची भक्तिको

सिखानेके लिये मैं यहाँ आया हूँ। आपने बहुतसे शालिग्राम देखे और उनका पूजन भी किया। अनेक नर्मदेश्वरोंको जादूकी थैलीमेंसे निकालते आपने देखा। इससे आपका क्या और कितना कल्याण हुआ। आप कितने पवित्र बने। आपमेंसे असत्य गया? वञ्चना वृत्ति गयी? राग और द्वेष गया? मूर्खता नष्ट हुई? तनिक भी ज्ञानोदय हुआ? यदि कुछ भी नहीं हो पाया है तो इस जगड्वालमें आप पड़ते ही क्यों हैं? भारतसे हजारों माइल दूर आकर भी आप तार्किक न बन पाये। वस्तुकी परीक्षा करनेकी शक्ति नहीं आयी। यदि आप जगत्को नहीं पहचान सकते हैं तो जगत्के बाहरके तत्त्व = परमात्माको कैसे समझ सकते हैं? किसी दिन त्रैराशिक तो निकाले।

किंच, आजके उपासक व्यक्ति—उपासनामे पडे हैं, यह तो अच्छा ही हुआ है। परन्तु मेरा उपास्यदेव पूर्ण और अन्योंका अपूर्ण, इस झगडेमें क्यों पडे? यह झगडा खराब है। श्रीरामोपासक और श्रीकृष्णोपासक दोनों ही व्यक्ति पूजा ही करते हैं। परन्तु दोनों, दोनोंको अवतार मानते हैं। एक कहता है मेरा अवतार १६ कलाओंका, अर्थात् पूर्णावतार, तुम्हारा अवतार १२ कलाओंका अर्थात् अपूर्णावतार। ये दोनों उपासक ऐसा मानते हैं कि १६ कलाओंवाला अवतार पूर्ण अवतार होता है और १२ कलाओंवाला अवतार अपूर्ण अवतार होता है। वह यहाँ भूलते हैं। क्योंकि १६ के पश्चात् १७, १८ आदि संख्याएँ तो हैं ही। तो पूर्ण किस रीतिसे? किंच उपासक यह भी भूलते हैं कि अनन्तकलावाले परमेश्वरकी १६ कलाएँ कैसी और १२ कलाएँ कैसी? सत्य वस्तु यह है कि राम रघुवंशमें उत्पन्न हुए थे। रघुवंश ही सूर्यवंश है। सूर्य द्वादश माने गये हैं। अतः रामको द्वादश (१२) कलाओं का अवतार लोगोंने मान लिया है। कृष्ण यदुवंशमें उत्पन्न हुए थे। यदुवंश अर्थात् चन्द्रवंश चन्द्रकी १५ + १ = १६ कलाएँ मानी जाती हैं। अतः कृष्ण १६ कलावाले माने जाते हैं। यदि इसी रीतिसे अवतारोंकी नीचाई और ऊँचाई मापी जाय तो, एक और भी गज हो, उससे भी अवतारोंको मापना

चाहिये। चन्द्रमें अपना कोई प्रकाश नहीं है। सूर्यके प्रकाशसे ही वह प्रकाशित होता है। अतः यदि चन्द्र १६ कलाओंवाला नहीं, सहस्रों और लाखों कलाओंवाला माना जाय तो भी सूर्यकी अधीनता तो उसके गले पड़ी ही है। इस रीतिसे तो सूर्य स्वामी बनता है और चन्द्र सेवक। सूर्य दाता बनता है और चन्द्र भिक्षु। राम और कृष्णका सम्बन्ध इस रीतिका बन जाता है। परन्तु इस मूर्खताका भी अन्त आना चाहिये। आश्चर्य तो यह है कि रामोपासक कृष्णमें और कृष्णोपासक राममें अपकर्ष देखते हैं परन्तु जब रामनवमी और कृष्णाष्टमी आती है तब दोनों मिलकर उपवास करते हैं, व्रत करते हैं, उत्सव मनाते हैं। इस नीच-ऊँचकी भावनाका त्याग करके समस्त जगत्को आप अपने प्रभुसे परिपूर्ण समझने या प्रभुरूप समझनेका जिस दिन आप आरम्भ करेंगे उसी दिन और उसी दिनसे आप समझने लग जायेंगे कि "वैष्णवः पञ्चमाश्रमः" का क्या अर्थ है।

ता० १-६-१९५० के दिन दारेस्सलाममें दिया गया हुआ प्रवचन।

नवयुवकोंका समाजके प्रति कर्तव्य

(३९)

आज मुझे यहाँ हमारी राष्ट्रभाषामें भाषण करनेके लिये कहा गया है। अतः मैं आज हिन्दीमें ही भाषण दूँगा। आज प्रातःकाल जब मै आमन्त्रित हो कर यहाँके हाईस्कूलके अवलोकनार्थ गया तो वहाँके हेडमास्टरने मुझे संस्कृतमे भाषण करनेके लिये कहा। मुझे उनकी बातका स्वीकार करना ही था क्योंकि वहाँ मुझे क्या देना चाहिये इसका विचार वहाँकी अभ्यर्थनापर आधार रखता है। मैंने उस स्कूलमें संस्कृतमें प्रवचन तो किया परन्तु उसको समझनेवाला वहाँ कोई भी नहीं था। केवल लोगोंको एक कौतूहल था कि संस्कृतभाषामे किस प्रकार भाषण दिया जा सकता है। मैने उस कुतूहलको शान्त किया परन्तु उसे

समझानेके लिये वहाँ भी हिन्दीमें ही मुझे पुनः बोलना पड़ा। ठीक वही दशा यहाँ भी है। मुझे उपदेश नवयुवकोंको देना है परन्तु इस सभामें उनकी उपस्थिति बहुत ही अल्प है। ऐसी दशामें मेरा यह उपदेश भी संस्कृतभाषणके समान ही कौतूहलनिवृत्तिका ही कारण होगा, ऐसा मुझे भय है।

यह संसार भगवान्की विभूति है। भगवान्ने अपनी समग्र शक्तिका व्यय करके इसे बनाया है। "स तपोतप्यत" परमात्माने तप किया और इस विशाल जगत्का निर्माण हुआ। इससे इतना तो स्पष्ट है कि यह जगत् बहुत बड़ी तपश्चर्याका प्रतिफल है। यह विशाल पृथिवी, यह अनन्त आकाश, ये असख्य नक्षत्र, ग्रह, तारे और यह पानीका अमाप पट किसी साधारण तपश्चर्याका फल नहीं है। इसके निर्माणमें जो श्रम पड़ा होगा उसका अनुमान हम नहीं कर सकते। इन सब पदार्थोंको बनालेनेके पश्चात् इनके भोक्ता मानवजातिकी बारी आयी और वह भी इस पृथिवीपर इसीकी मिट्टीसे बनकर तैयार हुई। मधुर जल, शीतल-मन्द-सुगन्धि पवन। भिन्न-भिन्न प्रकारके पुष्पोंसे सुसज्जित लताएं और चित्ताकर्षक वनराजि, ये सब पदार्थ भी उसी एक ही किसी अदृश्य शक्तिने उत्पन्न किये। सर्व प्रकारकी अनुकूलताओंसे परिपूर्ण इस सृष्टिका हम उपभोग और उपयोग तो कभीसे ही कर रहे हैं; परन्तु इसके प्रति हमारा भी कोई कर्तव्य है या नहीं, इसका विचार हम कभी भी नहीं कर पाते। हमने इसके लिए कुछ किया भी है या नहीं, इसका भी हमे कोई ज्ञान नहीं है। हमारे वही-खातेमे यह हिसाब लिखा भी नहीं गया है। मनुष्य प्रथम तो अलग-अलग ही रहता था। आज भी हम यहाँ देखते हैं कि यहाँकी आदिनिवासी प्रजा अलग अलग रहना ही पसन्द करती है। यहाँके जङ्गलोंमें मैंने देखा है कि एक झोपड़ी यहाँ है तो दूसरी इतनी दूर पर है कि उन दोनोंका कोई सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता। मनुष्यने जब सूर्यके प्रथम किरणका सर्वप्रथम स्पर्श किया तब उसने अपनेको अलग ही पाया। वैसा ही रहना उसे स्वाभाविक

प्रतीत हुआ। धीरे-धीरे जब उसे अपनी सहायताके लिये अन्यकी आवश्यकताकी प्रतीति हुई तब उसने छोटा सा एक समाज बना लिया। उस समाजमें उसके घरवालोंके अतिरिक्त उसके नाना थे, नानी थी, मामा थे, मामी थी। ससुर और साले थे। ऐसे ही कुछ और लोग भी थे। धीरे-धीरे मनुष्यको सामाजिक जीवन सुखद प्रतीत होने लगा। उसकी उदासीनता दूर हुई। उसके हास्य, उसके विनोद, उसके आनन्दकी सामग्रीका क्षेत्र विस्तृत हुआ। अब उसे विश्रृंखलित नहीं प्रत्युत शृंखलाबद्ध जीवन-की आवश्यकता हुई। बुद्धिशालियोंने शृङ्खला तैयार की। नियम बनाये गये। अनेक प्रकारोंसे धर्मका रहस्य, जीवनके लिये अनेक सामग्रियाँ प्रस्तुत की गयीं। उन्हींको वेद कहते हैं, उन्हींको ईश्वरीय प्रकाश और ईश्वरीय वाणी कहते हैं। समाज बनने पर मनुष्यको समाजकी चिन्ता हुई। उसने इसके लिये भगवान्से प्रार्थना करनेका आरम्भ किया। प्रार्थनाएँ लगभग सब सामूहिक थीं।

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः॥"

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥"

"यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।"

ऐसे-ऐसे सैकड़ों मन्त्र मिलेंगे जिनसे आपको मालूम होगा कि उस समयके मनुष्योंको अपनी ही चिन्ता नहीं थी, अपने समाजकी भी चिन्ता थी, क्योंकि उसको उन्होंने ही बनाया था और व्यक्ति तथा समाज अभिन्न माने जाते थे। समाजकल्याण ही व्यक्तिकल्याण है। ऐसी उनकी अपनी व्यवस्थाके अनुसार धारणा थी और वह सर्वथा वास्तविक थी। इस प्रकारसे लोग परस्पर मिलजुलकर प्रेमसे रहने लगे। एकके दुःख अथवा सुखको अन्य लोग अपना ही दुःख और सुख मानते थे। यह था उस समयका प्रारम्भिक मानवसमाज। वैयक्तिक जीवनकी अपेक्षा सामाजिक जीवन अधिक उदार, अधिक उदात्त और अधिक सामञ्जस्यवाला उन्हें

प्रतीत हुआ अतः वे उस जीवनको पसन्द करने लगे। अब हम यह स्पष्ट समझ सकते हैं कि व्यक्तिके उत्कर्षका कारण व्यक्ति तो है ही परन्तु उसमें समाजका बहुत बड़ा भाग है। वैयक्तिक उत्कर्षमें समाजिक उत्कर्ष सबसे मुख्य और प्रबल कारण है। अतः हमें यह मान ही लेना चाहिये कि व्यक्तिके ऊपर समाजका बहुत बडा ऋण है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि जगत्‌ने ही मानवजातिको उत्कर्ष-प्रदान किया। अतः जगत्‌का भी समाजपर ऋण है।

हम भारतवासी ऐसी मिट्टीसे बनाये गये हैं कि जिसमें वैराग्यकी मात्रा बहुत अधिक है। वह मिट्टी आध्यात्मिकतासे लबालब भरी हुई थी। अतः सुखमय जीवनमें भी भारतीय प्रजाको क्लेश प्रतीत होता है, उद्वेग होता है और इससे अलग हो जानेकी इच्छा उत्पन्न होती रहती है। अतः हम इस जगत्‌को छोड़ देनेके लिये भी सदा उद्यत ही रहते हैं। बुद्धने इसे छोड़ा, महावीरने भी छोड़ा, शंकर और रामानुजने छोडा, भगवान् रामानन्दने भी छोड़ा। हम देखते हैं कि उनका जगत् त्याग जगत्‌के कल्याणके लिये ही था। उन्हें अपने जीवनके भविष्यको सुखी बनानेकी जितनी चिन्ता थी उतनी ही अथवा उससे भी अधिक समस्त मानव जीवनकी चिन्ता थी। उनके उपदेश, उनकी तपश्चर्या, उनकी दिनचर्या केवल उनके लिये नहीं थी, जगत्‌के लिये भी थी। अतः जिन कारणोंसे जगत् दुःखमय प्रतीत होता हो उन कारणोंको दूर करके जगत्‌को सुखी बनानेमें ही उन महापुरुषोंने अपना जीवन व्यतीत किया। शङ्करने जगत्‌को मिथ्या बताया। इसे त्याज्य भी बताया। जगत् का मार्ग बदलने लग गया। परन्तु इससे समाजको अधिक लाभ नहीं हुआ। निखिल समाज तो जगत्‌का त्यागी कभी बन ही नहीं सकता। तब संसार-जगत्‌के प्रति ग्लानि उत्पन्न कराकर मानवजीवनको "इतो भ्रष्ट ततो भ्रष्ट" बनानेमें कोई बुद्धिमत्ता सिद्ध नहीं हुई। हिन्दु भक्त आचार्योंने जगत्‌को त्याज्य माननेसे अस्वीकार कर दिया। स्वामी रामानन्दने जगत्‌को अधिक सुन्दर, अधिक आकर्षक और अधिक सामञ्जस्यपूर्ण बनानेका प्रयास किया। भगवद्भक्तिका

यही मुख्य तात्पर्य है। जिसे भगवान्‌ने बनाया हो उसे सुखद मानने और सुखद बनानेमें ही विद्वत्ता है। जगत्‌को परिपूर्ण बनानेमें ही परमात्माकी पूर्ण सेवा है। जगत् ही परमात्मा है। "स तच्च त्यच्चाभवत्"। वह स्वयं ही इस जगत्‌में प्रविष्ट होकर जगद्रूप बन बैठा है। अतः जगत्‌की सेवा ही उसकी सेवा है। जगत्‌को प्रसन्न करना ही उसे प्रसन्न करना है। सामाजिक जीवनमें पार्थक्य अथवा ग्लानि सबसे निकृष्ट वस्तु है। समाजमें पार्थक्य आ चुका था क्योंकि समाज प्राचीन हो चुका था। उस समाजको सुखी बनानेमें शङ्कराचार्यने थोड़ा काम नहीं किया था। समस्त जगत्‌को आत्मस्वरूप बनाकर और बताकर उन्होंने जगत्‌को विशृङ्खलित होनेसे बचानेका प्रबल प्रयत्न किया था। परन्तु एक मनुष्य अपने जीवनमें न तो सब कुछ विचार ही सकता है और न कर ही सकता है। कहीं न कहीं कुछ भूल, कुछ त्रुटि रह ही जाती है। शङ्करके पश्चात् केवल रामानन्द ही एक ऐसे आचार्य हिन्दुजातिमें हुए हैं जिन्हें अन्तःकरणसे महान् आचार्य कहा जा सकता है। उन्होंने जीभसे कहकर ही नहीं परन्तु अपने आचरणसे भी बताया कि समाजका रक्षण, नियमन आदि किस प्रकारसे किया जा सकता है। समाजमें किसीको ऊँच मानना और किसीको नीच मानना, किसीको स्पृश्य मानना और किसीको अस्पृश्य मानना समाजकी भित्तिको हिला देनेके समान है। ऐसे विचारोंसे न तो समाज बन सकता है और न बना हुआ समाज टिक सकता है—स्थिर रह सकता है। इस तत्त्वका रामानन्दने ठीक-ठीक अनुभव किया। अतः उन्होंने सर्वजगत्‌को ब्रह्मरूप बनाने और मनानेमें केवल जीभका ही उपयोग नहीं किया प्रत्युत आचरणद्वारा भी इसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। कबीर, सेन, रविदास और गागरानगढके महाराज पीपा उनके प्रयत्नके ज्वलन्त उदाहरण हैं। एक जुलाहेको, एक नायीको, एक चमारको और एक क्षत्रिय राजाको एक ही दीक्षासे दीक्षित करके, एक ही वेष और भूषासे सुभूषित करके तथा समानतापूर्ण व्यवहार करके बताया कि समाजकी रचना किस प्रकारसे की जा सकती है। एवं समाजके संरक्षण और

संवर्धनके वास्तविक साधन क्या हो सकते हैं। जगत् निकृष्ट नहीं है। हमने उसे निकृष्ट बनाया है। यदि जगत्को ईश्वरने ही बनाया है तो यदि वह स्वयं निकृष्ट नहीं है तो वह हमें निकृष्ट वस्तु नहीं दे सकता। जहां हमें वस्तुतः निकृष्टता प्रतीत होती है वहाँ हमें उसे अपनी ही निकृष्टता समझकर, सावधान होकर उस त्रुटिको दूर करनेमें प्रयत्नशील बन जाना चाहिये। मातृ-ऋण, पितृ-ऋण, गुरु-ऋण, ऋषि ऋण, ये ऋण प्रत्येक मनुष्यके ऊपर लदा हुआ है। बुद्धिमान् मनुष्य इन्हें हटानेका ही प्रयत्न करेगा। इनसे भागनेका प्रयत्न अप्रामाणिकतासे भरा हुआ है। जगत्में ही रहकर, माता-पिताकी सेवा करके मातृ-ऋण और पितृ ऋणसे मुक्त होना है। गुरुके उपदेशोंको आचरणमें लाकर अन्योंको भी उसी दिशामें ले जाना है। इस प्रकारसे गुरु-ऋणको दूर करना है। ऋषियोंका ऋण हमें वंशपरम्परासे प्राप्त है। ऋषि हमारे पूर्वज थे। हम उनके ही सन्तान हैं। पवित्र आचरणद्वारा, पवित्र एकताद्वारा, पवित्र विचारोंद्वारा हम उन्हें अपने बीचमें रख सकते हैं और उनके सम्मानकी वृद्धि कर सकते हैं। पूर्वजोंकी प्रतिष्ठा बढ़ाकर ही हम उनके ऋणसे छूट सकते हैं।

जगत् सत्य है या असत्य है इस झगडेमें पड़ना निरर्थक है। जगत्में रहना और जीना तो अवश्य है। जीने और रहनेकी सामग्री भी जगत्में ही है और जगत्मेंसे ही उसे प्राप्त करना है। तब उसकी सत्यता और असत्यताका विचार ही मूर्खतापूर्ण है। समस्त व्यवहार जगत्में ही चलाने हैं, जगत्के लिये ही सब कुछ करना है, तब इसे असत्य मानने या मनवानेका फल ही क्या है? सत्य और असत्य ये दोनों ही शब्द कल्पित हैं। सापेक्ष सत्य और सापेक्ष असत्यके अतिरिक्त पारमार्थिक सत्य या पारमार्थिक असत्यका पता ही नहीं लग सकता। सापेक्ष सत्य और असत्यके द्वारा ही हमारे सब व्यवहार चल रहे हैं। समस्त जगत्को हम विरक्त नहीं बना सकते। जगत्यागी नहीं बना सकते। तब सापेक्ष निरपेक्ष शब्दोंके प्रयोगसे प्रजाको कर्तव्यभ्रष्ट बनाना उचित नहीं है। अतः यह निर्विवाद है कि प्रत्येक व्यक्ति समाजका ऋणी है। इस ऋणकी एक दूसरी भी परम्परा है।

वालसमाज, तरुणसमाज और वृद्धसमाज ये तीन समाज आज अस्तित्वमें हैं। बालसमाजके ऊपर तरुण और वृद्धसमाजका ऋण है क्योंकि इन दोनोंसे ही रक्षित, लालित, पालित होकर बालसमाज ऊपरकी कक्षामें आता है। वही तरुण बनता है। तरुणसमाजपर वृद्धसमाजका अत्यधिक प्रभाव होता है। इतिहासकी समस्त परम्परा वृद्धसमाजके मस्तिष्कमें से ही हम निकली हुई पाते हैं। हमारे पूर्वजोंकी वीरगाथाएँ, पवित्र चरित्र, उदात्त त्याग, सभी वस्तु उसी वृद्धमस्तिष्कमें भरे पड़े हैं। वहाँसे ही हम उन्हें प्राप्तकर अपने गौरवको समझते हैं। अपनी सभ्यता और संस्कृतिको उच्चपट प्रदान करते हैं। अतः तरुणसमाज वृद्धसमाजका ऋणी है। वृद्धसमाज अपनी परिस्थितिसे विवश रहता है। हम उसकी उपेक्षा करते हैं। वृद्धोंकी बात केवल सङ्कटकालमें ही माननी चाहिये—"वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते" ऐसा कहकर हम सदा उसकी अवहेलना करते हैं। पिताजी, काकाजी, दादाजी, आप नहीं समझ सकते हैं" ये शब्द या वाक्य सदैव प्रयुक्त होते रहते हैं। हम वृद्धोंकी उपेक्षा करते हैं इसीलिये उनके ऋणका ध्यान हमें नहीं रहता। उस समय युवावस्था रहती है। उस अवस्थाका वसन्तोद्यान रहता है। नवयुवक उसीमें विहार करते रहते हैं। वे अपने कर्तव्यको भूल जाते हैं। परन्तु जगत्‌ने अपना एक नियम बना रखा है। उसमें अमरता है, अमरसत्यता है। मनुष्य चाहे जितना भी अभिमानी हो, मगरूर हो, अहङ्कारी हो, परन्तु मृत्युके समय वह अत्यन्त दीन बन जाता है। उसे दीन बन जाना पडता है। उस समय उसके समस्त अहंकार, दर्प समाप्त हो जाते हैं। उस समय उसे इतना अवश्य स्मृत हो जाता है कि उसने अपने जीवनके सन्ध्याकालसे पूर्व क्या और कितने शुभ कर्म किये हैं और क्या और कितने अशुभ। यद्यपि शुभ और अशुभ कर्मकी कोई विशिष्ट और नियत व्याख्या अभीतक बन नहीं पायी है। परन्तु प्रत्येक मनुष्यकी अपनी अलग दुनियाँ है और उस दुनियाँमें उसके अपने शुभ कर्म हैं और अपने ही अशुभ कर्म हैं। जिसने जिसे शुभ मान लिया उसके लिये वह शुभ है। जिसको जिसने अशुभ मान लिया उसके लिये

वह अशुभ है। ऐसा भी तो होता ही है कि वह जिसे अशुभ मानता है उसे भी वह अपने जीवनमें नित्यकर्म बना रखता है। कालाबाजार तो सबकी ही दृष्टिमें अशुभ कर्म है। उसे अच्छा कहनेके लिये कोई भी उद्यत नहीं है। परन्तु उसी कालेबाजारको चलानेके लिये लोग समस्त प्रयत्न करते हैं। उस समय स्वार्थके वश होकर भूल जाता है कि यह निषिद्ध और निकृष्ट कर्म है। परन्तु मृत्युके समय उसे वह असत्कर्म प्रतिक्षण स्मृत होता रहता है। इसी प्रकारसे उसे मृत्युके अन्तिम क्षणमे यह भी स्मरण हो आता है कि उसने अपने करनेके कार्योंमें से कितने किये हैं और कितने नहीं किये हैं। उस समय यह ऋण अवश्य ही उसके लिये दुःखद होता है। उस समय वह पश्चात्तापसे आँसू बहाता है। परन्तु सब निष्फल। चिड़ियाँ चुंग गयी खेत। उस समय उसकी वेदना, उसकी वेदनाके आँसू, उन आसुओंकी उष्णता सब निरर्थक। जब समय था तब युवावस्थाका मद था। कर्तव्यका भान नहीं था। उसके लिये मान भी नहीं था। हँसी, मजाक, उच्छृङ्खलता, व्यसन, कुसंग ये ही सब उसके जवान जीवनके सार होते हैं। उस समय उसमे विवेकका सर्वथा अभाव होता है। नम्रता उसका स्पर्श ही नहीं कर सकती है। समाज उसके सामने कोई वस्तु नहीं। समाजकी उसे चिन्ता नहीं। ऋणका उसे भय नहीं। अपने लिये, और अपने पीछे-पीछे आनेवाले बालसमाजके लिये उसे कोई ध्यान नहीं, विचार नहीं। नवयुवक समाजकी आज ही नहीं, प्रायः सदासे ही यही दशा है। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। इस देशमें आकर भारतीय नवयुवक अधिक कर्तव्यहीन बने हैं। यहाँ धनोपार्जनके अतिरिक्त किसी अन्य कर्तव्यका भान और ज्ञान बहुत थोडेसे नवयुवकोंको होता है—रहता है। उन्हें कितने ही अनुचित कार्योंसे उनके गुरुजन रोकना चाहते हैं, रोकते हैं, परन्तु यौवन-जवानी, जवानीका मद रुकावटको जानते ही नहीं है। विधि और निषेध जैसी कोई वस्तु उसके सामने होती ही नहीं है। वह जवानी तो स्वकर्तव्यनिष्ठ होती है। कर्तव्यकी मर्यादा उसकी अपनी ही

बनायी हुई होती है। उसमें अकर्तव्य भी कर्तव्यके रूपमें समाये हुए रहते हैं। उस मर्यादा के निर्माणमें वह बुद्धि और विवेककी सहायता नहीं लेता है। स्वेच्छाचार ही उस समय उसका प्रधानमन्त्री होता है। युवावस्था साहसिक होता है। उसकी अमेय शक्तिमें बन्धनके लिये, संयमके लिये, कोई अवकाश नहीं होता। युद्ध करना ही वह जानता है। उसके परिणामकी चिन्ता वह कभी नहीं करता। उसने जो मार्ग बना लिया उसके लिये वही सत्य मार्ग बन जाता है। युवावस्थाके ये सब स्वाभाविक धर्म हैं। इनकी बड़ी भारी आवश्यकता है। उसमें जितना साहस होता है उतना वृद्धमें नहीं होता (महात्मा गांधीजी अपवाद रूप थे)। इसीलिये आज विचार करना है कि नवयुवक बन्धुओंका आज समाजके लिये किस प्रकारसे उपयोग किया जा सकता है। आज हम जहाँ बैठे हैं, यह आपके पुस्तकालयका भवन है। यह भवन किस रीतिसे बनकर मनोहर रूपमें खडा है। इसे मैं आज इसके निरीक्षणके समय जान सका हूँ। इसके बनानेवाले मुख्यतया नवयुवक ही हैं। इन नवयुवक भाइयोंमें जो नृत्य, संगीत, चित्रकारिता आदि कलाएँ थीं उनका उपयोग कुमार्गमें भी किया जा सकता था। परन्तु इन उत्साही भाइयोंने उनका उपयोग एक आदर्श कार्यमें किया। मैं जानकर प्रसन्न हुआ हूँ कि बहुत ही थोड़ा धन इसमें दानसे प्राप्त हुआ है। शेष सब धन नवयुवक भाइयोंने अपनी कलाकुशलताके बलसे उपार्जित किया है। इतना भव्य भवन और इतना सुन्दर संग्रह नवयुवत्वका ही फल है। मार्ग पवित्र पकड़ा गया। विचार पवित्र आये और कार्य पवित्र बन गया। मैं यहाँके युवा भाइयोंसे कहूँगा कि आपके कर्तव्यकी समाप्ति इतनेसे नहीं होती है। अभी तो आपके सामने कार्यका गिरिराज खड़ा है। उसे तोड़कर आपको समतल बनाना है। मानव समाजको उस समतल धरापर स्थिर करना है। समाजमें अनेक रोग हैं, अनेक दोष हैं, प्रमाद है, राग-द्वेष हैं, निष्क्रियता है और निरर्थक कार्य करनेकी ओर समाज-का झुकाव है। इन सबके सामने आपको लड़ना है। समाजके पास

धन है परन्तु उसका सदुपयोग नहीं है। १५ से १८ सहस्र बच्चे यहाँ शिक्षणके अभावसे अशिक्षित पडे हैं। यहाँकी सरकारको इसकी चिन्ता नहीं है। यहाँ राज्य करनेवाली तो वही प्रजा है जिसने सौ वर्षों तक भारतवर्षको गुलाम-परतन्त्र बना रखा था और मद्यकी आयमेंसे हम भारतीयोंके शिक्षणका प्रबन्ध करती थी। ऐसी सरकारसे बहुत आशा नहीं करनी चाहिये। अपने पैर पर खडा होना चाहिये। अपनी अन्य आवश्यकताएँ आज कम कर देनी चाहिये। 'नाटक, सिनेमा, सिग्रेट, पान, चाय आदिमें जो अनाप-शनाप व्यय होता है उसे बन्द करना चाहिये। और बच्चोंके पढाने-लिखानेका प्रबन्ध करना चाहिये। यह कार्य वृद्ध समाजका नहीं है। इसे तो नवयुवक समाज ही कर सकता है क्योंकि उसमें अदम्य उत्साह और अनम्य कर्तव्यनिष्ठा होती है। केवल सन्मार्गमें उनका उपयोग करना है। यहाँके मूलनिवासियोके प्रति भी नवजवानोंके कुछ कर्तव्य हैं ही। आप इनकी उर्वराभूमिमेंसे लाखों-करोड़ों रुपये उत्पन्न करते हैं। आपकी जाहो जलाली-ठाट बाट उसी भूमिपर आधार रखती है। यह भूमि यहाँके आदिनिवासियोंकी जननी है। इनका इस भूमिपर धर्मपूर्वक अधिकार है। आप इनकी भूमिसे लाभ उठाते हैं तो आपका यह भी कर्तव्य है कि उस लाभमेंसे कुछ अंश आप इन्हें भी दे। आप इनके लिये छोटी-मोटी भी पाठशाला बना सकते हैं। इन्हें एक औषधालय दे सकते हैं। इनकी जीविकाके लिये कोई पवित्र साधन आप उत्पन्न कर सकते हैं। जिस भूमिसे आप उत्पन्न हुए हैं उस भारतके प्रति आपका उत्तरदायित्व कम नहीं है। आप यहाँ आकर सुखीजीवन व्यतीत करते हैं। आप सुखी रहें। परन्तु भारतको भूलकर आप धार्मिक दृष्टिसे अक्षम्य अपराध करते हैं। वहाँके चिथडेहाल भाई-बहनोंके समूहको आपको भूलना नहीं चाहिये। लाखों, करोडों भारतीय निस्व और निस्सहाय हैं। उनके पास अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है। हमारी सरकार नहीं थी। वह जन्मकालसे ही संकटमें पडे हुए हैं। पाकिस्तानसे आनेवाले लाखों ही-

हिन्दू भाई-बहिनोंकी जीविकाका प्रश्न आज हमारी सरकारके सामने उपस्थित है। उसे कितने ही विरोधी बल और दलके सामने लड़ना है। काश्मीरका प्रश्न भी सुलझाना है। भारतका अन्नोत्पादन तो जितना था आज भी उतना ही रहा है। उसमें बहुत ही थोडी उन्नति हो सकी है। परन्तु अन्नका व्यय तो बहुत ही अधिक बढ गया है। पाकिस्तानसे आनेवाले हिन्दू अपनी जमीन अपनी जायदाद तो वहाँ छोड आये हैं। अबतो भारतमें ही जमीन है उसकी उपजसे ही उनका भी रक्षण करना है और प्रथमसे ही रहती प्रजाका भी रक्षण करना है। ऐसी दशामें आप अपनी जन्मभूमि-मातृभूमि भारतको भुला नहीं सकते। ये सब नवयुवकोंके ही कार्य हैं। वृद्धसमाज इसमें सहायता कर सकता है। उनसे सहायता ली जा सकती है। भगवान् कृपा करें कि आप अपने कर्तव्यमें सावधान बनें।

ता० २-९-१९५० ई० के दिन दारेस्सलाममें दिया गया प्रवचन।

कृष्णजयन्तीका सन्देश

(४०)

भाइयो और बहिनो,

आज मेरा मौन दिन है अतः आपके सामने आज मैं बोल नहीं सकता। आप लोग श्रीकृष्णजन्माष्टमीका उत्सव मना रहे हैं इससे आनन्द होता है। आजके लिये मेरे पाससे आपके लिये सन्देश मागा गया है। मुझे भी यह उचित ही प्रतीत हुआ। अतः मेरा यह सन्देश आपके हृदयमें स्थान प्राप्त करे इस सदिच्छासे दे रहा हूँ।

जिस समय भगवान् कृष्णका अवतार हुआ था उस समय कंस और उग्रसेन ये दोनों ही मुख्य नरपति प्रजाको अत्यन्त त्रास देते थे। जिसको आज यू० पी० और बिहार प्रदेश कहते हैं, उन दोनों प्रान्तोंकी प्रजामें भारी आतङ्क फैला हुआ था। राजा-राजा मिटकर शत्रु बन गये थे।

स्वार्थका ही साम्राज्य था। किसी भी प्रतिष्ठित नर-नारीकी प्रतिष्ठा सुरक्षित नहीं थी, युक्त प्रान्तका व्रज और बिहार किसी महापुरुष और उद्धारकके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। ऐसे ही समयमें भगवान् कृष्ण आये। कंस और नागराज कालियका नाश तो उन्होंने अपनी बाल्यावस्थामें ही किया था। अन्य अन्यायी राजा पीछेसे अन्य रीतिसे परास्त और समाप्त किये गये। धर्मका जब जब नाश होता है तब-तब धर्म संस्थापनके लिये भगवान्का अवतार होता है। जब-जब सत्य और सदाचारका लोप होता है तब धर्मका नाश समझना चाहिये। कंसादिके राज्यकालमें सत्य और सदाचारके लिये अवकाश ही नहीं था। और ये ही दो तो बडेसे बडे धर्म। उन्हींकी रक्षाके लिये भगवान्का अवतार। उसी माङ्गलिक दिनका उत्सव मनानेके लिये आप सब यहाँ उपस्थित हैं। आप इस अवतारके महत्त्वको अच्छी तरहसे समझें और जीवनकी दिशामे परिवर्तन करें यह एष्टव्य है।

भगवान् कृष्ण युग पुरुष थे। उन्होंने युगनिर्माण किया। उनके समयमें आर्यावर्तकी अवनति हो चुकी थी। पापाचार बढा हुआ था। धर्मभावना क्षीणकाय बन गयी थी। युधिष्ठिर जैसे धर्मराजके मनमें भी द्यूतक्रीड़ाके लिए घृणा नहीं थी। अपनी पत्नीको भी द्यूतके दावपर रखनेका साहस उस समय किया जा सकता था। जो दूसरे चार पाण्डव थे वे भी द्रौपदीके पति ही थे। तथापि उनसे पूछे विना ही अनधिकार चेष्टा करके द्रौपदीको दावपर रखनेमें युधिष्ठिरके मनमें कुछ भी संकोच नहीं हुआ था।

द्रौपदी जैसी पतिव्रता स्त्री थी। लाज लेनेके लिए भरी सभामें उसे नग्न करनेका प्रयास दुःशासन कर सका था। परन्तु सभामें से एक भी मनुष्य उसके इस कार्यके विरोधमें एक भी शब्द बोल नहीं सका था। भीष्म-पितामहने तो "अर्थस्य दासा वयम्" ऐसा कहकर पेट भरनेके प्रश्नको आगे रखकर तत्कालीन अधमताका नग्नचित्र चित्रित कर दिया था। यह परिस्थिति बताती है कि "नार्यो यत्र पूज्यन्ते रमन्ते तत्र

देवताः" मनुका यह अनुशासन उस समय या तो था ही नहीं और यदि था तो वह घायल पड़ा हुआ था। नारी जातिका अपमान उस समय एक सामान्य घटना थी।

ज्येष्ठ बन्धु युधिष्ठिरकी प्रतिज्ञा रक्षाके लिए युधिष्ठिर भी और अन्य चार पाण्डव भी वनमें अज्ञातवासके लिये चले गये। यदि वे अज्ञात न रह सकें तो जबसे वे ज्ञात बने तबसे पुनः बारह वर्षोंके लिये अज्ञात रूपसे वनवास करे, ऐसा नियम हुआ था। उन्हें अज्ञातवासी न होनेके लिये दुर्योधनने सतत अनेक प्रयत्न किये थे जिससे कि वे पुनः पुनः प्रतिज्ञानुसार वनवासी ही बने रहें। और हस्तिनापुरका राज्य उसीके अन्यायी हाथमें रह सके। द्रौपदी भी वनवासिनी ही थी।

संक्षित में बतायी गयी यह उस समयकी परिस्थिति अवश्य ही अधर्मपूर्ण थी। अतः धर्म गया था और अधर्म नित्य नये रूपमें बढ़ रहा था। ऐसे समयमें एक युगविधाताकी आवश्यकता थी। भगवान् कृष्ण आये।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

इस प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् आकर धर्मात्माओंके रक्षण और पापियों, दुराचारियोंके संहारकार्यमें तथा धर्मसंथापनमें लग गये।

नई रचना संहारपूर्वक ही होती है। भगवान्को नई रचना करनी थी। समाजके नियम सड़ गये थे, ढीले पड़ गये थे। अमुक प्रकारके भ्रम लोगोंके मनमें घर बनाकर बैठ गये थे। धर्म और अधर्मके काल्पनिक स्वरूप लोगोंके मनमें श्रद्धापात्र बन गये थे। सत्य धर्म अथवा सत्य अधर्म किसीकी भी समझमें नहीं आते थे। अतः श्रीकृष्णके लिए संहारकार्य आवश्यक था। परन्तु संहारसर्जनकी अपेक्षा शांतिसर्जन अधिक उत्तम है। अतः भगवान्ने सर्वप्रथम विष्टिके लिए अत्यधिक प्रयास किया। सभी हितैषियोंके मना करने पर भी निर्भय होकर कौरवोंकी

सभामें जाकर, धृतराष्ट्रको समझानेका कार्य उन्होंने अपने ऊपर लिया। न्याय और अन्यायका उन्होंने वहाँ विवेचन किया। उन्होंने सभामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि पाण्डवोंको अल्पसे भी अल्प साधन दे देनेमे धर्मका रक्षण हो सकता है। शान्ति स्थापनका यही एक मार्ग है। परन्तु जब सुईके छिद्रमें जितनी भूमि समा सकती है उतनी भी, युद्धके बिना पाण्डवोंको न देनेकी घोषणा धृतराष्ट्रकी ओरसे हुई और शीलभङ्ग करनेका प्रयास हुआ तभी भगवान् युद्ध के लिए सन्नद्ध हुए।

भगवान् कृष्णकी उदारताकी तो कोई सीमा ही नहीं थी। वह दुर्योधनके अन्यायको भले प्रकार जानते थे तथापि उन्होंने दुर्योधन और अर्जुन दोनोंको ही समान भावसे कहा कि तुम दोनोंमेसे मैं किसी एकको सैन्यबलकी सहायता युद्धके लिए दे सकूँगा। एवं किसी एकको मैं अपने शरीरसे सहायता करूँगा। जिसकी जो इच्छा हो, माँग ले। दुर्योधन की माँगके अनुसार उन्होंने उसे अपनी सेना दे दी और अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार वह उसके सारथि बने। तभीसे पार्थ सारथी उनका नाम पडा। जगत्में कोई ऐसा न कहे कि कृष्णने अन्याय किया अतएव उन्होंने योग्य और अयोग्य दोनों पक्षोंको सहायता दी। उस समयके लिये उन्होंने श्रद्धापात्र उदारता प्रकट की। भगवान्की यह उदारता अनुपमेय थी। जगत्में इस उदारताकी तुलना किसीके साथ भी नहीं की जा सकती और नहीं की जा सकी।

उनकी भक्तवत्सलता भी ऐसी ही अलौकिक थी। जिस समय भरी सभामें द्रौपदी का वस्त्र हरण होने लगा और धृतराष्ट्रकी उस सभामेंसे किसीने भी इस कार्यके अनौचित्यके लिये ग्लानि प्रकट नहीं की, किसीके भी मनमें लज्जाका स्पर्श नहीं हुआ, किसीका भी हृदय दयासे आर्द्र नहीं बना, प्रतिज्ञाबद्ध पाण्डव भी जब मूक साक्षी उस पापाचारके लिए बन गये, द्रौपदीकी लाज ली जाने लगी और वे पांच टगर-टगर उसे देखते रहे तब द्रौपदी अनाथ बनकर, असहाय बनकर, कृष्णका स्मरण करने लगी—

अनाथां द्वारकानाथ मां नोपेक्षितमर्हसि ।
मर्यादा मेद्य लज्जा च रक्षणीया प्रभो त्वया ॥

हे कृष्ण, आज मैं अनाथ हूँ । मेरी मर्यादा और मेरी लाजकी रक्षा करनेवाला आपके अतिरिक्त आज कोई नहीं है । हे अनाथों के नाथ, द्वारकाधीश मेरी रक्षा करो । ऐसे संकटकालमें उपेक्षाबुद्धि आपकी शोभा नहीं देती है । द्रौपदीकी इस प्रार्थनाके लिए भगवान्ने कहा —

गोविन्देति यदाक्रन्दत्कृष्णा मां दूरवासिनम् ।
ऋणं प्रवृद्धमिव मे हृदयान्नापसर्पति ॥

जिस दिन और जिस क्षणमें द्रौपदी मेरा नाम लेकर धृतराष्ट्रकी सभामें रोती थी, मुझे बुलाती थी, उस समय मैं तो दूर था । तत्काल पहुँच नहीं सका । द्रौपदीका वह आक्रन्दन मेरे सिरपर एक बडा ऋण है । और वह प्रतिदिन बढता जा रहा है । ऐसा मुझे प्रतीत होता है । वह ऋणभार मेरे हृदयपरसे हलका नहीं हो रहा है, वह ऋण दूर नहीं हो रहा है । भगवान्की ओर ही अनन्यशरण होकर जो ध्यान लगावे, उनके ही बलपर निभनेका जो सकल्प करे, उसके लिये भगवान् कितने चिन्तातुर बन जाते हैं, उसका यह एक उदाहरण है ।

भगवान् प्रेमका निर्वाह भी इसी रीतिसे करते हैं । उदाहरण देखिये । वह व्रजका त्याग करके द्वारका रहने गये । व्रजकी गोपाङ्गनाएं उनके विरहसे विह्वल बन गयी थीं । दिन नहीं चैन, रात नहीं निंदिया । दिनमें शान्ति नहीं और रातमें निद्रा नहीं । प्रेमी अपने प्रेमीकी अवस्थाको वास्तविक रीतिसे जानता है । भगवान् समझते थे कि उनके विरहसे, विरह-वेदनासे गोपियोंकी क्या दशा होती होगी । भगवानने उद्धवको गोपियोंके पास भेजा और कहा—

या मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका: ।
यास्त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे ता विभर्म्यहम् ॥
मयि ता. प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्योङ्ग विमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठविह्वला: ॥

व्रजकी गोपिकाओंका मन मुझमे ही लगा हुआ है। उनके प्राण भी मेरे ही आधारसे टिके हुए हैं। मेरे लिये उन्होंने अपने शरीरशृङ्गारको भी भुला दिया है। वे मेरे प्रेमके लिये लोकलज्जाका भी विचार नहीं करती हैं। "कहैया औ सुनैया तजौ, बाप और भैया तजौं, मैया तजौं दैया पै कन्हैया नाहिं तजिहौं" इस रीतिसे जो मेरे लिये माँ, बाप, भाई आदिका त्याग करनेको उद्यत हैं उनको मैं कभी भी अपने हृदयसे अलग नहीं करता हूँ। उनका स्मरण सतत बना ही रहता है। उनकी दृष्टिमें मैं सर्वाधिक प्रियवस्तु हूँ। आज मैं इस देहसे उनसे बहुत दूर पडा हुआ हूँ। मेरे वियोगमे व्याकुल बनी हुई वे मेरा स्मरण कर करके विवश बन रही हैं। भगवान्ने इन शब्दोंके द्वारा प्रेमनिर्वाहका एक कोमल और सुन्दर दृष्टान्ते हमारे सामने रखा है। जिसके साथ मनुष्य क्रीडा करे, हास्य करे, आनन्द करे, विनोद करे, ऐसे प्रियजनको किसी भी अवस्थामे भुला देनेमें मानवताका संहार रहा हुआ है। भगवान् दूर द्वारकामे भी रहकर अपने बालसाथियोंको भूल नहीं सके थे, भुला नहीं सके थे। यही उनका महत्त्व है। नैतान् विस्मराम्यहम्। मैं अपने भक्तोंको, प्रियजनको कभी भूलता नहीं हूँ। भक्तोंको आश्वासन देनेवाली इस वाणीको भगवान्ने सफल बनाया है।

उनकी निस्स्वार्थताका दिग्दर्शन। गीतामें अर्जुनको द्वार बनाकर भगवान्ने जगत्को निष्काम कर्म करनेका उपदेश दिया है। निष्काम कर्म करके भगवानने जगत्के समक्ष एक आदर्श उपस्थित किया है। अर्जुनसे या युधिष्ठिरसे भगवानको कुछ लेना नहीं था, लिया भी नहीं था। अन्य कोई भी स्वार्थ वहाँ नहीं था तथापि केवल न्यायकी रक्षाके लिये वह अर्जुनके सारथि बने थे। युद्धके अनेक कष्टोंको सहन करके अपनी कृपा, बल और रणकौशल्यसे अर्जुनको—पाण्डवोंको—पाण्डवपक्षको विजयी बनाकर किसी भी लोभ या लाभसे पृथक् रहकर, असङ्ग रहकर अपने निष्काम कर्म सिद्धान्तकी उन्होंने रक्षा की है। यदि उनके हृदयमें अपने लिये राज्यप्राप्त करनेकी इच्छा जागरित हुई होती तो एक नहीं; अनेक

राज्योंके वह स्वामी-राजा बन सके होते, इसमें सन्देह नहीं। जो महाभारत जैसा युद्ध लड़ सकता है और अपने पक्षको विजयी बना सकता है उसके लिये किसीका राज्य ले लेनेमें कितना विलम्ब लगता? परन्तु वह तो साक्षात् योगेश्वर थे। उन्हें सांसारिक ऐश्वर्यकी तनिक भी इच्छा नहीं थी। उसकी उन्हें कोई चिन्ता भी नहीं थी। चिन्ता तो इच्छा की पुत्री है।

ऐसे एक महान् आत्माकी आज अवतारतिथि है। ऐसे पवित्र अवसरपर आपको अच्छे-अच्छे कर्म करने चाहिये। आपकी वाणीमें सत्यता और मधुरता सदाके लिये स्थापित करें। आज आपके हृदयमें उमंग और उत्साह होना चाहिये। आपके मनमें रही हुई निर्बलताओंको चुन चुनकर बाहर फेंक देना चाहिये। परन्तु जब हम देखते हैं कि आजके दिन हमारे सहस्रों भाई और बहनें भी कहीं-कहीं द्यूत-जूआ खेलते हैं तो मुझे प्राणान्त कष्ट होता है। जूआ खेलना तो धर्म और धनका भी विनाशक है। मनुमहाराजकी दृष्टिमें तो वह अक्षम्य अपराध है। वह बड़ा भारी पाप है। किसी भी राजाकी भी दृष्टिमें भी वह अत्यन्त दुष्ट कृत्य है। कोई भी धर्मपरायण राजा ऐसी दुष्ट और निन्द्य प्रकृतिकोक्रीड़ाको एक क्षणके लिये भी सहन नहीं कर सकता। आज सौराष्ट्रमें मेला लगा होगा। उस मेलेमें स्थान स्थानपर जुआ खेलनेका पाप होता ही होगा। जुआ खेलना अनीति है। वह निर्दय खेल है। अत्यन्त नीच लोगोंकी वह नीच क्रीड़ा है। उससे और उसके समान ही अन्य दोषोंसे भी बच जानेके लिये आज पवित्र और सदा टिकनेवाली स्थायी प्रतिज्ञा लेनेका दिन है। भगवान् आपको बल और शक्ति दे जिससे आप इस पवित्र भगवन्मन्दिरमें सत्य और सदाचार पालन करनेकी प्रतिज्ञा करें और जीवन पर्यन्त उसको निभाते रहें। जिस धर्मकी स्थापनाके लिये भगवान्को वैकुण्ठसे आना पड़ा उसे जो आप प्रेमसे, श्रद्धासे, प्रामाणिकतासे

निभा सकेंगे तो भगवान्की बड़ी से बड़ी और प्रिय से प्रिय सेवाका फल आप प्राप्त कर लेंगे।

ता० ४-९-१९५० के दिन दारेस्सलाममें कृष्णजयन्तीके दिन लिखित सन्देश।

उपसंहार

मेरी बहिनो और भाइयो, आज मेरे प्रवचनका यही अन्तिम दिवस है। आप कह रहे हैं कि मैं आज मानवधर्मके सम्बन्धमें कुछ कहूँ। एक भाईने यह भी कहा कि "हम लोग अपने आचरणमें जिस उपदेशको ला सकें, उपदेशके अनुसार व्यवहार कर सकें, ऐसा उपदेश आप हमें करें।" मुझे तो ऐसा विदित होता है कि मैंने आज तक यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं कहा है कि जिसे आप अपने आचरणमें न ला सकें या जिसका आचरण न कर सकें। आचरणमें परिवर्तन करानेके लिये ही तो मैं यहाँ आया हूँ। देखिये, एक भाई वहाँ द्वारपर बैठकर सिग्रेट जला रहे हैं, उसे यदि मैं ना करूँ तो वह आचरणमें आ सकता है या नहीं, इसे मैं नहीं जानता। मैं तो प्रतिदिन कहता रहा हूँ कि आप सर्वरीतिसे पवित्र बनें। आचार और विचारकी पवित्रता ही वास्तविक मानवता है। इसके अतिरिक्त मानवता द्रष्टव्य नहीं है। मैं यहाँ तुलसीकी माला लेकर नहीं आया हूँ कि आपको कहूँ लीजिये और रामनाम जपिये। यह काम तो आप स्वयं करते हैं। मेरी अपेक्षा आप ही इसे अधिक करते हैं। परन्तु इतनेसे ही मानवता नहीं आती। पूजापाठमें मानवता समाप्त नहीं होती। यह सब तो मनुष्योंके कर्तव्य अनेक पवित्र धर्मोंमें एक नयी योजना है। आप जबसे पूजा-पाठ करने लगे तभीसे हिन्दू जातिका पतन होने लगा। आप समझ गये कि बस इतना ही हमारा कर्तव्य है। इतना ही कर लिया जाय तो बहुत है। तब तो आपको यह भान ही नहीं हुआ कि सत्य बोलना, सत्याचरण करना यह भी एक महान् धर्म

है। मानवसेवा और सर्वप्राणिसेवाको तो आप भूल ही गये। आपको किसीने कभी कहा ही नहीं कि दीनों और दुःखियोंकी सेवा सर्वश्रेष्ठ धर्म है । हिन्दूजातिमें ग्लानिका भाव अधिक है। क्योंकि यहाँ छूआछूतकी भावना है। जजीबारमें मैंने देखा कि क्रिश्चियन भाई और बहिनें यहाँके आदिवासियोंकी कैसी उत्तम सेवा करते हैं। बहुत ही विशाल सेवाश्रम कोढियों और गलितकुष्ठरोगियोंसे भरा पडा है। अन्य रोगोसे भी पीड़ित आदिवासी वहाँ हैं। सबकी सेवा और सुश्रूषा होती है। शान्तिमें उनको वहाँ रहने दिया जाता है। वहाँ ही मैंने पागलखाना भी देखा। उन-लोगोंके रहनेकी जगह इतनी स्वच्छ है कि आपका मन्दिर भी उतना स्वच्छ नहीं है। मानवताका तो हिन्दू जातिमें से अन्त होता जाता रहा है। सच्ची मानवता तो यीशुके अनुयायियोंमें रही हुई है। आप अपने महात्माजी को—महात्मा गाधीजीको आजतक पहचान नहीं सके। वह तो सेवाकी मूर्ति थे। इतने अधिक कार्यमें व्यस्त रहनेपर भी उनके आश्रममें रक्तपित्तके रोगी भी शास्त्रीजीकी सेवाको वह कभी भी नहीं भूलते थे। आश्रमके अन्य सामान्य रोगियोंकी भी वह अच्छी सेवा करते थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही सेवामें गया। इसीलिये तो वह महात्मा थे। हम तो एक पैसेके गेरूसे महात्मा बनते हैं। इस प्रकारका महात्मा बननेमें हमें कोई मूल्य नहीं देना पडता। परन्तु उन्होंने तो अपनी तपश्चर्यासे, सेवाभावनासे, समदर्शितासे, और अपने महान् अलौकिक त्याग और तितिक्षासे हमारे, आपके और समस्त विश्वके महात्मा बने थे। "थे" इस क्रियाको तो मैं लौकिक पद्धतिसे बोल रहा हूँ। मेरी भाषामे तो वह आज भी हैं और जीवित हैं और हमारे बीचमें ही रहकर वह सतत प्रेरणा हमें दे रहे हैं।

जिस महान् आत्माने सृष्टिका निर्माण किया है और मानवोंका सर्जन किया है उसने स्वयं मानवकल्याणके लिये रेखाएँ अंकितकी हैं। जीवको—मानवको किस वस्तुकी आवश्यकताके साथ यहाँ आना पड़ा है इसे तो वही जाने जिसने उसे यहाँ उत्पन्न किया है। जो माता-पिता

अपने बालकोंकी आवश्यकताको न समझ सकते हों, उन आवश्यकताओं-की पूर्तिके साधन न दे सकते हों तो वे अयोग्य ही माता-पिता गिने जायँगे। परमात्मा भी अयोग्य ही बन जाय यदि वह मानवजातिकी आवश्यकताको न समझ सका हो। उसने मानवकी समानताका उपदेश दिया है। मानव-मानवके बीच भेददर्शनका उसने निषेध किया है। उसने कहा है कि जो कोई भी किसी प्रकारका अनुचित भेद डालकर मानवजातिका तिरस्कार करेगा, उत्पीडन करेगा तो मै उसे पुनः-पुनः जन्म-मरणके बन्धनमें बाँधकर दण्ड दूँगा। उसने स्पष्ट वाणी सुनायी है कि जगत्में जो कुछ है, वही है। उसके अतिरिक्त यहाँ अन्य कुछ भी नहीं है। कोई किसीका अपमान करता है तो वह ईश्वरका ही अपमान है। कोई किसीका उत्कर्ष या अपकर्ष चाहता है वह भी ईश्वरका ही स्पर्श करता है। उसने कहा है, मनुष्यो, तुम सभी मेरे पुत्र हो। अतः तुम परस्पर सगे भाई हो। कोई हिन्दू नहीं है, कोई मुसलमान नहीं है। कोई जैन नहीं है, कोई बौद्ध नहीं है, कोई पारसी नहीं है, कोई खिस्ती नहीं है। यह सब तो पीछेसे लगे हुए रोग हैं। आप जो कुछ हैं वह तो केवल सगे भाई हैं। घरमें एक व्यक्ति भात पसन्द करती है, एक रोटी पसन्द करती है, एक गुजराती पढ़ता है या पढा है और एक अंग्रेजी पढ़ता है या पढ़ा है, इससे वे भाई-भाई मिटकर कुछ अन्य नहीं हो जाते, भाई-भाई ही रहते हैं। धर्म तो केवल आन्तरिक भोजन है—बुद्धिका भोजन है। उसको पचानेके लिये अलग-अलग मस्तिष्कशक्तियाँ हैं। कोई किसी धर्मको और कोई उससे अतिरिक्त अन्य धर्मको पचावे, इससे हमारी विशाल बन्धुताको धक्का लगना नहीं चाहिये। यही प्रभुकी आज्ञा है। आप प्रभुकी सच्ची आज्ञाको भूल गये और पूजा पाठकी जमातमें पड़ गये, अतः प्रभुकी अवज्ञाकी गयी। तथापि आप मानते नहीं हैं, समझते नहीं हैं कि आप प्रभुकी अवज्ञाकर रहे हैं। आपको सच्चा मार्ग बतानेवाला कोई मेरे जैसा हो तो आप उसे नास्तिक कह देंगे। आज मैंने सुना है कि कितनी ही भाई बहनें बातें करती हैं कि यह

स्वामीजी आस्तिक हैं या नास्तिक, कुछ समझमें नहीं आता। मैं कहता हूँ कि आपने मुझे ठीक-ठीक समझा है। आप मुझे न समझ सकें, यही मेरा समझना है। मैं यहाँ कोई अमुक एक धर्मका प्रचार करने नहीं आया हूँ। मुझे तो आपको सत्यका सन्देश सुनाना है। मेरी सरकारने तो मुझे इस देशमें भाषण करनेका ही निषेध किया था। परन्तु सरकारके इस निषेधके तात्पर्यको मैं समझ सका हूँ। मैं मेरी सरकारकी आज्ञाकी अवहेलना नहीं ही कर सकता। मेरी समझमें मेरे ये भाषण मेरी सरकारकी सहायताकर रहे हैं। महात्मा गाधीजीने अपने रक्षाके अन्तिम बिन्दुसे भारतको और समस्त विश्वको जो सन्देश और उपदेश दिया है, जिस कार्यभारको सौंपा है, उससे समस्त भारत विशिष्टरूपसे और समस्त विश्व सामान्यरूपसे ऋणी है। महात्माजी मानव थे, महामानव थे। मानवताके महान् पुजारी थे। मैंने अपने धर्मको समझा है। पूज्य महात्मा गाधीजीने जिस वस्तुको मुझे और आपको सौंपा है उसका रक्षण मेरा और आपका भी कर्तव्य है। मैं इन प्रवचनों द्वारा मेरे कर्तव्यका पालन कर रहा हूँ। इन भाषणोंसे मैं आपसे पैसे-धन लेनेवाला नहीं हूँ। आपमें अज्ञानबिन्दुका सिञ्चन करने वाला नहीं। आपके भ्रमको मैं बढ़ा नहीं रहा हूँ, बढ़ाना चाहता भी नहीं हूँ। मैं तो सनातनधर्मकी बात कर रहा हूँ। आप सब सनातनधर्मके नामपर हो-हल्ला करते हैं परन्तु कभी आपने विचार नहीं किया है कि सनातनधर्म क्या है ? मुझे कहने दें कि आज आप जिस धर्मका पालन कर रहे हैं, उसमें एक भी सनातनधर्म नहीं है। चोरी सनातनधर्म नहीं है। दगाबाजी सनातनधर्म नहीं है। कालाबाजार सनातनधर्म नहीं है। कालाबाजारी सनातनधर्म नहीं है। यह मन्दिर सनातनधर्म नहीं है। अतः मन्दिरमें अमुक हिन्दुओंको अस्पृश्य मानकर प्रविष्ट न होने देना भी सनातनधर्म नहीं है। आज आपमें सनातनधर्मका एक बिन्दु भी नहीं रह गया है। सनातनधर्मको पालनेकी इच्छा आपमें उत्पन्न हो तब आप सत्यवादी बनेंगे, उदार बनेंगे, स्पष्ट बनेंगे, दम्भ और पाषण्डसे ढँक नहीं जायंगे। परन्तु मै "सनातन-

धर्म " शब्दका कोई महत्त्व समझ नहीं सकता। आज तो हम जिस समयमें जी रहे हैं उस समयके अनुकूल धर्मकी योजना करनी चाहिये। "यातम् गावौ यातम्" कहकर बैलगाड़ीको स्वीकार और रेलगाडी, मोटर, साइकल, विमान आदिका बहिष्कार नहीं कर सकते। सनातन-धर्मके नामसे इस विद्युत्प्रकाशको बन्द करके प्राचीन समयके इङ्गुदीके तेलसे भरे हुए दीपकको स्वीकार नहीं किया जा सकता। रङ्ग-बिरङ्गे इन कपडोंका त्याग करके पुनः वल्कलधारी नहीं बन सकते हैं। इस घडीको, इस फाउन्टेन पेनको, इस चश्मेको, सनातनधर्मके नाम पर फेंक नहीं देंगे। ये आपके कोट, पतलून, हैट, बूट, सनातनधर्मके नामसे छोड़कर आप वनविहारी नहीं बन सकेंगे। तब आप सनातनधर्मकी बात ही क्या करते हैं? नास्तिक--आस्तिककी बात भूल जानी चाहिये। आप मुझे पहचानें, इसकी अपेक्षा अधिक उत्तम यह है कि आप अपनेको पहचानें, नास्तिक और आस्तिक ये शब्द भी सनातन नहीं हैं। ये दोनों शब्द हमारी मूर्खतासे कल्पित हुए हैं। नास्तिको वेदनिन्दकः। मनुने कहा है कि जो वेद की निन्दा करता है, वह नास्तिक है। मैं तो वेदकी निन्दा करता ही नहीं हूँ। मैं तो वेदका भाष्यकार हूँ। उनकी रक्षा करना, यह मेरा पवित्र धर्म है। परन्तु आप जिस मार्गके आग्रहसे मान-वतासे दूर चले जाते हैं। उस मार्गकी मैं अवश्य निन्दा करूँगा। आपको उस मार्गमें जानेसे अवश्य रोकूंगा। आप यदि मुझे नास्तिक समझते हों या आस्तिक, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि मेरा कथन, मेरा उपदेश आपको प्रिय लगता है। आज आठ दिनोंसे मैं देख रहा हूं कि आप इतनी बड़ी संख्यामें एकत्र होकर मुझे सुन रहे हैं, समयपर आकर, इस भगवान्के विशाल मन्दिरके मैदानको भर देते हैं। तब मैं कैसे मान सकता हूं कि आपके हृदयमें मेरे लिये कोई खराब विचार आया होगा। मुझे कहा गया है कि मुझे यहाँ सुननेके लिये हिन्दू भी आते हैं, मुसलमान् भी आते हैं, जैन भी आते हैं, आर्यसमाजके माननेवाले भाई भी आते हैं, तब मुझे प्रतीत होता है कि मैं आपको जो सत्सन्देश दे रहा हूं वह

आपके कोमल और पवित्र हृदयको स्पर्श करता है।

भगवान्ने हमको आज्ञा दी है कि "जिस मेधाकी उपासना हमारे पूर्वज विद्वान् किया करते थे उसका ही उपासना हम भी करें"। मेधा अर्थात् पवित्र विचार। सत्य और असत्य, कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार करनेकी जो शक्ति, वही मेधा है। उसी मेधाका मैं आपको उपदेश करता हूँ। यही मानवधर्म है मानवमें पशुकी अपेक्षा, मेधाके अतिरिक्त कोई भी धर्म विशिष्ट नहीं है। गाय चाहे जिसको अपनी सींगसे मार सकती है, सिंह चाहे जिसे फाड़ सकता है, कुत्ता चाहे जिसे दात लगा सकता है। बन्दर चाहे जिस वस्तुको चोरीसे उठा ले जा सकता है। यदि मनुष्य भी जो इतना ही करे तो ऊपर कहे गये हुए पशुओंकी अपेक्षा मानवमें कौनसी विशेषता हो सकती है। अतः धर्माधर्म आदिका विवेक ही एक विशिष्ट धर्म है कि जो मानवको अन्य प्राणियोंसे पृथक् करता है। आप विवेकी बनें, विवेक करना सीखें। यही मानवधर्म है। यही आपका परम धर्म है। अपनी भूलोंको, अपनी निर्बलताओंका निरीक्षण करना सीखें। पुनः पुनः वह भूल न हो, इसका ध्यान रखना सीखें। यही मानवधर्म है। प्रत्येक व्यसनसे दूर रहें। शराब, ताड़ी, तमाखू, सिग्रेट, बीड़ी इत्यादिका सेवन व्यसन कहा जाता है। ये दुर्व्यसन तो पशुओंमें भी नहीं हैं। मनुष्यको ये शोभा कैसे दे सकते हैं? आप मार्गमें चलते चलते धूम्रपानसे लोगोंको उत्पीड़ित करते हैं, इसे धर्म कैसे माना जाय? यह तो सनातनधर्म नहीं है। मैं पहले गिना आया हूँ उनमेंसे एक भी दुर्गुण सनातनधर्म नहीं है। जुआ खेलनेसे बचें। सट्टाबाजीसे दूर रहें। यही सनातनधर्म है। बड़ी कठिनता मेरे लिये है कि आप कहते हैं कि आप जिस आदेश और उपदेशका पालन कर सकें, उसका ही मैं आपको उपदेश दूँ। परन्तु पालनीय आदेशका भी आप पालन न करें, अनुसरण न करें तो भी लोग मुझे ही दोषी मानेंगे। आप भी तो यही कहेंगे कि पालन करनेके लिये किसी भी कार्यका निर्देश स्वामी नहीं कर गये हैं। मैं आपसे विनयपूर्वक कहता हूँ कि

आपके कल्याणका मार्ग ही यह है जिसका मै उपदेश कर रहा हू । आप यदि इसे अपने आचरणमें लानेका प्रयत्न करेंगे तो निस्सन्देह जीवन मात्रमें बहुत आगे बढेंगे । आप तब मनुष्यताको सुशोभित करेंगे । आप अपनी मातृभूमि भारतको सुशोभित और प्रतिष्ठित बनावेंगे। आप साहसके साथ तब अपनी भारतीयताको प्रख्यात कर सकेंगे । आपने मन्दिरोंके लिये अत्यन्त विरोध उत्पन्न किया है। इन मन्दिरोंको आप समाप्त करे । आप अपने घरके किसी कोनेमे अपने इष्टदेवको मन्दिर बनाना सीखें । आपको जो भी देव इष्ट और प्रिय हो, जो भी व्यक्ति प्रिय और श्रद्धेय हो उसे अपने गृह-मन्दिरमें प्रतिष्ठित करके पूजना सीखें । यही सनातन-धर्म है । भगवान्की पूजासे मै आपको रोकता नहीं हू । परन्तु आप बिना परिश्रमके ही कल्याण प्राप्त करनेके लिये मन्दिरोंमें जा जा कर "बाप जी भलुं करजो" कहकर चले जाय, इस पद्धतिको मैं रोकना चाहता हू । आप मूर्तिपूजा करना सीखें । उस मूर्तिके सामने अपने हृदयको सन्तृप्त करना सीखें । आप अपनी इष्टमूर्तिको आप स्वय स्नान करावें, उसका पूजन करें, आरती उतारें, भोग धरावे एव उसे अपने पुण्य-पापका साक्षी मानकर उसके सामने अश्रुधारा बहावे । ये सब क्रियाएँ आपको मानवताको, उच्चस्थितिको प्राप्त करायेगी। आपमें रही हुई निर्बलताओंको ये क्रियाएँ दूर करेगी । आप निरर्थक कार्य करें और उसीको मानवधर्म मान लें तो उस भूलका परिणाम तो आपको ही भोगना पडेगा ।

एक वस्तु समझाकर मैं समाप्त करूँगा । आज आप गीताकी ओर आकृष्ट हुए हैं । गीतामेंसे आपको कुछ मिला नहीं है, मिलता भी नहीं है, मिल सकता भी नहीं है, मिलेगा भी नहीं । गीताके अच्छे प्रामाणिक उपदेशक भी आपको नहीं मिलेंगे । जो स्वयं राग-द्वेपको पर न हो गया हो तो वह गीताका उपदेश अन्योंको क्या देगा ? गीतामें तो आपकी मूर्तिपूजा नहीं है । आपके तीर्थ नहीं हैं । गङ्गास्नान भी वहाँ नहीं है । ज्ञानमार्ग विरक्तमार्ग हैं । अतः वह आपकी समझमें ही नहीं आवेगी । अन्य कर्मयोगके अध्याय भी आपके लिये निरर्थक ही हैं । क्योंकि आप

कभी निस्स्वार्थ और निरन्तर पवित्र कर्म कर नहीं सकते। आपकी प्रत्येक क्रियामें फलाकाङ्क्षा और आसक्ति रही हुई है। जिसका आचरण न किया जा सके, उधर जानेका प्रयोजन ही क्या है? गीताका भक्तिमार्गमें भी आपसे नहीं जाया जा सकेगा। अतः गीताको तो आप रहने दें। वह भी कमाने-खाने और लोगोंको बहकानेका ग्रन्थ बन गया है। आप यदि सच्चा मार्ग ग्रहण करना चाहें तो तुलसीकृत रामायणको अपने घरमें प्रतिष्ठित करें। उसकी एक एक पङ्क्ति आपके हृदयको हिलावेगी। एक-एक पङ्क्तिमेंसे आपके प्रतिदिनके जीवनव्यवहारकी दिशाका सूचना मिलेगी। आपको भक्ति मिलेगी, ज्ञान मिलेगा। गृहस्थधर्मके सत्यस्वरूपका दर्शन भी आपको वहीं ही होगा। हिन्दूधर्मको जीवित रखनेके लिये श्रेय गीताको नहीं, प्रत्युत तुलसीकृत रामचरितमानसको मिला है और मिल रहा है। उस पवित्र ग्रन्थको आप अपने घरमें स्थान दें। मैं आपको पुनः-पुनः इसके लिये आग्रह करता हूँ। परन्तु उसमें जो लिखा है उसे आप करें। केवल पढ़नेके स्वादमें न पड़ जायँ। अन्यथा वह भी आपका श्रम निरर्थक जायगा। अब मैं समाप्त करता हूँ। मेरे इस भाषणसे किसीको कुछ बुरा लगा हो, मुझे ऐसी आशा नहीं है। तथापि यदि किसीके हृदयको कुछ कष्ट हुआ हो तो क्षमा करेंगे। ॐ *

---

* ता० ३-९-१९५० ई० को दारेस्सलाममें दिया गया प्रवचन।

Bapuji's Birthday

Who can say on what unauspicious day the mankind touched the earth ? We have a heart—breaking history *full of misery, troubles* weeping and crying from the very beginning in the pages of books, in the particles of the human blood in redness of the earth, in the reflection of its inner distress in water, in hart-burning flames of

human anxiety in fire, in unbearable toxsing and linching of human heart in the reverberation of air and inanity of the troubled mind in the sky. Many great men appeared on the stage of the earth before humanity, to give consolation, to wipe its tears from the weeping eyes and to calm its heart. Buddha, Christ and Mohamed took their turm one by one in the service of humanity Buddha having abondaned his happiness, christ having suffered crucification of his body and Mohammed having wandered from village to village, forest to forest and mountain to mountain they had all done their best to serve humanity, and at last left this earth to convey human calamities to the throne of the Almighty, but the woeful days remain as ever before

There was necessity of an advent of a great personage again in this world. The greatest and noblest soul of mankind descended to the earth. Having seen the conditions of human beings, he wept loudly. He was astonished to see the conditions of the sons of God. He has learnings, wealth and happy surroudings. He renownced all in all He rested his body on the earth, wrapped it with a piece of khadi and kept it alive with some fruit He took a vow to live a life of utter poverty. He hated his comforts He was himself an incarnation of troubles and poverty. He always defied the enemies of mankind He believed in unvisible and endless power He was unable to bear injustice and cruelity created by man on man There was an ocean with rising waves of kindness in his heart He always wished to see unity in disunity. He knew no difference between man and man He did not believe in

colour or caste as the cause of supperiority or inferiority. He regarded ever one as himself. He was an unparalleled lover of human beings He always stood alone and defanceless between arrows and unsheathed swords, with his open head He stood with his open breast before guns and cannons He practised hard austerities to make the mankind a new one He gave birth to a new humanity. He brought it up He sprinkled it with the blood of his pious chest like a mother. Having entrusted it to us he disappeared from us for ever.

He was none else but Bapuji Today is birthday of that Mahapurusha—Mahatma Gandhiji (October 2 or the twelfth day of Bhadarava Vad according to the Hindu calendar) To day is to prove your gratefulness owards that Bapuji, to generate bright humanity in yourselves, to repeat the three lessons of Truth, Nonviolence and Universal love without any difference of colour, caste and creed, written by him, with his blood for your sake This will be put to test today

It will be remembered that Bapuji is ever alive with his brilliant and precious teachings (Kanya Dialy Mail)

मोम्बासामें संस्कृतिका सम्मान

प्रथमसे ही दी गयी सूचनाके अनुसार मोम्बासामें ता० १४-११-१९५० ई० मङ्गलवारको सायङ्काल ५॥ बजे यहाके हिन्दु युनियनकी धर्मशालाके मैदानमें स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी-जो कि इस देशके कितने ही प्रवास करके किसी कारणविशेषसे स्वदेश जा रहे हैं-का विदाई सम्मान करनेके लिये इन्डियन कल्चरल इन्स्टीट्युट-भारतीय-संस्कृति-भवनकी ओरसे एक भव्य विदाई-समारम्भकी योजना हुई थी। जिसमें हजारसे भी अधिक भाई बहिनोंकी उपस्थिति थी।

स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी

स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी इस देशको देखने तथा यहाके भारतीयोंकी परिस्थितिका अभ्यास करनेके लिये थोडे समयसे इस देशमें आये हैं। इन्होंने मोम्बासा, नेरोबी, टागा, दारेस्सलाम, जजीबार, जिंजा आदि शहरोंमें पधारकर, सर्वत्र प्रसङ्गोचित प्रवचन करके संस्कृति तथा भारतीय प्रजाके आजके धर्मपर सुन्दर प्रकाश डाला था। स्वामीजी संस्कृतभाषाके महान् विद्वान् हैं। वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन इत्यादि महान् और गहन ग्रन्थोंका बहुत गम्भीर अध्ययन करनेके कारण कठिन विषयोंको भी नितान्त सरल, सुन्दर तथा प्रभावशाली शैलीमें उपस्थित करके यहाकी जनताको उन विषयोंमें रसिक बनानेका इन्होंने यहाके अपने प्रवचनों द्वारा सुन्दर प्रयास किया है।

स्वामीजीने राष्ट्रपिता महात्मा गाधीजीके जीवन और गाधीजीके सिद्धान्तोंपर संस्कृतभाषामें एक सुन्दर महाकाव्य लिखा है। "भारतपारिजातम्" नामक गाधीजीके जीवनका महाकाव्य अधूरा होनेसे, गाधीजीके अवसानसमयपर्यन्तके अवशिष्ट भागोंको पूरा करनेका कार्य यहाके निवासकालमें एकान्तवास करके किया है। और जैसा कि सुना है अब इस सम्पूर्ण महाकाव्यको प्रसिद्ध करनेका निश्चय हुआ है। उसे छपानेके लिये उन्हें इस समय शीघ्र ही भारत लौट जानेकी आवश्यकता है। अतः अभी तो युरोप और अमेरिकाके प्रवासके कार्यक्रमको स्वामीजीने स्थगित किया है। कल शुक्रवारको वे यहासे ट्रेनमें नेरोबी जानेके लिये प्रस्थान करेंगे। यहासे वायुयानके द्वारा रविवारको बम्बईके लिये रवाना हो जायँगे। वहा अपने कार्यको पूरा करके युरोपकी यात्रामें जायंगे। वहासे सेप्टेम्बर या अक्टूबरमें यहा वापस आकर गाधीजीके उस महाकाव्यका प्रकाशन करेंगे ऐसा सुना जा रहा है।

समारम्भ

यह महाविद्वान्, निस्स्वार्थी और निस्पृह राष्ट्रधर्मके संन्यासीको

विदाईका सम्मान देनेके लिये और इस रीतिसे भारतीय संस्कृतिको मान देनेके लिये भारतीय संस्कृति भवनकी ओरसे उपरि निवेदित सूचनाके अनुसार विदाई-समारम्भकी योजना हुई थी। जिसमें सर्वप्रथम श्री० पी० डी० मास्टर साहेब सभापतिपदसे प्रवचन करते हुए, सभामें आये हुए सबका स्वागत करके आजके समारम्भका उद्देश्य संक्षेपमे बताया था। उसके पश्चात् मेसर्स के० मेघजी भाई ऐन्ड कम्पनीवाले श्री कानजी भाईने प्रसङ्गोचित प्रवचन किया था। उन्होंने कहा था कि स्वामीजीने यहाँके अल्प निवासकालमें अपने ज्ञानका जगत्को अलभ्य लाभ दिया है। और अब महात्मा गाधीजीके अमर-स्मारकसमान उनके जीवनके महाकाव्यको पूरा करके, उसको प्रसिद्ध करनेकी तैयारीके लिये वह भारत जा रहे हैं। हम उनकी यात्राकी सफलता चाहते हैं। उसके पश्चात् यहाँके हिन्दु यूनियनके प्रेसिडेन्ट श्री चुनी भाई, एल० पटेलने भी प्रसंगोचित दो शब्द बोलकर स्वामीजीकी विद्वत्ताके सम्बन्धमें प्रवचन किया था। आपने अपने प्रवचनमें कहा था कि "इस देशमें आकर कुछ भी आर्थिक फंडकी माग किये बिना ही कुछ भी संग्रह किये बिना, अपना मिशन पूरा करके, वापस जानेवाला यदि कोई साधु-संन्यासी इस देशमे आया हो तो स्वामीजी प्रथम हैं। वे देशमें जाकर हमारी हिन्दु जातिकी यहाँकी परिस्थितिकी वास्तविक सूचना सबको दे और वहाँ जो भ्रान्ति फैली हुई है उसे दूर करें मेरा इतना सन्देश स्वामीजी वहाँ पहुँचावें, इस प्रार्थनाके साथ उनकी यात्राकी सफलताकी कामना करता हूँ। उसके पश्चात् आर्यसमाजके प्रधान श्री जोशीजीने भी स्वामीजीकी विद्वत्ताके सम्बन्धमें प्रवचन किया था। उनके पश्चात् श्री ए० जेड्० पटेल प्रसंगोचित प्रवचन करके स्वामीजीके मिशन पर प्रकाश डाला था। उन्होंने कहा था कि राम और कृष्णको अमर बनानेवाले जैसे वाल्मीकि और व्यास थे वैसे ही गाधीके सत्य, अमर और अक्षर स्मारक स्थापित करके, गाधीधर्मके प्रचारकके रूपमें, भावी पीढ़ीमें स्वामीजीका नाम अग्रस्थानमे रहेगा। अतः उनके इस महान्

कार्यमें उनको सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हो, ऐसी हम सबको प्रार्थना करनी चाहिये ।

उसके पश्चात् श्री० पी० डी० मास्टरने उपसहारमें प्रसङ्गोचित संक्षिप्त प्रवचन करके स्वामीजीके महान् पवित्र मिशनका उल्लेख करके यह इच्छा प्रदर्शितकी थी कि गाधीव्यासका यह कार्य सम्पूर्ण सफल बने । इसके पश्चात् स्वामीजीको आजके प्रसङ्गके स्मरणार्थ महात्मा गाधीजीका एक छोटा सा फोटो फ्रेममें मढ़ाकर, उन्होंने भेंट दी थी । यह फोटो उस समय बाटा गया था जब महात्मा गाधीजीके पवित्र भस्मको जिजामें नाइल नदीमें विसर्जन किया गया था ।

स्वामीजीका प्रत्युत्तर

उसके पश्चात् स्वामीजीने प्रत्युत्तरमे सबका हार्दिक आभार मानकर, वह स्वयं इस देशमें क्यों आये थे इसका उल्लेख किया । यहाँपर क्या देखा और क्या अनुभव किया इस सम्बन्धमें वर्तमान दिनमें न कहकर भविष्यमें कहनेकी सूचना दी थी । तथा अभी क्यों भारत वापस जा रहे हैं उसका उल्लेख करके गाधीधर्मके तीन मुख्य सिद्धातों (सत्य, प्रेम और अहिंसा) का विवरण किया था । इन सिद्धातोंको बने वहाँतक आचारमें लानेके लिये सबसे अपीलकी थी । संन्यासीधर्मपर भी प्रकाश डाला था । इस देशमें भारतियोंकी तथा इस देशके प्रति उनका क्या कर्तव्य होगा इसका उल्लेख करके सबके कल्याणकी इच्छा व्यक्तकी थी ।*

इति शम्

---

* गाधीधर्मके सिद्धान्त और गाधीजीके जीवनका अमर-अक्षर-स्मारक रूप संस्कृत महाकाव्यके रचयिता स्वामीभगवदाचार्यजीके मनमें भारतीय संस्कृतिभवनकी ओरसे ता० १४-११-१९५० के दिन योजित विदायसमारम्भ । (केन्या डेली मेल मोम्बासामेंसे) । ता० १६-११-५० ।